विषय *संख्या–पृष्ठ*
अच्छा तो कर नहीं सकता १–११
उत्साह २–३१
कलियुगमें श्रीकृष्णनाम साधना १–१२, २–४०, ३–६६, ४–८६, ६–१३२, ७–१६२, ८–१८२
प्रतिकूल मतवाद २–२७
श्रीनवद्वीपष्टकम् १–१
बद्ध, तटस्थ और मुक्त १–३
लौल्य १–५
व्यासपूजा १–९
विदेश प्रचार प्रसंग १–२१, ४–९२, ५–११०
हार्दिक अभिनन्दन १–२३
वैष्णव व्रत तालिका १–२४, २–४८, ३–७०, ४–९६, ५–१२०, ७–१६८, ९–२०३
श्रीनवद्वीपधाम परिक्रमा और गौर जन्मोत्सव १–१७
श्रीदशावतार स्तोत्रम् २–२५
श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एवं संन्यास २–३४, ३–५९, ४–८१,
गीताकी वाणी २–४४, ४–८९, ६–१४०, ७–१५४ ९–२०९, १०–२२७, ११–२५१, १२–२७७
Summer Tour २–४८
श्रीसुभद्रा स्तोत्रम् ३–४९
पाञ्चरात्रिक अधिकार ३–५१
निश्चय ३–५६, ४–७८
श्रीहरिनाम ३–७१
ग्रन्थ समीक्षा ३–७२
चातुर्मास्य व्रत ३–७३
गुरुदास ३–७४
श्रीश्रीजगमोहनाष्टकम् ५–९७
श्रीगुरुका स्वरूप ५–९९
धैर्य ५–१०५
लालु और कालु ५–११९
श्रीमदनगोपालाष्टकम् ६–१२१
जगद्गुरु श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीका आविर्भाव तिथि ६–१२३
तत्कर्म प्रवर्तन ६–१२७
अम्बरीष और दुर्वाषा ६–१३५
प्रचार प्रसंग ६–१४२
वैष्णव व्रत ६–१४४
श्रीशिक्षाष्टकम् ७–१४५
गुरुतत्त्वके सम्बन्धमें प्रश्न ७–१४७
तत्तत्कर्म प्रवर्तन ७–१५०
भीष्म युधिष्ठिर संवाद ७–१५८
श्रीहरिनाम चिन्तामणि ७–१६६
श्रीव्रजमण्डल परिक्रमा ७–१६७
निषिद्धाचार ८–१७१
श्रीकार्तिक व्रत महात्म्यम् ८–१६९
संगत्याग ८–१७३, ९–१९९
शक्तिपूजा (दुर्गापूजाका) महत्व ८–१७७
मनुष्यका कर्तव्य ८–१८५
प्रचार प्रसंग ८–१८७
वैष्णव व्रत तालिका ८–१९२
श्रीश्रीरामलीलासार ९–१९३
कर्मवीरकी फूटी कौड़ीया ९–१९६
पाञ्चरात्रिक गुरुपरम्परा और भागवत परम्परा ९–२०४
श्रीव्रजमण्डल परिक्रमा९८ ९–२१५
Winter Tour 1998-99 ९–२१९
श्रीचैतन्याष्टकम् १०–२१७
हरिनाम महामन्त्र १०–२१९
साधु–वृत्ति १०–२२२
ऋत्विक और श्रीगुरुतत्त्व १०–२३०
श्रीभक्तिवेदान्त वामन गो. महाराजका आविर्भाव दिवस १०–२३६
दूध ओर चूनाका घोल १०–२३८
वैष्णव व्रत तालिका १०–२४०
श्रीकुञ्जविहार्य्यष्टकम् ११–२४१
सगुण उपासना ११–२४३

साधु वृत्ति ११-२४५
कलियुगमें श्रीकृष्ण नाम जप साधना ११-२४८
नमक हराम और नमक हलाल ११-२५५
तत्त्व परिचय ११-२५७
त्रियुगधर्म और कृष्णनामका कीर्तन ११-२५८
श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी ११-२६०
प्रचार प्रसंग ११-२६२
श्रीशचीसून्वष्टकम् १२-२६३
पिता, आचार्य और गुरु साधुवृत्ति १२-२६७
साधुवृत्ति १२-२६९
कलियुगमें श्रीकृष्ण १२-२७२
पूर्व दिशा सूर्यकी जननी नहीं है १२-२८०
क्षमा करें मैं नास्तिक हूँ १२-२८१
त्रियुग-धर्म और कृष्ण-नाम कीर्तन १२-२८६
वैष्णव व्रत तालिका १२-२८८

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४२ } श्रीगौराब्द ५१२
विक्रम संवत् २०५५–५६ चैत्र मास, सन् १९९८, १३ मार्च–१६ अप्रैल { संख्या १

श्रीनवद्वीपाष्टकम्

(श्रीरूप गोस्वामी विरचित)

श्रीगौडदेशे सुरदीर्घिकायास्तीरेऽतिरम्ये इह पुण्यमय्याः।
लसन्तमानन्दभरेण नित्यं, तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।१।।

श्रीगौड़देशमें पुण्यतोया भगवती–भागीरथीके सुरम्य तटपर सदा–सर्वदा परमानन्दपूर्वक विराजमान श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य–निरन्तर स्मरण करता हूँ।।१।।

यस्मै परव्योम वदन्ति केचित्, केचिच्च गोलोक इतीरयन्ति।
वदन्ति वृन्दावनमेव तजज्ञास्तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।२।।

जिनको कोई–कोई परव्योम–वैकुण्ठ, कोई–कोई गोलोक एवं तत्त्वज्ञजन श्रीवृन्दावनके रूपमें जानते हैं, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।२।।

यः सर्व–दिक्षु स्फुरितैः सुशीतै–,
नानाद्रुमैः सूपवनैः परितः।
श्रीगौर–मध्याह्न–विहार–पात्रै–,
तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।३।।

जहाँ चतुर्दिक प्रकाशमान शीतल मन्द एवं सुगन्धित पवन प्रवाहित होता रहता है, जो धाम अपने नाना प्रकारके हरे–भरे पुष्पित वृक्षोंसे सुशोभित रहकर श्रीगौरसुन्दरके मध्याह्न विहारके लिए सुयोग दान करते हैं, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।३।।

श्रीस्वर्णदी यत्र विहार–भूमिः,
सुवर्ण–सोपान–निबद्ध–तीरा।
व्याप्तोर्मिभिर्गौर–वगाह–रूपै–,
तं नवद्वीपमहं स्मरामि।।४।।

जहाँ भगवती–भागीरथी परमानन्दसे उल्लसित होकर अपनी तरंग–मालाओंसे विहार करती हैं, जिनका तटप्रदेश सुवर्ण–सोपानोंसे परिबद्ध है, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।४।।

महात्यनन्तानि गृहाणि यत्र,
स्फुरन्ति हैमानि मनोहराणि।
प्रत्यालयं यं श्रयते सदा श्री–,
तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।५।।

जहाँ अगणित देदीप्यमान सुन्दर–सुन्दर अट्टालिकाएँ विद्यमान हैं, जहाँ श्रीलक्ष्मीदेवी प्रत्येक गृहमें अधिष्ठित है, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।५।।

विद्या–दया क्षान्ति–मखैः समस्तैः,
सद्गिर्गुणैर्यत्र जनाः प्रपन्नाः।
संस्तूयमाना ऋषि–देव–सिद्धै–,
तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।६।।

जहाँके सभी निवासी विद्या, दया, क्षमा, यज्ञ आदि सर्व सद्गुणोंसे विभूषित होते हैं, ऋषि–महर्षि, देवता और सिद्धगण भी जिनकी स्तुति करते हैं, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।६।।

यस्यान्तरे मिश्र–पुरन्दरस्य,
स्वानन्द–गाम्यैकपदं निवासः।
श्रीगौर–जन्मादिक–लीलयाढ्य–,
तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।७।।

जिनके मध्यस्थलमें श्रीश्रीगौरसुन्दरकी जन्म–लीला सम्पन्न होती है और जहाँ एकमात्र स्वानन्दलभ्य श्रीजगन्नाथ मिश्रका भवन विद्यमान है, उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका मैं नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।७।।

गौरो भ्रमन् यत्र हरिः स्वभक्तैः,
सङ्कीर्तन–प्रेम–भरेण सर्वम्।
निमज्जयत्युज्वल–भाव–सिन्धौ,
तं श्रीनवद्वीपमहं स्मरामि।।८।।

जहाँ पर श्रीगौरहरिने भक्त–मण्डलीके साथ भ्रमण करते हुए प्रेममय उच्च संकीर्तनके माध्यमसे सबको उन्नतोज्ज्वल भाव–समुद्रमें निमग्न कर दिया था, मैं उन्हीं श्रीनवद्वीप धामका नित्य निरन्तर स्मरण करता हूँ।।८।।

एतन्नवद्वीप–विचिन्तनाढ्यं,
पद्याष्टकं प्रीतमनाः पठेद् यः।
श्रीमच्छचीनन्दन–पादपद्मे,
सुदुर्लभं प्रेममवाप्नुयात् सः।।९।।

जो लोग श्रीनवद्वीप धामके सुचिन्तापूर्ण इस पुनीत पद्याष्टकका प्रीतिपूर्वक पाठ करते हैं, वे श्रीशचीनन्दनके चरण–कमलोंमें सुदुर्लभ प्रेमरत्न लाभ करते हैं।।९।।

✪✪✪

बद्ध, तटस्थ और मुक्त

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'

जीवकी तीन अवस्थाएँ हैं—बद्ध, तटस्थ और मुक्त। भगवानमें ये तीनों अवस्थाएँ अन्वय और व्यतिरेक रूपमें अवस्थित हैं। बद्धावस्थाकी सत्ता भी भगवानसे ही उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न हो तो बद्धावस्थाकी स्थिति मिथ्या हो पड़ती है। मायावादी प्राकृत बद्धावस्थाको मिथ्या मानते हैं, परन्तु भगवान् श्रीचैतन्यदेवने इसे अनित्य नहीं—बल्कि नश्वर बतलाया है। जीव-सत्ताके ऊपर बद्धत्वका आरोप करना ही विवर्तवादका उदाहरण है अर्थात् स्थूल देहमें आत्मबुद्धि करना ही विवर्त्तवाद है। दूसरे शब्दोंमें तत्त्ववस्तुके ज्ञानाभावको विवर्त्त कहते हैं।

भगवान कभी बद्ध, तटस्थ अथवा मुक्त नहीं होते। किन्तु ये तीनों भाव भगवानसे निकले हैं। भगवानकी बहिरंगा शक्ति या मायाशक्ति परिणत होकर बद्ध जगत्की सृष्टि करती है, उनकी अन्तरंगा शक्ति परिणत होकर जड़ अर्थात् मायासे परे गोलोक (वैकुण्ठ जगत) का प्रकाश करती हैं और अन्तरंगा एवं बहिरंगा शक्तियोंके बीचकी तटस्था शक्ति परिणत होकर असंख्य अणुचेतन जीव प्रकाश करती है।

तटस्था शक्ति परिणत अणुचैतन्य जीव

अणु-चैतन्य जीव तटस्था शक्तिका परिणाम होनेके कारण गोलोकमें अवस्थित होनेपर अन्तरंगा शक्तिके आश्रित होता है। परन्तु जड़-जगतमें वह बहिरंगा या माया शक्तिके अधीन होता है। अणु-चैतन्य जीव जड़ और चेतन दोनों ही जगतोंमें निवास करनेके योग्य होता है। इसलिए वह तटस्था शक्तिका परिणाम कहा गया है। जिस प्रकार जल और भूमिके बीचमें स्थित गणितकी रेखाको तट कहते हैं, उसी प्रकार भगवानकी अन्तरंगा और बहिरंगा शक्तियोंके अनिर्वचनीय मध्यमें तटस्था शक्तिकी स्थिति है।

भगवान शक्तिमान हैं

भगवान विभु चैतन्य हैं। वे तटस्था शक्तिसे उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रपंचमें अवतीर्ण होनेके समयमें भी वे तटस्था शक्ति-परिणत जीवोंकी तरह बद्धभाव प्राप्त नहीं होते, क्योंकि शक्ति शक्तिमानके ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती है। श्रीजीव गोस्वामीने श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रचारित वेदान्तके अचिन्त्य-द्वैताद्वैत मतका निरूपण करते समय परतत्त्वको चार प्रकारके विशेषों द्वारा निर्देश किया है—(१) स्वरूप, (२) तद्रुप-वैभव, (३) जीव और (४) प्रधान। भगवत्ता ही स्वरूप-विग्रह है। गोलोक, वैकुण्ठ, पार्षदवृन्द और वहाँकी सब वस्तुएँ तद्रुप-वैभव-विग्रह हैं। जीव तटस्थ विग्रह हैं और अविद्या या माया ही प्रधान है। प्रधानका परिणाम बद्धभाव है, जीवका परिणाम तटस्थ भाव है, तद्रुप-वैभवका परिणाम मुक्तधाम वैकुण्ठ या गोलोक है।

भगवान अन्वयभावसे तद्रुप-वैभवके रूपमें लक्षित होते हैं, व्यतिरेक भावसे जड़ जगतकी सृष्टि करते हैं तथा तट-प्रदेशमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों भावोंका युगपत् अस्तित्व प्रकाशकर जीवकी अस्मिता (अहंभाव) का विधान करते हैं।

तटस्थ जीवोंकी बद्धावस्था क्यों?

जीव तटस्थ-धर्मके कारण बद्ध या मुक्त कोई भी अवस्था ग्रहण करनेके योग्य होता है। प्रकृतिके अधीन होनेपर वह प्रकृति द्वारा निर्मित स्थूल और लिंग शरीरोंमें आत्मबुद्धि कर बद्ध होता है। जीव स्वरूपतः अपनी विशुद्धावस्थामें कृष्णका दास है, परन्तु कृष्ण-स्मृति खोकर जड़-जगत्में आकर अपनेमें कर्त्तापनका आरोपकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकता फिरता है। असत् सम्प्रदायके अनुसार जड़ोपाधि (अविद्या) का दूर होना ही जीवका

मुक्त–स्वरूप है। ये मायावादीजन वैकुण्ठ या गोलोककी नित्यता स्वीकार नहीं करते। इसका मुख्य कारण उनकी बद्धावस्था ही है। ये लोग निर्विशेष अवस्थाको ही तटस्थावस्था कहते हैं तथा इसी अवस्थाको ये चरमावस्था मानते हैं। वस्तुतः निर्विशेषवादियोंका यह विचार तटस्थधर्मका अस्फुट विकाश मात्र है।

मायावादी भ्रान्त क्यों?

वेदान्तमतकी सविशेष व्याख्यामें स्पष्टरूपमें तटस्थधर्मका उल्लेख है। मायावादी निर्विशेषमतका अवलम्बन कर भगवानका नित्य रूप और उनके अनन्त ऐश्वर्यको प्रकाशित करनेवाली शक्तिको अस्वीकार करनेके कारण तद्रुप वैभवके नित्य अधिष्ठानकी धारणा करनेमें असमर्थ होते हैं।

मायावादी शक्तिमात्रको प्राकृत, हेय और काल द्वारा क्षुब्ध मानते हैं। अतः वे आत्मवंचक हैं। नित्यबद्ध मायावादी कभी भी नित्य मुक्त नहीं हो सकते हैं। इसलिए ये विवर्तवादका आश्रयकर अपनेको झूठ–मूठ ही जीवन–मुक्त कल्पना कर लेते हैं। यही नहीं, वे इस मिथ्या कल्पनाको सत्य मानकर अपने मतवादकी अकर्मण्यता भी प्रकाश करते हैं।

श्रीपाद रामानुजाचार्यने निर्विशेषमतका प्रबल युक्तियोंसे खण्डन किया है। इनमें दो प्रधान युक्तियाँ हैं। पहली युक्तिके अनुसार उनका कहना है कि निर्विशेषवादियोंके कल्पित मायावादके मूलमें तनिक भी सत्यता नहीं है। यदि मायावादी मिथ्याके हाथोंसे मुक्त हो चुके हों और यदि उनका विश्वास सत्य हो, तो उपदेशक और उपदेश–ग्रहीतामें भेद ही नहीं रहा। ऐसी अवस्थामें उपदेशकी आवश्यकता ही क्या रही? और कौन किसको उपदेश देगा? दूसरी बात यह है कि निर्विशेषवादी जबतक स्वयं अपने प्रचारित सत्य तक न पहुँचे हों, तबतक उन्हें कतिपय निरी कल्पित बातोंके (मायावाद–सिद्धान्तके) उपदेश द्वारा सत्य निरूपणका अधिकार नहीं है। बद्ध और तटस्थ अवस्थामें स्थित जीव मुक्त राज्यके स्वरूपका परिचय देनेमें समर्थ नहीं हो सकता है। यदि ऐसा करनेका दुःसाहस करे तो उसके द्वारा दिया गया मुक्त राज्यका परिचय सर्वथा भूल होता है अर्थात् वह निर्विशेषवाद ग्रहण कर अज्ञानवश तटस्थावस्थाको ही मुक्तावस्था मान बैठता है। तटस्थ अवस्थामें निर्विशेष मत अवस्थित होता है। मायावादी तटस्थ अवस्थाको पारकर अप्राकृत वैकुण्ठ जगतमें प्रवेश नहीं कर सकते। ऐसी दशामें उनका अहंकार मायाशक्ति द्वारा पुनः आच्छादित हो पड़ता है।

अचिन्त्यद्वैताद्वैतवाद और केवलाद्वैतवादमें भेद

आजकल मायावादी सम्प्रदाय भी श्रीमन्महाप्रभुकी विमल शिक्षाओंको अपनी चीज कहनेंमें हिचकिचाते नहीं हैं। वास्तवमें मायावादियोंका केवलाद्वैत और श्रीमन्महाप्रभुका अचिन्त्यद्वैताद्वैतवााद एक नहीं है। अचिन्त्यद्वैताद्वैतवादमें जीवोंकी बद्ध, तटस्थ और मुक्त—ये तीनों अवस्थाएँ सत्य मानी गयी हैं। परन्तु केवलाद्वैतरूप मायावादमें बद्ध और तटस्थ अवस्थाओंकी नित्य सत्यता अस्वीकृत है। निर्विशेषवादी मुक्तावस्थामें अप्राकृत सविशेषवादकी बातें नहीं जानते, अथवा जानकर भी सत्यकी हत्या करनेका प्रयत्न करते हैं।

अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे चित् और जड़ दोनों जगतोंकी स्थिति

साधुजन कहते हैं कि भगवद् धाममें अप्राकृत सेवामें नियुक्त होनेका नाम ही मुक्ति है। परन्तु मायावादीजन तटस्थ लक्षणकी प्राप्तिको ही मुक्ति मानते हैं। मायावादियोंकी कल्पित निर्विशेष विधियोंको अचिन्त्य और अनन्त शक्तिमान भगवान स्वीकार नहीं करते। वे अविचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे समस्त प्रकारके ऐश्वर्योंसे पूर्ण नित्य विराजमान अप्राकृत राज्यको अक्षुण्ण रखते हुए भी माया–शक्ति द्वारा जीवोंके बद्धसंसारको प्रकट करते हैं। जिस प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—ये बद्ध जीवोंकी तीन अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार वैकुण्ठावस्था, तटस्थावस्था और बद्धावस्था—इन तीन अवस्थाओंकी प्राप्ति भी नित्य धर्म है।

✪✪✪

लौल्य

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

लौल्य शब्दका अर्थ है—चंचलता, लोभ अथवा वासना। चंचलता दो प्रकारकी होती है (१) चित्तकी चंचलता और (२) बुद्धिकी चंचलता। इन्द्रियानुगत मनोवृत्तिका नाम चित्त है। अन्तःकरण अर्थात् मन जिस विषयका चिंतन करता है, उसी विषयके संसर्गसे चित्तमें राग अथवा द्वेषकी उत्पत्ति होती है। चित्तकी चंचलता दो प्रकारकी होती है—(१) रागके अधीन चित्तकी चंचलता और (२) द्वेषके अधीन चित्तकी चंचलता। गीतामें कहते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधियते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।

(२/६७)

जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है।

भक्ति द्वारा चित्तकी चंचलता दूर होना

फिर कहते हैं—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेतौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।

(गीता ३/३४)

इन्द्रिय इन्द्रियोंके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए हैं। साधकको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिए। क्योंकि वे दोनों ही उसके कल्याण मार्गमें विघ्न डालनेवाले महान शत्रु हैं। चित्तकी चंचलतारूप लौल्यको नियमित करनेके लिए महादेवी हरिभक्तिका आश्रय लेना चाहिए।

विषय-समूह चित्तकी चंचलताके हेतु हैं तथा चित्तकी चंचलता भक्तिके साधनमें प्रधान विघ्न है। इसलिए साधकको चाहिए कि वह समस्त विषयोंको भगवत्सम्बन्धी करके विषयोंके प्रति होनेवाले रागको भगवत् रागके रूपमें बदल दें। ऐसा होनेसे चित्त भगवत् रागका आश्रयकर भगवद्भक्तिमें स्थिर हो जाता है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा—इन पाँचोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—इनको कर्मेन्द्रिय कहते हैं। इन दशों इन्द्रियोंमें भगवद्भाव युक्त करनेसे चित्त भगवद्भक्तिमें स्थिर हो जाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—इनको इन्द्रियार्थ या इन्द्रियोंका विषय कहा जाता है। इन विषयोंमें जो अंश भगवद्भक्तिके प्रतिकूल हों, उनके प्रति द्वेषको और जो अंश अनुकूल हों, उनके प्रति रागको (अनुरागको) नियुक्त करना चाहिए। किन्तु बात यह है कि जबतक बुद्धिकी चंचलता दूर नहीं होती, तबतक चित्तकी चंचलता कैसे दूर की जा सकती है? अतएव सबसे पहले आवश्यकता इस बातकी है कि बुद्धिकी चंचलता दूर की जाय। बुद्धि स्थिर और शुद्ध होनेपर वह स्वयं राग-द्वेषको नियमित कर लेगी।

बुद्धि

बुद्धि मनकी उस वृत्तिको कहते हैं, जो सत्-असत्की विवेचना करती है। बुद्धि दो प्रकारकी होती है। व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि और बहुशाखाओंवाली (अनिश्यचात्मिका) बुद्धि। निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है। किन्तु अनिश्चयात्मिका बुद्धि बहुत भेदोंवाली और अनन्त प्रकारकी होती है। गीतामें इसे इस प्रकार समझाया गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।

(गीता २/४१)

बहुत शाखाओंवाली बुद्धिसे युक्त सकाम व्यक्ति नाना प्रकारके भोगोंकी कामनाएँ करता है। वह ऐहिक और पारत्रिक इन्द्रियसुखोंकी कल्पनामें इतना मस्त हो जाता है कि उस समय वह अप्राकृत

जगतकी सत्ता तकको अस्वीकार कर देता है। इसलिए—

भोगैश्वर्य–प्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।

(गीता २/४४)

उनकी बुद्धि न तो आत्म–तत्त्वमें स्थिर होती है और न नियमित ही होती है। ऐसी बुद्धि समाधिके लिए अनुपयुक्त होती है। जिनकी बुद्धि परमात्मामें अटल स्थित हो जाती है वे ही 'स्थितप्रज्ञ' और 'स्थितधी' कहे जाते हैं।

'स्थितप्रज्ञ और 'स्थितधी' पुरुषका लक्षण

गीतामें 'स्थितप्रज्ञ' और 'स्थितधी' पुरुषका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

(गीता २/५५–५६)

हे अर्जुन! जिस समय वह पुरुष आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट होकर मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है, उस समय वह 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है और दुःखोंकी प्राप्तिसे जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हैं, ऐसे व्यक्तिको 'स्थितधी' मुनि कहा जाता है।

इस 'उपदेशामृत' के प्रथम श्लोकमें जिन छः वेगोंको दमन करनेका उपदेश दिया गया है, उसकी प्रतिध्वनि हम गीताके उपरोक्त दो श्लोकोंमें पाते हैं।

अब यह जान लेना आवश्यक है कि बुद्धि दो प्रकारकी होती है—एक प्राकृत और दूसरी अप्राकृत। जो वृत्ति मनके अधीन रहकर सद्–असद्का विवेचन करती है, उसे प्राकृत बुद्धि कहते हैं तथा जो वृत्ति आत्माके अनुगत होकर सद्–असद्का विवेचन करती है, उसे अप्राकृत बुद्धि कहते हैं। कोई–कोई इन पृथक्–पृथक् दोनों बुद्धियोंको एक मानते हैं। किन्तु ऐसा समझना भूल है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यः परतस्तु सः।।

(गीता ३/४२)

जड़ विषयसे अर्थात् शरीरसे इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। इन इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, क्योंकि मनकी प्रेरणासे ही इन्द्रियाँ कर्मोंमें प्रवृत्त होती हैं। मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है। बुद्धि आत्मगत वृत्ति है। अतएव वह मनकी नियन्ता अर्थात् प्रभु है। वही बुद्धि किसी जड़ीय अहंकारके अधीन होनेपर विकृत होकर प्राकृतत्व स्वीकार कर लेती है। जीवके कृष्णदासत्वरूप शुद्ध अहंकारके अधीन रहनेपर बुद्धि सर्वदा स्वाभाविक रूपमें शुद्ध रहती है। इसलिए क्षेत्रज्ञ पुरुषको श्रुतिमें 'बोद्धा' कहा गया है। शुद्ध बुद्धि चित्कण जीवकी एक वृत्ति मात्र है। इसलिए जीव बुद्धिसे श्रेष्ठ है।

चिन्मय अहंकार और आत्मगत बुद्धिका पराक्रम

जो जीव अपनेको शुद्ध चित्कण जान लेता है, उस समय—'मैं कृष्णका दास हूँ'—ऐसा चिन्मय अहंकार उसमें स्वाभाविक रूपमें उदित होता है। उस समय बुद्धि जीवके शुद्ध स्वरूपमें अपने शुद्धरूपसे अवस्थित होकर अचित्–वस्तुका तिरस्कार कर चिद्–वस्तुका आदर करती है। तब जीवको कृष्णदास्यके अतिरिक्त कोई भी दूसरी कामना नहीं होती है। वह प्राकृत कामको अत्यन्त तुच्छ मानकर त्याग देता है। ऐसी अवस्थामें जीव 'स्थितप्रज्ञ' और 'स्थितधी' कहलाता है। इस समय चिद्बलका सहारा पाकर बुद्धि स्वयं स्थिर हो जाती है तथा मन और चित्तको नियमित कर अपने अधीन कर लेती है। तब बुद्धिकी आज्ञासे चित्त इन्द्रियोंको नियमित कर उन्हें अपने वशमें कर लेता है तथा इन्द्रियोंके अर्थमें अर्थात् विषयसमूहमें कृष्णदास्यके अनुकूल भावको युक्त कर देता है। भक्ति मार्गमें इसीको 'इन्द्रियनिग्रह" कहते हैं।

इन्द्रिय-निग्रहके उपाय

शुष्क ज्ञान और शुष्क वैराग्यके मार्गोंसे इन्द्रियोंका निग्रह सुन्दर रूपसे नहीं होता। गीतामें कहते हैं—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते।।

(गीता २/५९)

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषोंके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली विषय-वासना निवृत्त नहीं होती। किन्तु विषय-रस (विषय-वासना) से श्रेष्ठ कृष्णदास्यरूप चिद्रस विषय-वासनारूप क्षुद्र रसको सम्पूर्ण रूपसे दूर कर देता है। इसीको यथार्थ इन्द्रिय-निग्रह कहते हैं अर्थात् इन्द्रियोंको चित्तके अधीन करना और चित्तको नियमित कर बुद्धिके अधीन रखना ही इन्द्रिय-निग्रह है। इस प्रक्रियासे बुद्धि और चित्तकी चंचलतारूप लौल्य दूर हो जाता है।

बुद्धिको कर्मयोग, ज्ञानयोग और दान आदिसे हटाकर भक्तियोगमें ही स्थिर करना कर्त्तव्य है

बुद्धि चंचल होनेसे मन स्थिर नहीं हो पाता। वह कभी कर्ममार्गकी ओर दौड़ता है, तो कभी योगमार्ग और ज्ञानमार्गकी ओर। श्रीमद्भागवतमें एकमात्र भगवद्भक्तिको ही बुद्धि स्थिर करनेका उपाय बतलाया गया है—

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान-वैराग्यतश्च यत्।
योगेन दान धर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति।।
न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्।।

(श्रीमद्भा. ११/२०/३२-३४)

कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान, धर्म और दूसरे कल्याण-साधनोंसे जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग, मेरा परमधाम अथवा कोई भी वस्तु प्राप्त होती है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोगके प्रभावसे ही यदि चाहे तो अनायास प्राप्त कर लेता है। मेरे अनन्य प्रेमी एवं धैर्यवान साधु भक्त स्वयं तो कुछ चाहते ही नहीं, यदि मैं उन्हें देना चाहता हूँ और देता भी हूँ, तो भी नहीं लेना चाहते। उन्हें मेरी सेवाका सुख ही स्वाभाविकरूपमें अच्छा लगता है।

इन सब बातोंपर दृष्टि रखकर साधक भक्तको चंचलता रूपी लौल्यको दूर कर बुद्धिको भक्तिमें स्थिर करना चाहिए।

लौल्यका दूसरा अर्थ—लोभ

'लौल्य' शब्दका दूसरा अर्थ है—लोभ। यदि लोभको अन्य विषयोंमें नियुक्त किया जाय, तो वह कृष्णके चरणकमलोंके प्रति कैसे लग सकता है? इसलिए लोभको यत्नपूर्वक श्रीकृष्णके चरणोंके प्रति लगाना ही हमारा परम कर्त्तव्य है। विषय-भोगोंके प्रति लगा हुआ लोभ कर्म-योग अथवा ज्ञान-मार्गकी क्रियाओं द्वारा उतना शुद्ध नहीं हो पाता, जितना वह कृष्णसेवाके द्वारा शुद्ध होता है।

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति।।

(श्रीमद्भा. १/६/३६)

काम और लोभकी चोटसे बार-बार घायल हुआ साधकका चित्त श्रीकृष्णसेवासे जैसी प्रत्यक्ष शान्तिका अनुभव करता है, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि आदि योग-मार्गोंसे वैसी शान्तिका अनुभव नहीं करता। कृष्णसेवा द्वारा चित्त अनायास और अविलम्ब ही स्थिर हो जाता है, क्योंकि बुद्धिका भगवानमें लग जाना ही शम है—

"शमो मन्निष्ठता बुद्धेः"

(श्रीमद्भा. ११/१९/३६)

कृष्णसेवा, वैष्णवसेवा और श्रीभगवन्नामके प्रति लोभ पैदा होनेपर इतर विषयोंके प्रति लोभ नहीं रह सकता। कृष्णके प्रति व्रजवासियोंकी सेवाका भाव देखकर जिस भाग्यवानके हृदयमें उस सेवाके

प्रति लोभ पैदा होता है, वे उस दुर्लभ लोभकी कृपासे रागानुगा भक्तिमें अधिकार प्राप्त करते हैं। जिस परिमाणमें रागात्मिका सेवाके प्रति लोभ होता है, उसी परिमाणमें साधकका इतर लोभ दूर हो जाता है। स्वादिष्ट भोजन, पान, शयन तथा धूम और मदिरापानमें लोभ रहनेसे भक्ति संकुचित हो जाती है। मदिरा–पान और कनक–कामिनीका लोभ भक्तिका नितान्त विरोधी होता है। जिनको शुद्ध भक्तिके प्रति लोभकी इच्छा है, वे उक्त भक्तिविरोधी लोभोंका परित्याग करेंगे। विषय–पापमय हो अथवा वह पुण्यमय हो, इनका लोभ अतिशय मन्द होता है। केवल कृष्ण सम्बन्धी लोभ ही कल्याणका हेतु होता है। सन्त महात्माओंका भगत्कथाके प्रति कैसा लोभ होता है, इसका श्रीमद्भागवतमें सुन्दर चित्रण किया गया है—

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसाज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे।।

हे सूत! पुण्यकीर्त्ति भगवानकी लीला–कथाओंको सुननेसे हमें कभी भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि रसज्ञ श्रोताओंको पद–पद पर भगवानकी लीला–कथाओंमें नये–नये रसका अनुभव होता है। कृष्णके विषयमें इस लोभका नाम आदर है। इसका विस्तृत विवेचन पीछे किया जायेगा।

लौल्यका तीसरा अर्थ—वासना

लौल्यका तीसरा अर्थ है—वासना। वासना दो प्रकारकी होती है—भोग वासना और मोक्ष वासना। इन दोनों वासनाओंका पूर्णरूपसे त्याग किये बिना भक्तिका साधन नहीं होता। श्रीरूपगोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में लिखा है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्।।

(भक्तिरसामृतसिन्धु १/२/१४)

भुक्ति अर्थात् भोगकी कामना और मुक्तिकी स्पृहा—ये दो पिशाचियाँ हैं। ये दोनों पिशाचियाँ साधकके हृदयमें जब तक वास करती हैं, तब तक उसके हृदयमें भक्तिका सुख कैसे उत्पन्न हो सकता है?

भोगकी वासना

भोगकी वासना दो प्रकारकी होती है। एक ऐहिक और दूसरी पारत्रिक। स्त्री–पुत्र, धन–ऐश्वर्य, राज्य, विजय, स्वादिष्ट भोजन, शयन, स्त्री–सम्भोग, सम्मान आदि लौकिक विषयोंके भोगको ऐहिक भोग कहते हैं। स्वर्ग–गमन, वहाँ अमृतपान, देवतुल्य सुखोंके भोग आदिको पारत्रिक भोग कहते हैं। हृदयमें जब तक इन दोनों प्रकारके भोगोंकी कामनाएँ वर्तमान रहती हैं, तब तक साधक निस्वार्थ रूपमें कृष्णका भजन नहीं कर सकता। अतः भोगकी कामनाओंको हृदयसे सम्पूर्णरूपसे उखाड़ फेंकना चाहिए। ऐसा न होनेसे भक्तिके साधनमें विघ्न होता है।

युक्त–वैराग्य

इसमें ध्यान देनेकी बात यह है कि उपरोक्त समस्त विषय–भोग यदि भक्तिके अनुकूल हों, तभी गृहस्थ–व्यक्ति उन्हें निष्पाप रूपमें ग्रहण कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामें इन भोगोंको भोग नहीं कहा जा सकता है, बल्कि उन्हें 'साधकका जीवनोपाय' कहा जा सकता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः।।
कामस्य नेन्द्रिय प्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्व जिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।।

(श्रीमद्भा. १/२/९–१०)

भोग–साधक धर्मसे अर्थकी प्राप्ति होती है। अर्थसे काम अर्थात् भोग–विलासकी प्राप्ति होती है। भोग–विलासका फल इस लोक और स्वर्गमें इन्द्रियोंकी तृप्ति करना है। किन्तु अपवर्गरूप धर्मसे जो अर्थ प्राप्त होता है और उस अर्थसे जिस कामकी प्राप्ति होती है, वे अर्थ और काम तत्त्व–जिज्ञासाके सर्वथा अनुकूल होते हैं, क्योंकि धर्म और अर्थका फल भोग–विलास नहीं प्रत्युत् उसका प्रयोजन कृष्णकी कामनाकी पूर्ति करना है और इन कृष्ण सम्बन्धी कामनाओंका नाम ही—तत्त्व–जिज्ञासा है, जिसे "युक्त वैराग्य" भी कहते हैं।

मोक्षकी वासना

साधकके लिए मोक्षकी वासनाका परित्याग करना भी अत्यन्त अनिवार्य है। मोक्ष पाँच प्रकारका होता है—सालोक्य (समान लोक), सार्ष्टि (समान ऐश्वर्य), सामीप्य (निकट वास करना), सारूप्य (एक-सा रूप) और सायुज्य। भक्तजन सायुज्य मुक्तिको अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य—ये भोग-वासनासे शून्य होनेपर भी वांछनीय नहीं है। जीवात्मा भक्तिके बलसे जड़ विषयोंसे मुक्त होनेके साथ-ही-साथ मुक्ति प्राप्त करता है। मुक्ति—भक्तिका गौण फल है। कृष्ण प्रेमकी प्राप्ति ही साधन भक्तिका मुख्य फल है। यहाँपर सार्वभौम भट्टाचार्यके वचनोंको उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं किया जा सकता—

"सालोक्यादि" चारि यदि हय सेवा-द्वार।
तबु कदाचित् भक्त करे अङ्गीकार।।
"सायुज्य" सुनिते भक्तेर हय घृणा-भय।
नरक वांछये, तबु सायुज्य ना लय।।
ब्रह्मे ईश्वरे सायुज्य दुई त' प्रकार।
ब्रह्म-सायुज्य हइते ईश्वर-सायुज्य धिक्कार।।

(श्रीचैतन्यचरितामृत म. ६/२६७-२६९)

सारांश यह कि भगवानकी इच्छासे साधकोंका जो जड़ीय सम्बन्ध दूर होता है, भक्त उसे अनायास ही प्राप्त कर लेता है। इसलिए मुक्तिके लिये अलग कामनाके द्वारा भक्तिके साधनको दूषित करना उचित नहीं है।

इसलिए बहिर्मुख लौल्यको विशेष सावधानीके साथ परित्याग करना भक्तिके साधकोंका एकान्त कर्तव्य है।

✪✪✪

व्यासपूजा

—ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज

श्रीश्रीव्यासपूजाका नामान्तर ही गुरुपूजा है। व्यासपूजा क्यों की जाती है तथा इसका उद्देश्य क्या है—बहुतोंके हृदयमें ऐसा प्रश्न उठ सकता है। श्रीव्यासजी आश्रयजातीय भगवदवतार थे। उन्होंने बिखरे हुए श्रुति-मन्त्रोंका संग्रह कर विषयोंके अनुसार उन्हें चार भागोंमें विभक्त किया। पुनः वेदों और उपनिषदोंकी वाणियोंको साधारण जनताके उपयोगी बनानेके उद्देश्यसे उन्होंने १८ पुराणोंकी और पंचमवेद 'महाभारत' जैसे विशाल ग्रन्थकी रचना की। पुनः वेद, उपनिषद् तथा पुराणोंके परस्पर विरोधी मतवादोंका खण्डनकर सनातन वैदिक धर्म श्रौत मार्गकी प्रतिष्ठाके लिए ब्रह्मसूत्रकी रचना की। ब्रह्मसूत्रको वेदान्त-दर्शन, शारीरक-सूत्र अथवा उत्तर-मीमांसा भी कहते हैं। इस ब्रह्मसूत्रको और भी बोधगम्य करनेके लिए उन्होंने इसका एक भाष्य भी लिखा है, जिसे 'श्रीमद्भागवत' कहते हैं। श्रीमद्भागवत ही व्यासदेवकी सबसे उत्कृष्ट देन है। यह सम्पूर्ण वेदोंका सार, श्रीब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य और गायत्रीका भाष्य है। इसमें निखिल जीवोंकी निखिल समस्याओंका अतीव सुन्दर रूपसे समाधान किया गया है। इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त भी उन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचनाएँ की है।

इस प्रकार जब कोई आलोचक श्रीव्यासदेवकी इन विशाल रचनाओंकी ओर दृष्टिपात करता है, तो उसे पदे-पदे आश्चर्यचकित होना पड़ता है। इन ग्रन्थोंकी अर्थनीति, समाजनीति, राजनीति तथा धर्मनीतिको अवलोकन कर कौन मुग्ध नहीं होगा? उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें साहित्य, विज्ञान, व्याकरण, ज्योतिष, दर्शन, चिकित्सा, अस्त्रविज्ञान तथा भौतिक-विज्ञान आदि विषयोंका इतना गम्भीरतम और उच्चतम विचार दर्शाया है, जिन्हें विश्वके किसी भी ग्रन्थमें नहीं पाया जाता। सर्वोपरि—संसार क्या है?—इस विषम पहेलीको उन्होंने जिस तरहसे सुलझाया है, उसे देखकर प्रत्येक व्यक्तिका सिर श्रद्धासे अपने-आप ही झुक पड़ता है। व्यासदेवजीने अपने प्रकटकालमें इतने ग्रन्थोंकी रचनाएँ की है

कि एक विद्वान व्यक्ति इन ग्रन्थोंको अपने सारे जीवनमें पढ़कर भी शेष नहीं कर सकता—उन गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्तोंको उपलब्ध करना तो दूर रहा। भगवानकी शक्तिके बिना ऐसा महान कार्य होना असम्भव है। इसलिए व्यासदेव—शक्त्यावेशावतार थे—इसे सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

हम व्यासदेवके चिरकृतज्ञ हैं और रहेंगे। उनके प्रति इस कृतज्ञताको हम श्रीश्रीव्यासपूजा द्वारा प्रकाश करते हैं। इसे गुरुपूजा भी कहा जाता है। किसी भी कालमें रीव्यासदेवके आचार–विचारोंको अपने जीवनमें ढालकर जो आचार्य उन्हें विश्वको शिक्षा देते हैं, उन व्यासानुग आचार्योंकी पूजा ही व्यासपूजा है। यही श्रौत–मार्ग है।

१५ वीं और १६ वीं शताब्दीमें भारतके सभी प्रान्तोंमें ऐसे–ऐसे अनेक संत हो गए हैं, जिन्होंने श्रीव्यासदेवकी वाणियोंका प्रचार साधारण बोलचालकी भिन्न–भिन्न भाषाओंमें किया है। जिनमें उत्तर भारतके संत तुलसीदास, पंजाबके गुरुनानक, महाराष्ट्रके संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम, उड़िसाके जगन्नाथदास, असमके शंकरदेव ओर बंगालके श्रीवृन्दावनदास और श्रीकृष्णदास कविराज आदि महात्मा प्रधान है। संत तुलसीदासने 'रामायण', गुरुनानकने 'ग्रन्थ साहब', जगन्नाथदासने 'उड़िया भागवत', शंकरदेवने 'कीर्तन घोषा', वृन्दावनदास ठाकुरने 'श्रीचैतन्यभागवत' तथा श्रीकृष्णदास कविराजने 'श्रीचैतन्यचरितामृत' आदि ग्रन्थोंको लिखा है। जनताने इन प्रकरण–ग्रन्थोंको खूब हृदयसे अपनाया। यहाँतक कि गौड़ीय वैष्णव–सम्प्रदाय (जिनके प्रकरण ग्रन्थ—श्रीचैतन्य चरितामृत और चैतन्यभागवत हैं) के अतिरिक्त सभी सम्प्रदायोंके लोग मूल–ग्रन्थकर्ता और मूलग्रन्थ श्रीवेदव्यास और श्रीमद्भागवतको प्रायः भूल बैठे हैं। गौड़ीय–वैष्णव–सम्प्रदाय ही अकेला ऐसा सम्प्रदाय है, जिसमें श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीचैतन्यभागवतरूप अमूल्य प्रकरण–ग्रन्थोंके वर्तमान रहनेपर भी श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भागवतकार श्रीवेदव्यासके प्रति पूर्ण श्रद्धा प्रदर्शित होती है। श्रीमद्भागवत, गीता, वेदान्त–दर्शन आदिकी दैनिक आलोचना होती है, यही व्यास–पूजाका श्रेष्ठ निदर्शन है। यह अन्य सम्प्रदायोंमें नहीं पाया जाता।

शांकर–सम्प्रदायमें भी व्यासपूजाका अभिनय होता है। श्रीशंकराचार्यने अपने कल्पित निर्विशेष मत—मायावादका प्रचार करनेके लिए वेदान्त सूत्रका आश्रय लिया है। उन्होंने लक्षणा वृत्तियोंसे सूत्रोंका कल्पित अर्थ ग्रहण कर अपना मनोनुकूल भाष्य बनाया है। अपने इस उद्देश्यकी पूर्त्तिमें उनको जहाँ भी कठिनाई उपस्थित हुई है—जिन–जिन अतीव स्पष्ट सूत्रोंका अर्थ, तोड़–मरोड़ कर भी अपने मतानुकूल लानेमें सफल नहीं हो सके हैं, वहाँपर उन्होंने सूत्रकार श्रीव्यासदेवको भ्रान्त बतलाया है। पेड़की जिस डालपर बैठे हैं, उसीको काटनेका प्रयत्न करते हैं। अतः इनकी व्यासपूजा कहाँतक समीचीन है—पाठकवर्ग इसका सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

श्रीव्यासपूजाका नामान्तर श्रीगुरुदेवके चरणोंमें आत्मसमर्पण है। श्रीगुरुदेवका मनोऽभीष्ट जो सुचारुरूपसे भगवत्–सेवा है, उसे पालन करना ही हमारा परमधर्म है। अतः व्यासदेव और श्रीमद्भागवतको केन्द्रकर गुरुदेवके मनोवांछित मार्गका अनुसरण करना ही व्यासपूजाकी सफलता और पूर्णता है। समस्त विश्व श्रीव्यासदेवका ऋणी है और रहेगा। जब तक भारतमें व्याासदेवकी वाणियोंका आदर होता रहा, भारत सम्पूर्ण विश्वका समस्त विषयोंमें पथ–प्रदर्शक रहा है। आज भारत उन वाणियोंको क्रमशः भूलनेके कारण ही अधोगतिकी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। आज अर्थनीति, समाजनीति, राजनीति और भौतिक–विज्ञान आदि समस्त विषयोंमें यह दूसरे–दूसरे राष्ट्रोंसे पिछड़ा हुआ है। गरीबीका यहाँ सर्वत्र ताण्डव नृत्य हो रहा है। फिर भी सम्पूर्ण विश्वकी आँखे भारत पर लगी हुई हैं। क्यों? क्योंकि भारत अपना सबकुछ लुटा कर भी अपनी प्राचीन संस्कृतियोंका अर्थात् अपनी वैदिक वाणियोंको अपने कंकालमें प्राणोंके समान संजोकर रखा है और ये व्यासकी अमर वाणियाँ ही युद्धकी विभीषिकासे त्रस्त और अशान्त विश्वको शान्ति प्रदान करनेमें समर्थ हैं। आज विश्वको इन वाणियोंकी आवश्यकता है, आजकी जनता युद्ध, मारकाट और भौतिक जीवनसे ऊब–सी गयी है। उसे शान्तिकी आवश्यकता है, उसे

आध्यात्मिक जीवन चाहिए।

भारत यदि उन्नत होना चाहता है, तो उसे व्यासदेवकी वाणियोंका जीवनमें अमल करना होगा। इसलिए इन वाणियोंको भारतके घर-घरमें प्रचार किया जाय, घर-घरमें व्यासपूजाका प्रचलन किया जाय। तभी भारत अपने लुप्त गौरवको प्राप्त कर सकता है—क्षुब्ध और त्रस्त विश्वको शान्तिका मार्ग दिखला सकता है।

इस घोर संकटके दिनोंमें जब कि नास्तिकताकी विश्वव्यापी प्रचण्ड दावाग्नि मानवताको निगलनेके लिए प्रस्तुत है, नित्यलीला-प्रविष्ट परमहंस १००८ श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' ने पारमार्थिक सम्मेलन कर विविध भाषाओंमें पारमार्थिक पत्रोंका प्रकाशन कर, विद्यालय, विद्यापीठ एवं स्कूल स्थापित कर प्राचीन ओर नये ग्रन्थोंका प्रकाशन कर, विभिन्न स्थानोंमें भागवती-वाणीको प्रचार करनेवाले मठोंकी स्थापना कर, कुमतोंका खण्डन कर, लुप्तप्राय श्रौतमार्ग—सनातन वैदिक धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा कर आधुनिक धर्म-जगतमें क्रान्ति ला दी है—नवजीवन संचार कर दिया है। ये महापुरुष वर्तमान-युगमें श्रीव्यासाभिन्न आचार्य हैं। आज हम व्यासदेवके स्थानपर इन्हीं आचार्यवरके चरणोंमें श्रद्धाकी पुष्पाञ्जलि अर्पण करते हैं। इनकी पूजा ही प्रकृत व्यासपूजा है।

✪✪✪

अच्छा तो कर नहीं सकता, बुरा कर सकता हूँ? अभी क्या दूँ बता?

संस्कृत भाषामें एक प्रवाद है—"***अशक्तोऽहं गृहारम्भे शक्तोऽहं गृहभञ्जने***" अर्थात् मैं इतना असमर्थ हूँ कि एक गृह-निर्माणका कार्य आरम्भ नहीं कर सकता किन्तु एक अट्टालिकाको धूलिसात् करनेमें विशेष दक्ष हूँ।

खल और क्रूर व्यक्तियोंका चरित्र ऐसा ही होता है। ये नीच स्वभावके व्यतिगण केवल दूसरोंका कार्य नष्ट तो कर सकते हैं। किन्तु दूसरोंका कोई उपकार नहीं कर सकते। चूहा अतिमूल्यवान ग्रन्थ वस्त्र या अन्य खाद्य पदार्थोंको नष्ट और ध्वंस कर सकता है। किन्तु उसे प्रस्तुत नहीं कर सकता।

बहुत भाग्य फलसे जीवके हृदयमें भक्त और भगवानके प्रति अकपट श्रद्धाका बीज उदित होता है। सैकड़ों वर्षोंकी तपस्या वैराग्य आदिको आचरण करने पर भी श्रद्धाका एक कण भी पाया नहीं जा सकता। किन्तु भक्तकी शुभ-इच्छासे वही श्रद्धा अनेक समय निन्दा कर कोमल श्रद्धावाले लोगोंकी श्रद्धाके अंकुरको जिस किसी समय नष्ट कर सकते हैं। किन्तु इस प्रकारके लोग गुरु वैष्णवके प्रति श्रद्धाका आभास भी किसीके हृदयमें सञ्चारित नहीं कर सकते। जो लोग इन्द्रियज ज्ञान, कुयुक्ति, कुतर्क आदि द्वारा भक्त और भगवानके चरित्रकी आलोचना करते हैं, तामसी प्रकृतिके ऐसे लोग ही इस श्रेणीके हैं। अर्थात् वे ही दौरात्म्य या खलताका आचरण करते हुए कहते हैं-"अच्छा तो कर नहीं सकता, बुरा कर सकता हूँ, अभी क्या दूँ बता? यदि ऐसे लोग अच्छाई नहीं कर केवल निरपेक्ष भी रह सकें तो अन्ततः कुछ क्षति नहीं होगी। किन्तु मायाका ऐसा चक्रान्त है कि इस जगत्में कोई वास्तविक निरपेक्ष नहीं रह सकता। वह या तो अच्छा करेगा, नहीं तो बुरा करेगा। और जो अच्छा नहीं कर सकता, वह तो बुरा करेगा ही। यह लोगोंका अमंगल कर और मंगलमय वस्तुको ध्वंसकर अपने कार्यका पारितोषिक चाहते हैं।

✪✪✪

कलियुगमें श्रीकृष्णनाम जप साधना

—डा. सत्यपाल गोयल

तीसरी धारा

मार्गशीर्ष मासका महत्त्व एवं श्रीकृष्ण नामकी महिमा दर्शाते हुए भगवान श्रीविष्णुने ब्रह्माजीसे कहा—

कृष्णकृष्णेतिकृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्
विनोदेनापि दम्भेन मौढ्याल्लोभाच्छलादपि
यो मां भजत्यसौ वत्स मदभक्तो नावसीदति

(स्कन्दपुराण वै. ख. १५/३६–३७)

अर्थात् जो मनुष्य कृष्ण कृष्ण कृष्ण इस प्रकार नित्य मेरा स्मरण करता है, मैं उसे उसी प्रकार नरकसे निकाल देता हूँ, जिस प्रकार कमल जलको भेदकर ऊपर निकल आता है। जो मनुष्य लोभ, छल, दम्भ, मूर्खता या विनोदमें भी श्रीकृष्ण नामका स्मरण भजन करता है, वह भक्त भी कष्ट या संकटमें नहीं पड़ता।

ये वै पठन्ति कृष्णेति मरणे पर्युपस्थिते।
यदि पापयुताः पुत्र न पश्यन्ति यमं क्वचित्।।
पूर्वे वयसि पापानि कृतान्यपि च कृत्स्नशः।
अन्तकाले च कृष्णेति स्मृत्वा मामेत्यसंशयम्।।
नमः कृष्णाय महते विवशोऽपि वदेद्यति।
ध्रुवं पदमवाप्नोति मरणे पर्युपस्थिते।।
श्रीकृष्णेति कृतोच्चारैः प्राणैर्यदि वियुज्यते।
दूरस्थः पश्यति च तं स्वर्गतप्रेतनायकः।।
श्मशाने यदि शय्यायां कृष्ण कृष्णेति जल्पति।
म्रियते यदि चेत्पुत्रो मामेवैति न संशय।।

(स्कन्द पुराण वै. ख. १५/४०–४४)

अर्थात् जो लोग मृत्युका समय आनेपर कृष्ण नामका उच्चारण करते हैं, वे यमराजका दर्शन नहीं करते। जिन्होंने पूर्वमें पाप कर्म किये हो तथा बादमें कृष्णनामका उच्चारण करते हैं, वे पापीजन भी पापमुक्त होकर मुझे ही प्राप्त करते है। मरणकाल आ जानेपर जो विवश होकर भी श्रीकृष्णनामका स्मरण चिन्तन या संकीर्तन करता है उसे उच्च अविनाशी पदकी प्राप्ति होती है। जीव कृष्ण नामका उच्चारण करता हुआ अपने शरीरको छोड़ता है, वह भी मुझे ही प्राप्त होता है।

पापानलस्य दीप्तस्य भयं मा कुरु पुत्रकः
श्रीकृष्णनाममेघोत्थैः सिच्यते नीरबिन्दुभिः
कलिकालभुजङ्गस्य तीक्ष्ण दंष्ट्रस्य किं मदम्
श्रीकृष्णनामदारूत्थवह्निदग्धः स नश्यति
पापपावकदग्धानां कर्मचेष्टावियोगिनाम्
भेषजं नास्ति मर्त्यानां श्रीकृष्णस्मरणं विना
प्रयागे वै यथा गङ्गा शुक्ल तीर्थे च नर्मदा
सरस्वती कुरुक्षेत्रे तद्वच्छ्रीकृष्णकीर्तनम्
भवाम्भोध निमग्नानां महापापोर्मिपातिनाम्
न गतिर्मानवानां च श्रीकृष्णस्मरणं विना

(स्कन्द पुराण वै. खं. १५/४६–५०)

अर्थात् हे पुत्र! पापरूपी अग्निसे भय मत करो (जो पापकर्म किये जा चुके हैं उन पापपुंज अग्निसे) क्योंकि श्रीकृष्ण नामरूपी मेघके जलसे सिंचित हो वह अग्नि तत्काल बुझ जाती है। तीक्ष्ण दांतोंवाले कलिरूपी सर्पसे क्या भय करना—क्योंकि वह तो श्रीकृष्णनामरूपी ईंधनसे प्रज्ज्वलित अग्निसे दग्ध होकर नष्ट हो जाता है। जो जीव पापोंकी अग्निसे भस्मीभूत होकर सत्कर्मको त्याग चुके हैं, उनके लिए श्रीकृष्ण नाम स्मरण ही परम औषधि है। जिस प्रकार प्रयागमें गंगा, शुक्ल तीर्थमें नर्मदा तथा कुरुक्षेत्रमें सरस्वतीका अस्तित्व है, उसी प्रकार श्रीकृष्णका नाम संकीर्तन सर्वत्र (देशकाल एवं पात्रके विचारको छोड़कर) पापोंको नष्ट कर देता

है। जो जीव भवसागरमें डुबकियाँ लगा रहे हैं एवं जिन्हें भवसागरसे उभरनेका अन्य कोई उपाय नहीं सूझ रहा है, उनके लिए श्रीकृष्णनामको छोड़कर अन्य कोई गति नहीं है।

उक्त श्लोकोंमें श्रीकृष्ण नामकी उद्धारक शक्तिको ही स्पष्ट किया गया है। जो जीव अपने पापकर्मोंकी राशिके बारेमें सोचकर चिंतित हैं कि मैंने तो करोड़ों जन्मोंमें तथा इस जन्ममें भी पापकर्म किये हैं मेरा उद्धार असम्भव है—यदि इस प्रकारकी उनकी धारणा बन गई हो तो उन्हें अपने हृदयसे अपनी पापपुंज राशिका विचार निकालकर श्रीकृष्ण नामका स्मरण, चिंतन और जप प्रारम्भ कर देना चाहिए। श्रीकृष्ण नाममें उनकी पापपुंज राशिको भस्मीभूत कर नरकसे उद्धारकी प्रचुर शक्ति सन्निहित है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम पाप कर्ममें भी रत रहें तथा कृष्णनामका भी जप करते रहें। लोगोंको चाहिए कि वे पूर्ण समर्पण भावसे श्रीकृष्णनामका आश्रय लेकर उसका जप व स्मरण करें तथा पुनः पाप कर्मोंकी ओर भूलकर भी दृष्टिपात न करें तभी भी उनका उद्धार सम्भव है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

मृत्युकालेऽपि मर्त्यानां पापीनां तदनिच्छताम्
गच्छतां नास्ति पाथेयं श्रीकृष्णस्मरणं विना
तत्र पुत्र गया काशी पुष्करं कुरु जागंलम्
प्रत्यहं मन्दिरे यस्य कृष्ण कृष्णेति कीर्तनम्
जीवितं जन्मसाफल्यं मुखं तस्यैव सार्थकम्
सततं रसनां यस्य कृष्ण कृष्णेति जल्पति
सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरं द्वयम्
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति
नाम्नोऽस्य यावतीशक्तिः पापनिर्दहने मम
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकीजनः

(स्कन्दपुराण वै. खं. १५/५१-५५)

जिन पापकर्मलिप्त जीवोंमें श्रीकृष्ण नाम स्मरणकी इच्छाका अभाव है, उन्हें मृत्यु कालमें या परलोक गमनके समय श्रीकृष्ण नाम स्मरणके सिवाय और कोई अवलम्बन नहीं है। हे पुत्र! जिस देवालयमें कृष्ण नामका कीर्तन होता है वहाँ सभी तीर्थ उपस्थित रहते हैं। जिससे कृष्णनामका उच्चारण होता रहता है, जिसके द्वारा 'कृष्ण' इन दो दिव्य अक्षरोंका उच्चारण कर लिया गया हो समझ लो उसको असमय ही मुक्तिका मार्ग मिल गया। कृष्णनाममें पापोंको नष्ट करनेकी जितनी शक्ति समाहित है उतने पाप तो जीव सम्पूर्ण जन्मोंमें नहीं कर सकता है अर्थात् कृष्ण नाम परम शक्तिशाली है।

उक्त श्लोकोंमें मुक्ति शब्द साधारण अर्थमें ही व्यंजित किया गया है, क्योंकि श्रीकृष्णनाम जपसे भुक्ति, मुक्ति और स्वर्ग आदि तो साधारण रूपमें ही प्राप्त हो जाते हैं। श्रीकृष्णनामका मुख्य फल तो कृष्ण-प्रेम प्रदान करना है। श्रीकृष्ण नाम स्मरण करनेवाले प्राणीको तो श्रीकृष्ण स्वयंको भी दे डालते है—मुक्ति, भुक्ति तो हाथ जोड़े साधकके चरणोंमें पड़ी रहती है। परन्तु कृष्णप्रेमी भक्त उनकी ओर नजर तक नहीं डालता। वह तो श्रीकृष्ण नामकी कृपासे कृष्ण-प्रेम में अवगाहन करता रहता है।

नाऽपविद्धं भवेत्तस्य शरीरं नैव मानसम्
न पापं न च वैक्लव्यं कृष्ण कृष्णेति कीर्तनात्
श्रीकृष्णेति वचः पथ्यं न त्येजद्यः कलौ नरः
पापमयो वै न भवेत् कलौ तस्यैव मानसे
श्रीकृष्णेति प्रजल्पन्तं दक्षिणाशापतिर्नरम्
श्रुत्वा मार्जयते पापं तस्य जन्मशतार्जितम्
चान्द्रायणशतैः पापं पराकाणां सहस्त्रकैः
यन्नामपयाति तद्याति कृष्ण कृष्णेति कीर्तनात्
नान्याभिर्नाम कोटिभिस्तोषो मम भवेत् क्वचित्
श्रीकृष्णेति कृतोच्चारे प्रीतिरेवाधिकाधिका

(स्कन्दपुराण वै. खं. १५/५६-६०)

अर्थात् श्रीकृष्णनाम इतना पवित्र है कि इसके स्मरण करनेसे प्राणीका शरीर और मन दोनों पवित्र हो जाते हैं। उसे कभी भी कोई पाप नहीं लगता और न ही उसमें किसी प्रकारकी विकलता आती

है (यहाँ पाप न लगनेसे तात्पर्य उन कर्मकाण्डोंसे है जिनका उल्लेख कर्मकाण्डसे सम्बन्धित धर्मग्रन्थोंमें है जिसे कि मनुष्ययोनिमें करना अनिवार्य है एवं जिनके न करनेसे जीवको पाप लगता है तथा वह नरकगामी हो सकता है। परन्तु जिन्होंने श्रीकृष्ण नाम तथा उनके पादपद्मोंका एककमात्र आश्रय ले लिया है वे यदि उन कर्मकाण्डोंको सम्पन्न न भी करें तो ऐसे कृष्णनाम आश्रित जनोंको कोई पाप स्पर्श नहीं करता है)

जो नर इस घोर कलिकालमें श्रीकृष्णनाम स्मरण जैसे पवित्र कार्यको नहीं छोड़ता उसके हृदयमें पाप विकार प्रवेश नहीं करते अर्थात् कलिकालमें श्रीकृष्ण नामका जप करनेसे साधकका पापोंकी ओर ध्यान नहीं जाता है, उसका हृदय पवित्रसे पवित्रतम होता जाता है। यदि किसी कारणवश उसकी वृत्ति किसी पापकर्मकी ओर हो भी जाय तो श्रीकृष्ण उसे उस ओर उन्मुख नहीं होने देते। जैसे पलकें आँखोंकी रक्षा करती है, श्रीकृष्ण भी अपने प्रेमी साधककी पापवृत्तिसे रक्षा करते हैं।

कृष्णनाम स्मरण करनेवाले प्राणीके मुखसे कृष्णनाम सुनकर दक्षिण दिशामें स्थित यमराज उसके शत जन्मोंसे भी अधिक जन्मोंमें अर्जित पापोंको नष्ट कर देते हैं। प्राणियों द्वारा किये गये अनेक जन्मार्जित पाप, जिनका नाश हजारों पराक् व्रतों तथा चान्द्रायण व्रतोंसे भी नहीं होता है वे सब कृष्णनामका कीर्तन करनेसे क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं। श्रीकृष्ण नामका स्मरण एवं कीर्तन करनेसे साधकके हृदयमें अधिकाधिक प्रीति एवं संतोष उत्पन्न होता है जो अन्य नामोंके करोड़ों बार उच्चारणसे भी नहीं होता है।

श्रीकृष्ण नाम इतना आकर्षक है कि वह चुम्बककी भाँति साधकके हृदयमें प्रेम उत्पन्न कर अपनी ओर आकर्षित कर लेता है फिर उसे सांसारिक सम्बन्धोंसे कोई मोह नहीं रह जाता है। श्रीकृष्ण ही उसके एकमात्र प्रेष्ठ हो जाते हैं।

गुरुदाराभिगमनं हेमस्तेयादि पातकम्
श्रीकृष्ण कीर्तनाद्याति धर्मातप्तं हिम यथा
युक्तो यदि महापापैरगम्यागननादिभिः
मुच्यते चान्तकालेऽपि सकृच्छ्रीकृष्ण कीर्तनात्
अविशुद्धमना यस्तु बिनाऽप्याचार वर्तनात्
प्रेमतत्वं सोऽपि नाप्नोति अन्ते श्रीकृष्ण कीर्तनात्
मुखे भवतु मा जिह्वासतीयातु रसातलम्
न साचे कलिकाले या श्रीकृष्ण गुणवादिनी
स्ववक्त्रे परवक्त्रे च वन्द्या जिह्वा प्रयत्नतः
कुरुते या कलौ पुत्र श्रीकृष्णगुण कीर्तनात्

(स्कन्दपुराण वै. खं. १५/६२–६६)

अर्थात् गुरु पत्नीसे गमन तथा स्वर्णकी चोरी जैसे पाप कर्मोंसे मुक्तिका कोई उपाय नहीं है, परन्तु कृष्णनाम कीर्तन ऐसा साधन है जो इन पाप कर्मोंसे जीवको ऐसे शुद्ध कर देता है, जैसे अग्नि स्वर्णको शुद्ध कर देती है। महापापी प्राणी यदि अपने अंत समयमें कृष्णनामका उच्चारण कर लेता है तो वह भी पापोंसे मुक्त हो जाता है। जिसका मन अशुद्ध है तथा जिसने सदाचारका रास्ता छोड़ दिया है वह भी यदि अंत समयमें कृष्ण नामका उच्चारण करता है तो उसे प्रेत योनि प्राप्त नहीं होती है। कलियुगमें जो रसना कृष्णनामका उच्चारण करती है वह किसीके भी मुखमें हो, वह वंदनीय है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जीवके द्वारा कितने भी जघन्य पाप किये गये हों वे सब कृष्ण नामकी शरणमें आनेसे भाग खड़े होते हैं तथा जीवका हृदय शुद्ध होकर उसमें कृष्णप्रेम उत्पन्न हो जाता है। कृष्णनाम जप करनेमें ही इस जीभकी सार्थकता है अन्यथा मेंढककी तरह जीवन भर टर्राता ही रहेगा।

भारतीय विचारकों, मनीषियों तथा सिद्ध कृष्ण भक्तोंने प्रत्येक अवसर पर कृष्णके नाम निम्न प्रकार स्मरण करनेकी धारणा की है यथा—

औषधये चिन्तयेद विष्णु भोजने जनार्दनम्

शयने पद्मनाभं च विवाहे च प्रजापतिम्
युद्धे चक्रधरं देवं प्रवासे च त्रिविक्रमम्
नारायणं तन्तु त्यागे श्रीधरं प्रियसंगमे
दुःस्वप्ने स्मर गोविन्दं सङ्कटे मधुसूदनम्
कानने नारसिंहं च पावके जलशायिनम्
जलमध्ये वराहं च पर्वते रघुनन्दनम्
गमने वामनश्चैव सर्वकार्येषु माधवम्
षोडशेतानि नामानि प्रातरूत्थाय यः पठेत्
सर्वपाप विनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते

अर्थात् औषधि सेवनके समय विष्णु नामका उच्चारण करे तथा भोजन करनेसे पूर्व जनार्दन, शयनके समय पद्मनाभ एवं विवाहके समय प्रजापतिका, युद्धके समय चक्रधर देव (श्रीकृष्ण) का, प्रवासके समय त्रिविक्रमका एवं शरीर त्यागके समय नारायणका स्मरण करे, प्रिय संगमके समय श्रीधरका, बुरे स्वप्नका फल नष्ट करनेके लिए गोविन्द नामका जप करे, संकटकी स्थितिमें मधुसूदनका, वन प्रान्तमें नृसिंहका, आग लगनेपर जलशायी विष्णुका, जलके मध्य वराहका एवं पर्वतपर श्रीरामका, गमनके समय वामन तथा सभी कार्योंमें माधव नामका स्मरण करें।

उक्त स्थिति दर्शाती है कि मनुष्योंको प्रत्येक स्थितिमें भगवानके किसी न किसी नामका स्मरण, चिन्तन और जप करना चाहिए। भगवानके सभी नाम शक्तिसम्पन्न है परन्तु उनका श्रीकृष्ण नाम परम शक्तिसम्पन्न है। जिसका प्रत्येक स्थितिमें जप करना चाहिए। उनका नाम ही सार है।

कामः कामप्रदः कान्तः कामपालस्तथा हरिः
आनन्दौ माधवश्चैव काम सांसिद्धये जपेत्

यद्यपि संसारमें मायाके वशीभूत लोग जागतिक उद्देश्योंकी पूर्ति हेतु भगवानके नामोंका जप, स्मरण करते हैं परन्तु उनका ऐसा करना 'हीरा' के बदले घुंघची प्राप्त करना है। इससे तो मायाका बन्धन और पक्का हो जायेगा। प्राणी संसारमें अकेला आता है और अकेला ही चला जाता है। बीचमें जो स्त्री, पुत्र, माता-पिता, धन, सम्पत्ति प्राप्त होते हैं, ये तो प्रारब्धवश प्राप्त होते हैं। ये पहले कभी अपने साथ नहीं रहे और इस शरीरको छोड़नेके पश्चात् भी अपने साथ नहीं रहेंगे फिर उनके लिये हम जागतिक विषयोंकी कामना क्यों करे? भगवान सहजमें ही इन्हें प्रदान कर जीवसे अलग हो जाते हैं। जिस प्रकार माता अपने शिशुको रोना बंद करनेके लिये उसके हाथोंमें खिलौना थमाकर दूसरे-दूसरे कार्योंमें व्यस्त हो जाती है, परन्तु जो बच्चा खिलौना नहीं पकड़ता है माता उसे अपनी बाहोंमें भरकर अपनी ममता भरे आंचलमें छिपाकर अपना दूध पिलाती है। ऐसे ही प्रत्येक साधकको क्रन्दनपूर्वक श्रीकृष्णका प्रेम पानेके लिए ही नाम जप करना चाहिए। क्योंकि कृष्णनामका मुख्य फल कृष्ण-प्रेम प्रदान करना ही है। कृष्ण-प्रेम ही प्रयोजनीय है, सांसारिक भोग नहीं।

कृष्ण नाम जपसे कृष्ण-प्रेम अवश्य सिद्ध होता है इसमें कुछ संशय नहीं है। साधकको धैर्यपूर्वक सांसारिक विषयोंके प्रति अनासक्त होकर कृष्णनाम जप करना चाहिए। श्रीशंकरजी पार्वतीजीको कहते है—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः

अर्थात् हे पार्वती! जप करनेसे, जप करनेसे, जप करनेसे ही कृष्ण प्रेमकी सिद्धि होगी, इसमें कोई संशय नहीं है।

कारावाससे बन्धनमुक्त होनेके लिए भगवानके 'दामोदर' नामका जप करनेसे अपराधी कारावास से मुक्त हो जाता है। सरकारके कारावाससे भी बड़ा कारावास यह संसार है जिसमें जीव कर्मफलके अनुसार ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण कर रहा है। यदि जीव संसार बन्धनसे मुक्त होकर भगवान श्रीकृष्णका प्रेम पाना चाहता है तो उसे नित्य निरन्तर दामोदर नामका जप करना चाहिए।

दामोदर बन्धगतो नित्यमेव जपेन्नरः

अतएव माया बन्धनसे मुक्त होकर कृष्णप्रेम

पानेके लिए ही साधकको निरन्तर कृष्ण नाम (दामोदर) का नित्य जप करना चाहिए—इन वचनोंपर विश्वास कर साधन करना चाहिए।

पद्मपुराणमें भगवान श्रीकृष्णके नामकी महिमाका स्तोत्र मिलता है, जिसके स्मरण, पाठ एवं जपसे महान सिद्धि प्राप्त होती है। भगवान कृष्णके नामका जप ही प्रधान है चाहे वह अकेले नामके रूपमें हो या स्तोत्रके रूपमें हो। स्तोत्र भी जाग्रत होते हैं, यदि वह किसी सिद्ध पुरुषके द्वारा गाया गया हो। विषयी या व्यवसायी प्रकृतिके लोगों द्वारा बनाये गये स्तोत्र या भजन साधनामें सिद्धि प्रदान नहीं कर सकते क्योंकि उनके पीछे किसी सिद्ध संत वैष्णवका बल नहीं होता है। साधकोंके लिए वह स्तोत्र उद्धृत किया जा रहा है। यह स्तोत्र नित्य सुबह और शाम भगवान श्रीकृष्णके श्रीविग्रहके सामने आर्त्तचित्त होकर जोर जोरसे गाना चाहिए। क्योंकि स्तोत्रका मानसिक जपकी तुलनामें वाचिक जपका फल हजार गुणा होता है जबकि मंत्रके मानसिक जपका फल हजार गुणा होता है।

नमाम्यहं हृषिकेशं केशवं मधुसूदनम्
सूदनं सर्व दैत्यानां नारायणमनामयम्
जयतं विजयं कृष्णमनन्तं वामनं यथा
विश्वं विश्वेश्वरं पुण्यं विश्वात्मनं सुशीर्चतम्
अनघं त्वद्यहर्तारं नारसिंहंश्रियं प्रियम्
श्रीपतिं श्रीधरं श्रीदं श्रीनिवासं महोदयम्
श्रीरामं माधवं मोक्षं क्षमारूपं जनार्दनम्
सर्वज्ञ सर्ववेत्तारं सर्वेशं सर्वदायकम्
हरिं मुरारिं गोविन्दं पद्मनाभं प्रजापतिम्
आनन्दं ज्ञान सम्पन्नं ज्ञानदं ज्ञानदायकम्
अच्युतं सबलं चन्द्रवक्त्रं व्याप्तपरावरम्
योगेश्वरं जगत्योनिं ब्रह्मरूपं महेश्वरम्
मुकुन्दं यापि वैकुण्ठमेकरूपं कविं ध्रुवम्
वासुदेवं महादेवं ब्रह्मण्यं ब्राह्मणप्रियम्
गोप्रियं गोहितं यज्ञयज्ञाङ्ग यज्ञवर्धनम्
यज्ञस्यापि सुभोक्तारं वेदवेदाङ्गपारगम्
वेदज्ञं वेदरूपं तं विद्यावासं सुरेश्वरम्
प्रत्यक्षं य महाहंसं शंखपाणि पुरातनम्
पुष्करं पुष्कराक्षं च वाराहं धरणीधरम्
प्रद्युम्नं कामपालं च व्यासध्यातं महेश्वरम्
सर्व सौख्यं महासौख्यं सांख्यं च पुरुषोत्तमम्
योगरूपं महाज्ञानं योगीशमर्जितप्रियम्
असुरारि लोकनाथं पद्महस्तं गदाधरम्
गुहावासं सर्ववासं पुण्यवासं महाजनम्
वृन्दानाथं बृहत्कायं पावनं पापनाशनम्
गोपीनाथं गोपसखां गोपालं गोगणाश्रयम्
परात्मानं पराधीशं कपिलं कार्यमानुषम्
नमामि निखलं नित्यं मनोवाक्याय कर्मभिः
नाम्नां शतेनापि तु पुण्यकर्ता
यः स्तौति कृष्णं मनसा स्थिरेण
स याति लोकं मधुसूदनस्य
विहाय दोषानि पुण्यभूतः
नाम्नाशतं शतं महापुण्यं सर्वपातक शोधनम्
अनन्यमनसा ध्यायेज्जपेद् ध्यान समन्वितः
नित्यमेव नरः पुण्यः गङ्गास्नानफलं लभेत्
तस्मात्तु सुस्थिरो भूत्वा समाहितमना जपेत्

(पद्मपुराण भू खण्ड ८७/९–२५)

अनन्य मनसे इस स्तोत्रमें निहित नामों अथवा इस स्तोत्रका ही नित्य जप करनेसे गंगास्नानके फलकी प्राप्ति होती है तथा जीव समस्त पापोंसे मुक्त होकर श्रीकृष्णका प्रेम प्राप्त करता है।

(क्रमशः)

✪✪✪

श्रीश्रीनवद्वीप–धामकी परिक्रमा और गौर–जन्मोत्सव

पिछले वर्षकी तरह इस वर्ष भी श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके उद्योगसे श्रीश्रीनवद्वीप धामकी परिक्रमा और श्रीचैतन्य महाप्रभुका जन्मोत्सव खूब धूमधामके साथ सम्पन्न हुआ है। भारतके विभिन्न स्थानोंसे यात्रियोंने बड़ी संख्यामें योगदान किया था। अन्यान्य वर्षोंकी अपेक्षा इस वर्ष यात्रियोंकी संख्या बहुत अधिक होनेपर भी आचार्य देवकी अध्यक्षतामें समितिकी सुव्यवस्थाके कारण यात्रियोंको तनिक भी कष्ट नहीं हुआ। प्रतिदिन प्रातःकाल श्रीचैतन्य महाप्रभुके विजय–विग्रह रत्न–मण्डित पालकीपर पधराये जाते और उनके सेवकवृन्दोंमेंसे कोई चाँवर डुलाता, कोई पंखा झलता और कोई छत्र धारण करता। पालकीके पीछे त्रिदण्ड धारण किए हुए संन्यासियोंकी पंक्तियाँ अतीव मनोरम प्रतीत होतीं। इन पंक्तियोंके पीछे संकीर्तन मण्डली और उनके पीछे नर–नारियोंका विराट समुदाय। स्थान–स्थान पर लाल, पीली, नीली, हरी पताकाएँ शोभित होतीं।

श्रीमन्महाप्रभुजीके पालकी पर विराजमान होनेके अनन्तर एकबार गगनभेदी जय–ध्वनिसे आकाश गूँज उठता। फिर तो एक ही साथ खोल, करताल, मजीरा, शंख, घंटा और घड़ियाल बज उठते—एक सुरमें, एक तालमें, एक लयमें; क्या मजाल कि कहीं भी बेताल हो सके। मेघ–गर्जनको भी मात करनेवाली मृदंग आदि वाद्योंकी ध्वनिसे भक्तोंका हृदय थिरक उठता। फिर महासंकीर्तन आरम्भ हो जाता और इस विराट संकीर्तनके साथ–ही–साथ श्रीमन्महाप्रभुकी पालकी धीरे–धीरे आगे बढ़ने लगती। कीर्तनमें जब मूल–गायक नृत्य करते–करते ताल–स्वरके साथ झूम उठता—तो सारा जन–समूह उन्मत्त हो उठता, शरीरकी सुध–बुध खोकर, दोनों हाथोंको उठाकर उछल–उछलकर भावोंको दिखलाकर भाँति–भाँतिसे नृत्य करता और पृथ्वी पर लोटने लगता। किसी–किसीके दोनों नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बह–बहकर कपोलों पर लुढ़कने लगते। दर्शक काठकी पुतलियोंके समान एक टक देखते रह जाते, पथिक पथ चलना भूल जाते, पक्षी उड़ना भूल जाते, पशु समूह अपने दोनों कानोंको खड़ेकर पीछे–पीछे चल पड़ता। कठोर–से–कठोर हृदय भी द्रवित हो उठता।

संकीर्तनके रोलसे—'गौर हरिकी जय', 'गौर प्रेमानन्दे हरि–हरि बोल' की ध्वनिसे दिग्–दिगन्त मुखरित हो उठता। इस प्रकार गन्तव्य स्थानपर पहुँच कर श्रीमन्महाप्रभुकी पालकी रुक जाती। उस समय संकीर्तन रुक जाता और लोगोंके बैठनेपर संन्यासी महाराजगण उस स्थानका माहात्म्य वर्णन करते। इसके बाद यात्री वहाँके दर्शनीय स्थानोंका दर्शन करते। फिर संकीर्तन आरम्भ हो जाता और आगेकी ओर चल पड़ते।

इस परिक्रमामें श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके सभापति आचार्य ॐ विष्णुपाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज, श्रीसमितिके सहसभापति एवं साधारण सम्पादक ॐ विष्णुपाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज, ॐ विष्णुपाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज तथा श्रीसमितिके समस्त संन्यासीवृन्द एवं ब्रह्मचारीगण अंश ग्रहण किए थे।

श्रीधाम परिक्रमाका संचालन श्रीसमितिके सह–सभापति एवं साधारण सम्पादक श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजीने किया तथा सायंकालीन सभाका संचालन श्रीसमितिके सभापति आचर्य त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजजी करते थे। परिक्रमामें प्रचुर परिमाणमें हरिकथा आलोचना हुई। समस्त श्रोतृवृन्द हरिकथा सुनकर कृतकृतार्थ हो गए, श्रीधाम परिक्रमाके समय एकादशीके दिन श्रीपाद पीताम्बर वृजवासीका परलोक गमन हुआ।

इस वर्ष श्रीधाम परिक्रमाके उपरान्त श्रीसमतिके तीन सेवकोंको त्रिदण्ड संन्यास प्रदान किया गया। संन्यासोत्तर नाम (१) श्रीचिन्मयानन्द ब्रह्मचारीका नाम त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त भागवत महाराज, (२) श्रीगोवर्द्धन ब्रह्मचारीका नाम त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त गिरि महाराज, (३) श्रीबलराम ब्रह्मचारीका नाम त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त पर्वत महाराज हुआ।

श्रीधाम परिक्रमामें पृथ्वीके प्राय समस्त प्रमुख देशोंसे शताधिक विदेशी भक्तोंने योगदान किया था, भारतवर्षके प्रमुख महानगर दिल्ली, मुम्बई, कलकत्ता, पुना, जयपुर आदि स्थानोंसे भक्तोंने योगदान किया।

दोपहरमें निर्दिष्ट खेमेपर प्रसाद आदिकी व्यवस्था रहती। प्रसाद पाकर यात्री विश्राम करते। शाम–सुबह भगवानकी आरती होती, कीर्तन होता, उसके बाद श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंका प्रवचन होता और अन्तमें अगले दिनका कार्यक्रम घोषित कर दिया जाता। इस प्रकार ८ मार्चसे लेकर १२ मार्च तक श्रीनवद्वीप धामके नव द्वीपोंकी परिक्रमा की गई तथा १३ मार्चको श्रीश्रीगौर–जन्मके उपलक्ष्यमें विराट महोत्सव किया गया।

प्रसिद्ध–प्रसिद्ध स्थानोंका विवरण नीचे दिया जा रहा है—

१. गोद्रुम द्वीप

गंगाके पूरबमें अवस्थित है। यहाँके दर्शनीय स्थान ये हैं—

(क) सुरभि कुंज—गोद्रुमका अपभ्रंश नाम 'गादिगाछा' है। यहाँ पर सुरभिकी कृपासे मार्कण्डेय मुनिने गौरभजनका उपदेश प्राप्तकर शुद्ध–भक्तिका आश्रय ग्रहण किया था। ये मार्कण्डेय मुनि कृष्ण लीलाके इन्द्र थे। यहाँ एक बहुत बड़ा पीपलका पेड़ था। इसी पेड़ (द्रुम) के नीचे सुरभी विश्राम करती थी। इसीलिये इस स्थानका नाम सुरभिकुंज पड़ा है।

(ख) स्वानन्दसुखद कुंज—निकट ही सरस्वती नदी प्रवाहित होती हैं। यहाँ पर वर्तमान कालके शुद्ध–भक्ति–प्रचारके मूल महापुरुष श्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी भजन–स्थली है। पास ही श्रीगौरकिशोर दास बाबाजीकी भी भजन कुटी है। कुंजके द्वारपर क्षेत्रपाल शिव विराजमान हैं, बीचमें ठाकुरकी भजनस्थली है और एक ओर ठाकुरका समाधि–मन्दिर है। समाधि–मन्दिरमें श्रीभक्तिविनोदकी मूर्ति, श्रीगौरगदाधर और श्रीराधा गोविन्दजी विराजमान हैं।

(ग) सुवर्णविहार—सत्ययुगमें यहीं पर राजा सुवर्णसेनकी राजधानी थी। देवर्षि नारदने सुवर्णसेन राजाको गौर–नामका माहात्म्य बतलाया था। कलिकालमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके अवतीर्ण होनेकी भी सूचना दी थी। यहाँ आजकल 'सुवर्णविहार गौड़ीय मठ' स्थापित है।

(घ) हरिहर क्षेत्र—यह स्थान गण्डकी नदीके तटपर अलकानन्दाके पूर्वी किनारे पर अवस्थित है। यहाँके मन्दिरमें भगवान श्रीहरि और उनके प्रियतम भक्त महादेव—इन दोनोंकी एक हरिहर मूर्ति विराजमान है।

(ङ) महावाराणसी—यहाँ परम वैष्णव श्रीशिव अपनी शक्ति श्रीगौरीके साथ श्रीगौरांग भगवानका भजन करते हैं तथा जीवोंके निर्याणके समय उनके कानोंमें गौर-नाम श्रवण कराते हैं।

(च) देवपल्ली—वर्तमान नाम 'देपाड़ा' है। सत्ययुगमें श्रीनृसिंहदेवने यहीं पर हिरण्यकशिपुका बध किया था तथा प्रह्लादपर कृपा करनेके बाद यहींपर विश्राम किया था। सूर्यटीला, ब्रह्मटीला और इद्रटीला आदि अनेक देवताओंके भजन-स्थल आज भी खंडहरोंके रूपमें विराजमान हैं। यहाँ पर नृसिंहदेवका एक मन्दिर भी है।

२—मध्यद्वीपके दर्शनीय स्थान

(क) हाट डांगा—यह स्थान साक्षात् कुरुक्षेत्र है। यहीं पर देवतालोग श्रीगौरांगदेवकी लीला कथाओंका परस्पर कथनोपकथन करते थे।

(ख) श्रीब्राह्मणपुष्कर (वामनपुरा)—सत्ययुगमें दिवोदास नामक एक ब्राह्मणने यही पर पुष्करका दर्शन किया था।

(ग) हंसवाहन शिव

(घ) सप्तर्षिटीला

(ङ) नैमिषारण्य—यहीं पर श्रीसूत गोस्वामीने श्रीशौनकादि ऋषियोंको श्रीगौर-भागवतका श्रवण कराया था।

*३—ऋतुद्वीप*के दर्शनीय स्थान

(क) चम्पकहट्ट (चाँपाहाटी)—चम्पाके फूलोंकी अधिकताके कारण यहाँ चम्पाके फूलोंका हाट लगता था। इसीलिए इस स्थानका नाम चम्पकहट्ट है। श्रीमन्महाप्रभुजीके समसामयिक द्विजबाणीनाथजीका यही निवास-स्थान था। यहाँ एक मन्दिर है, जिसमें द्विजवाणीनाथ द्वारा सेवित श्रीश्रीगौरगदाधरजीकी श्रीमूर्ति सेवित होती है। यहीं पर जयदेव कवि और उनकी पत्नी पद्मावतीदेवी दोनों मिलकर राधागोविन्दजीकी नित्यप्रति चम्पाके फूलोंसे पूजा करते थे।

*४—जह्नुद्वीप*के दर्शनीय स्थान

(क) जान्नगर—यहींपर जह्नु मुनिने गंगाको पान किया था। पीछे भगीरथ राजाकी प्रार्थनासे गंगादेवीको अपनी जंघा चीर कर पुनः बाहर कर दिया था। इसीलिए इस द्वीपका नाम जह्नु द्वीप और गंगानदीका नाम जाह्नवी है। जह्नु मुनिने यहींपर भगवान श्रीगौरांगदेवका दर्शन किया था।

(ख) विद्यानगर—प्राचीनकालसे महाप्रभुके समयतक संस्कृत विद्याका एक प्रधान केन्द्र था। यहींपर वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्यका जन्मस्थान हैं। जो उड़ीसाके सम्राट श्रीप्रतापरुद्रके राजपण्डित थे। ये पहले मायावादी आचार्य थे, पीछे श्रीमन्महाप्रभुकी कृपासे उनके एक प्रधान भक्त हो गये थे।

*५—मोदद्रुम द्वीप*के दर्शनीय स्थान

यहींपर वनवासके समय श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मण और सीताजीके साथ एक वृक्षके नीचे पर्णकुटी बनाकर कुछ दिनोंतक निवास किया था। श्रीवास पण्डितजीकी पत्नी मालिनीदेवीका पित्रालय तथा श्रीचैतन्य भागवतके रचयिता श्रीवृन्दावनदास ठाकुरजीके द्वारा सेवित श्रीगौरनित्यानन्दजी आज भी यहाँ सेवित होते हैं। यहाँसे थोड़ीदूर पर महत्पुर (मातापुर) ग्राममें पाण्डवोंने अपने अज्ञातवासका कुछ समय बिताया था।

*६—कोलद्वीप*के दर्शनीय स्थान

(क) कुलिया पहाड़—गंगाके पश्चिमी किनारे पर स्थित है। यहींपर वर्तमान नवद्वीप शहर बसा हुआ है। यहींपर सत्ययुगमें ब्रह्माकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवानने वराहरूप धारण कर हिरण्याक्षको मारा था तथा यहींपर वासुदेव नामक एक भक्तको भगवान वराहदेवने दर्शन देकर कलिकालमें स्वयं श्रीगौरांगदेवके रूपमें आविर्भूत होनेकी सूचना दी थी।

(ख) प्रौढ़ा माया—शहरके बीचों-बीच एक विशाल वटवृक्षके नीचे प्रौढ़ा माया (योगमाया) का मन्दिर है।

(ग) श्रीश्रीजगन्नाथदास बाबाजीका समाधि-मन्दिर—यहाँ श्रीश्रीगौरांगदेवके जन्म-स्थान श्रीश्रीमायापुरका निर्देश करनेवाले श्रीजगन्नाथदास

बाबाजी महाराजका मन्दिर है।

७—*रुद्रद्वीप*के दर्शनीय स्थान

यहाँपर पर नील–लोहित एकादश रुद्रोंके गौर–भजन का स्थान है। श्रीविष्णुस्वामीने यहींपर श्रीरुद्रदेवकी कृपा प्राप्तकर शुद्धाद्वैतमतका प्रवर्त्तन किया था। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी 'प्रभुपाद' के द्वारा प्रतिष्ठित श्रीरुद्रद्वीप गौड़ीय मठमें आज भी यहाँ भगवानकी अर्चापूजा होती है।

८—अन्तर्द्वीप (मायापुर) दर्शनीय स्थान

(क) योगपीठ मन्दिर—श्रीमन्महाप्रभुकी आविर्भाव स्थली यहीं है। श्रीजगन्नाथ मिश्रके भवनके ऊपर आजकल एक विशाल मन्दिर है। मन्दिरमें तीन प्रकोष्ठ हैं। प्रथम प्रकोष्ठके बीचमें श्रीमन्महाप्रभुजी, उनकी बायीं ओर विष्णुप्रिया तथा दाहिनी ओर लक्ष्मीप्रियाजी हैं। द्वितीय प्रकोष्ठमें श्रीराधामाधवजी तथा तृतीयमें पंचतत्त्वकी मूर्त्तियाँ हैं।

(ख) सूतिका–गृह—पास ही श्रीशचीमाताका सूतिकागृह है। जहाँ श्रीनिमाईका आविर्भाव हुआ था। वहाँ आज भी उस समयका प्राचीन नीमका पेड़ विद्यमान है।

(ग) क्षेत्रपाल शिवका मन्दिर

(घ) श्रीनृसिंहदेवका मन्दिर

(ङ) श्रीगौरकुण्ड

(च) श्रीमहाप्रभुका घाट

(छ) जगाई–माधाई घाट

(ज) खोलभांगा डांगा—जहाँपर मुसलमान काजीने महाप्रभुजीके भक्तोंके कीर्तनमें बाधा दी थी तथा उनका खोल (मृदंग) तोड़ दिया था।

(झ) श्रीवास आँगन—योगपीठके मन्दिरसे थोड़ी दूर उत्तर श्रीमन्महाप्रभुजीकी संकीर्तन–स्थली।

(ञ) अद्वैतभवन—श्रीवास–अंगनसे थोड़ी दूर उत्तर जहाँ श्रीअद्वैताचार्यकी संस्कृत पाठशाला होती थी तथा भक्तोंकी सभा बैठती थी।

(ट) भक्तिविजय भवन—नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' की भजनकुटी।

(ठ) समाधिमन्दिर—श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' का समाधि–मन्दिर। यहाँ पर एक विशाल मन्दिरमें "प्रभुपाद" का विग्रह विराजमान है।

(ड) श्रीचैतन्य मठ—यहाँपर २९ चूडोंका विशाल मन्दिर है, जिसमें श्रीविनोदप्राणजी विराजमान है। यहीं पर श्रीचन्द्रशेखर आचार्यका भवन था। इस मन्दिरके चारों कोनोंमें क्रमशः श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीविष्णुस्वामी और श्रीनिम्बादित्याचार्यकी मूर्तियाँ स्थापित हैं।

(ढ) श्रीगौर किशोरदास बाबाजीका समाधि मन्दिर

(ण) पृथुकुण्ड अथवा बल्लाल दीघी

(त) मुरारी गुप्तका पाट—यहाँपर श्रीराम सीताका मन्दिर है। यहींपर हनुमानजीके अवतार मुरारी गुप्तका भवन था।

(९) सीमन्तद्वीप

यहाँके दर्शनीय स्थान

(क) चाँदकाजीकी समाधि—यह योगपीठसे सवा मील उत्तरमें स्थित है। मौलाना सिराजुद्दीन चाँदकाजीने पहले पहल महाप्रभुजीके संकीर्तनमें बाधा दी थी। पीछे महाप्रभुजीकी कृपासे ये उनके भक्त हो गए थे। यहीं पर काजी साहबको समाधि दी थी। करीब ४५० सौ वर्षका प्राचीन एक गोलोक चम्पा फूलका वृक्ष यहाँपर आज भी विद्यमान है।

(ख) श्रीधर आँगन—भक्त श्रीधरका यहींपर गृह था, जहाँ महाप्रभुजी नगर–संकीर्तनके समय एक लोहेके फूटे लोटेसे जल पीकर भी अपने भक्तके प्रेमाधीन हुए थे। यहाँपर श्रीलभक्तिसिद्धान्त ठाकुरने एक मन्दिर निर्माण करवाकर श्रीगौरांगदेवकी सेवा प्रतिष्ठा की थी। आजकल वर्तमान सेवायतोंने मन्दिरसे विग्रहोंको हटा दिया है। स्थान सूना पड़ा है।

(ग) शरडंगा—यहाँपर एक श्रीजगन्नाथजीका प्राचीन मन्दिर है।

✪✪✪

विदेश प्रचार–प्रसंग

नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजी द्वारा प्रतिष्ठित श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके वर्तमान उपसभापति, महासचिव ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज अपनी चतुर्थ विदेश यात्राके द्वितीय चरणमें ११ जनवरी ९८ को आस्ट्रेलिया पहुँचे जहाँ अनेक स्थानीय भक्तों एवं अतिथियोंने बड़े उत्साहके साथ श्रील महाराजजीका स्वागत किया। पूर्व अंक (१२) में हम श्रील महाराजजीके प्रथम चरणमें फिजीमें प्रचारका संवाद प्रस्तुत कर चुके हैं।

स्थानीय समाचार पत्रोंमें भी श्रील महाराजजीके प्रचार कार्यक्रमकी खबर छपी तथा अनेक पत्रकार श्रील महाराजजीके स्वागतके समय उपस्थित हुए।

प्रति सायं श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी रचित श्रीमनःशिक्षा पर प्रभावशाली प्रवचन करते हुए श्रील महाराजजीने भजनके सम्बन्धमें जोर देते हुए कहा कि हमें अपने हृदयसे जप करना चाहिए, न कि केवल होठोंसे, इस सम्पूर्ण निष्ठाके साथ कि कृष्ण अपने नाममें सम्यक्रूपसे हैं एवं प्रतिक्षण हमें (हमारा जप) सुन रहे हैं।

गुरुतत्त्वके सम्बन्धमें श्रील महाराजजीने कहा कि सद्गुरु सदैव गोलोक वृन्दावनसे आते हैं। उन्होंने आगे कहा कि एक प्रामाणिक गुरु अपने शिष्योंको कभी भी अपनेसे उन्नत शिक्षा गुरुके पास जानेसे नहीं रोकेगा। श्रील लोकनाथ गोस्वामी, श्रील गोपालभट्ट गोस्वामी एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने इस बातकी पुष्टि की है अपने सम्मुख उपस्थित ४०० से अधिक श्रोताओंसे निर्देशन करते कहा जो अभी मुक्त नहीं हुए है उनमें अनेक त्रुटियाँ हो सकती है।

एक अन्य स्थानपर श्रील नरोत्तम ठाकुर द्वारा

रचित श्रीगुरु वन्दनाके पद 'श्रीगुरु चरणे रति सेई से उत्तमा गति। जे प्रसादे पूरे सर्व आशा' की व्याख्या करते हुए श्रील महाराजजीने कहा यहाँ रतिका अर्थ है भाव–भक्तिसे है जो कि प्रेमभक्तिकी प्राथमिक अवस्था है। यह रति इतनी सशक्त होती है कि समस्त प्रकारकी इच्छाएँ पूर्ण कर सकती है।

यदि किसीमें संसारकी कोई भी कामना या उसकी लेशमात्र भी अभिलाषा हो, वह पूर्ण हो जाती है। यह रति भुक्ति, वैकुण्ठ एवं द्वारकाकी गति भी दे सकती है। यदि किसीको कृष्णसे पाँच रसोंमेंसे एकमें भी सम्बन्ध बनानेकी इच्छा है तो वह भी पूर्ण हो जाएगी। जैसे सख्य रसमें सुबल, श्रीदामकी भाँति या यहाँ तक कि यशोदा माँकी भाँति कृष्णके प्रति वात्सल्य रस भी। माधुर्य रसकी अभिलाषा भी आसानीसे पूर्ण हो जाएगी, चाहे यह कृष्णके प्रति अधिक झुकाववाली या श्रीमति राधिकाके प्रति हो। और यदि कोई श्रीमति राधिकाके रूप एवं रति मंजरीके भावोंसे सेवा करना चाहता है तो वह भी प्राप्त हो जाएगी। रति इतनी शक्तिशाली है कि यह सब कुछ प्रदान कर सकती है। परन्तु, केवल श्रद्धा इतनी शक्तिशाली नहीं होती, न ही निष्ठा या रुचि। इन अवस्थाओंमें उन्नत होना एक लम्बा मार्ग है। यदि किसीका गुरु है जो उसे श्रद्धा भी नहीं दे सकता एवं बादमें पतित हो जाता है तो कभी उसे रति प्राप्त होगी क्या? कभी नहीं। इसलिए हमें एक प्रामाणिक गुरुकी सेवा करनी होगी। एवं यदि हमने किसी मध्यम अधिकारीको गुरु रूपमें वरण किया है तो भी कोई हानि नहीं। आपको दिव्य ज्ञान दे सकते हैं, यहाँ दिव्य ज्ञानका अर्थ है—कृष्ण भजन (सेवा) के बिना आप कभी भी उन्नत नहीं हो सकते तथा न ही कभी आपकी सांसारिक आसक्तियाँ क्षीण होंगी। वे मध्यम अधिकारी ऐसा ज्ञान दे सकते हैं परन्तु अनुभव नहीं। किन्तु वे हमें ठीक मार्गपर निर्देशन देंगे तथा कृष्ण स्वयं इस बातको निश्चित करेंगे कि हमें श्रीरूप गोस्वामी, श्रील रघुनाथ गोस्वामी या नारद मुनि जैसे गुरु मिले जिससे कि अति शीघ्र ही हृदयमें प्रेम उत्पन्न होगा।

श्रील महाराजजीने आगे कहा कि गुरुमें क्षमता होनी चाहिए कि वे क्रमशः ये सब अवस्थाएँ हमें प्रदान कर सकें। श्रद्धा तत्पश्चात् निष्ठा एवं रुचि, नामके प्रति रुचि, कृष्ण कथा श्रवण एवं पूजनके प्रति रुचि। इसके बाद आसक्ति होगी जिस अवस्थामें ऐसा लगेगा कि यदि मैं नाम नहीं करूँगा तो अवश्य ही मर जाऊँगा। प्रामाणिक गुरुके आनुगत्यमें ये सब अवस्थाएँ प्रकाशित होनी चाहिए एवं कृष्ण भक्ति उत्तरोत्तर बढ़नी चाहिए। किन्तु यदि ऐसा नहीं होता तो वह गुरु गुरु नहीं है। लेकिन यदि उन्होंने निष्कपट रूपमें अपने गुरुके चरणोंमें एवं कृष्णके चरणोंमें समर्पित कर दिया है तो हमें उनका असम्मान नहीं करना चाहिए। साथ ही हमें निष्कपट रूपमें बलदेव प्रभु, नित्यानन्द प्रभु, श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं कृष्णके चरणोंमें समाश्रययुक्त उत्तम गुरुके लिए प्रार्थना करनी चाहिए। बलदेव प्रभु गुरु हैं—अखण्ड गुरुतत्त्व वे सब कुछ जानते हैं, वे शीघ्र ही व्यवस्था करेंगें। साधकको अवश्य ही भगवत्प्रेम प्राप्तिके लिए यत्न करना चाहिए। किन्तु यदि उसका प्रेम प्राप्तिके प्रति अत्यधिक लोभ नहीं है तो गुरु प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है। उस स्थितिमें केवल राजनीति, पार्टीबाजी तथा कूटीनाटीमें ही वह रत रहेगा। जो थोड़ी बहुत श्रद्धा है वह भी क्रमशः नष्ट हो जाएगी। इसलिए हमें यत्नपूर्वक निष्ठा, आसक्ति तथा रुचिकी अवस्थाओंको प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी होगी। हमें श्रील गुरुदेवके चरणोंमें रति प्राप्त करनेके लिए भी यत्न करना होगा। परन्तु यदि गुरु योग्य नहीं है तो हम कभी भी रति प्राप्त नहीं कर सकते।

श्रील महाराजजीने बताया कि शिक्षा गुरु एवं दीक्षा गुरु भिन्न नहीं हैं। कभी-कभी शिक्षा गुरु उत्तम भी हो सकते हैं। उदाहरणके लिए चैतन्य महाप्रभु, कृष्ण तथा रूप गोस्वामी ये सब हमारे शिक्षा गुरु हैं। परन्तु क्या हम कभी कहेंगे कि ये हमारे दीक्षा गुरुसे निम्न हैं? नहीं, हम कभी भी ऐसा अपराध नहीं करेंगे। इस प्रकार यदि हमारे शिक्षा गुरु अति उच्च कोटिके वैष्णव हैं तो हमें उन्हें अपने दीक्षा गुरुसे निम्न नहीं समझना चाहिए। किसी भी प्रामाणिक गुरुने इस प्रकारका आचरण करनेको कभी भी आदेश नहीं दिया है।

इस प्रकार श्रील महाराजजी की १५ दिनोंकी आस्ट्रेलिया प्रचार यात्रा अत्यधिक सफल रही लगभग ५० नए भक्तोंने हरिनाम एवं अन्योंने दीक्षा ग्रहण की।

आस्ट्रेलियाके उपरान्त श्रील महाराजजी बाली (इण्डोनेशिया) मलेशिया एवं सिंगापुरमें अभूतपूर्व प्रचार साफल्यके पश्चात् भारत लौट आए है।

✪✪✪

हार्दिक अभिनन्दन

।। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः।।

श्रीगौड़ीय वेदान्तसमितेः सहस्रभापतेः मदीय शिक्षा-गुरु-देवस्य
त्रिदण्डिस्वामी अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजस्य
प्राच्ये/पाश्चात्ये श्रीगौरवाणी-प्रचारान्ते स्वदेशे प्रत्यावर्त्तनमुपलक्ष्य

हार्दिकम् अभिनन्दनम्-

हे केशवानुगजन्!

गौरवाणी-प्रचारान्ते स्वदेशागमनात् परम्।
श्रेयोबुद्ध्या-सयत्नेन ज्ञापयाम्यभिनन्दनम्।।१।।
पतितपावनार्थाय महान्तः भाविताः सदा।
निजकार्यं परित्यज्य परोत्कर्षे रताः सदा।।२।।
भगवद्विमुखाः ये च ये च पातकिनः भुवि।
तेषां दुःखमोचनाय महतां भ्रमनं ध्रुवम्।।३।।
आत्मधर्म-विस्मृतानां आत्मधर्म-विवृद्धये।
केशवे भक्ति-विवृद्धौ साधूनां तु परिक्रमा।।४।।
भवतः भ्रमणं साधो प्रमोद-भ्रमणं न हि।
अतो वयं विज्ञापितं हार्दिकमभिनन्दनम्।।५।।
श्रीमद्भक्तिप्रज्ञानस्य गोस्वामी-केशवस्य च।
मनोभीष्टप्रचारैव जीवनस्य व्रतं तव।।६।।
स्वसुखं तृणवन्मत्ता वेदान्तस्य प्रचारकः।
अतस्त्वं धन्यवादार्हः इति सत्यं न संशयः।।७।।
श्रीचैतन्यमहाप्रभोः वाणी-प्रचार-मानसे।
भवतः भ्रमणं प्राच्ये पाश्चात्ये च सुनिश्चितम्।।८।।

हे परोपकारिण्!

श्रीचैतन्यामृतवाण्याः अविकृतप्रचारकः।
तस्मात् केशव-भक्तास्तु आनन्दिताः सदाभुवि।।९।।
विश्वभरण-कर्त्ता हि विश्व-विश्वम्भरः स्वयम्।
शुद्धाभक्ति प्रदानेन विश्वस्य भरणं-कृतम्।।१०।।

तस्य मार्गं पुरस्कृत्य विश्वस्य मङ्गलं कुरु।
प्रेमवन्या प्लवेनैव प्लावितं कुरु सर्वदा।।११।।
भवतः विजयं मन्ये जगद्वासी–कृते सदा।
गौरभक्ताः प्रशंसन्ति विश्वबन्धु भवान् स्वयम्।।१२।।
पूर्वजन्म सुकृत्या ये भारतः गौरवं गताः।
तेषामन्यतमस्त्वं हि मान्यानामिति वासना।।१३।।
समग्र भारतवर्षे ये चासन् दीनसेवकाः।
तेषामन्यतमस्त्वं हि मान्यानामिति वासना।।१४।।
पराभक्ति–प्रकाशय यः चिन्तयति सर्वदा।
नास्ति भीतिः कदा तस्य जयं तस्य सुनिश्चितम्।।१५।।

हे पाश्चात्य-प्राच्य-विजयिन्!

आमेरिका–अस्ट्रेलिया–इंग्लेण्डे वा विशेषतः।
एसियाया बहुस्थाने प्रचारं कृतवान् भवान्।।१६।।
तत्रस्था मृत्तिका पूता पूतं मानवजीवनम्।
कृष्णभक्ति–प्रभावेन पूतं जीवकूलं सदा।।१७।।
भवतः करुणा–वारि जीवकूलस्य–रक्षकः।
कारुण्य–वारिणा धन्याः सर्वे–जीवाः महीतले।।१८।।
भवदीय उदारता ताञ्च सुनिर्मलं कुरु।
मादृशानां अधमानां इति विनम्र प्रार्थना।।१९।।
भवतः करुणा–वारि अन्ते भिक्षा करोम्यहम्।
कृष्णभक्ति प्रदानेन कृष्णभक्त्या सदावतु।।२०।।
भवान् विश्वस्य सर्वत्र राधारानी कृपावशात्।
सदा रूपानुगा–भक्तिं वितरति प्रतिदिनम्।।२१।।
कणामात्र तस्य दाने शून्यता पूरयतु मे।
अनुदाने कृतार्थोहं भविष्यमिति निश्चितम्।।२२।।
पूज्यपाद महाराज परिशेषे निवेदनम्।
गुर्वादीनां सेवा एव भवतु सम्बलं मम।।२३।।

श्रीगौड़ीय वेदान्त चतुष्पाठी
नवद्वीप (नदीया)
फाल्गुनस्य प्रथम दिवसः

विनयावतस्य
श्रीवैष्णवचरण–सेवाभिलाषिणः
श्रीनिकुञ्जविहारी ब्रह्मचारिणः

✪✪✪

वैष्णव व्रत तालिका

१८ चैत्र	१ अप्रैल	बुधवार	श्रीरामानुजाचार्यजीका आविर्भाव।
२२ चैत्र	५ अप्रैल	रविवार	श्रीरामनवमी व्रत, अगले दिन ९–३६ से पहले पारण।
२४ चैत्र	७ अप्रैल	मंगलवार	कामदा एकादशी व्रत, अगले दिन ९–३५ से पहले पारण।
२८ चैत्र	११ अप्रैल	शनिवार	पूर्णिमा।
८ वैशाख	२२ अप्रैल	बुधवार	श्रीवृन्दावनदास ठाकुरजीका तिरोभाव।
९ वैशाख	२३ अप्रैल	गुरुवार	वरुथिनी एकादशी व्रत, अगले दिन ७–२७ से पहले पारण।
१२ वैशाख	२६ अप्रैल	रविवार	अमावस्या।

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४२ } श्रीगौराब्द ५१२
विक्रम संवत् २०५५–५६ वैशाख मास, सन् १९९८, १२ अप्रैल– ११ मई { संख्या २

श्रीश्रीदशावतार–स्तोत्रम्

(श्रीजयदेव–विरचितम्)

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदं, विहितवहित्र–चरित्रमखेदम्।
केशव धृतमीनशरीर जय जगदीश हरे।।१।।
क्षितिरिह विपुलतरे तिष्ठति तव पृष्ठे, धरणिधरणकिण–चक्रगरिष्ठे।
केशव धृतकूर्मशरीर जय जगदीश हरे।।२।।

प्रलयकालीन समुद्रकी अगाध जलराशिमें बिना प्रयास ही वाहक रूपमें वेद–भारका आपने वहन किया है। हे मीन शरीरधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो।।१।।

भूभार–वहनके चिह्नरूप अङ्कित चक्र–समूहसे गौरवान्वित आपकी अत्यन्त विशाल पीठपर भूमण्डल विराजमान है। हे कच्छपरूपधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो।।२।।

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना
शशिनि कलङ्ककलेव निमग्ना।
केशव धृतशूकररूप जय जगदीश हरे।।३।।

तव करकमलवरे नखमद्भुतशृङ्गं
दलितहिरण्यकशिपुतनुभृङ्गम्।
केशव धृतनरहरिरूप जय जगदीश हरे।।४।।

छलयसि विक्रमणे वलिमद्भुत वामन
पदनखनीरजनितजनपावन।
केशव धृतवामनरूप जय जगदीश हरे।।५।।

क्षत्रियरुधिरमये जगदपगतपापं
स्नपयसि पयसि शमितभवतापम्।
केशव धृतभृगुपतिरूप जय जगदीश हरे।।६।।

वितरसि दिक्षु रणे दिक्पतिकमनीयं
दशमुख मौलिबलिं रमणीयम्।
केशव धृतरामशरीर जय जगदीश हरे।।७

वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभं
हलहतिभीतिमिलित–यमुनाभं।
केशव धृतहलधररूप जय जगदीश हरे।।८।।

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदयहृदय दर्शित–पशुघातम्।
केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे।।९।।

म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करवालम्
धूमकेतुमिव किमपि करालम्।
केशव धृतकल्किशरीर जय जगदीश हरे।।१०।।

श्रीजयदेवकवेरिदमुदितमुदारं
शृणु सुखदं शुभदं भवसारम्।
केशव धृतदशविधरूप जय जगदीश हरे।।११।।

आपके दशनके अग्रभागमें पृथ्वी इस प्रकार अवस्थित है जैसे चन्द्रमें कलंक–रेखा। हे शूकररूपधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो।।३।।

आपके करकमलोंमे हिरण्यकशिपुके शरीरको विदीर्ण करनेवाली अत्यन्त तीक्ष्ण नख विराजमान हैं। हे नृसिंहरूपधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो।।४।।

हे विचित्र वामन! आपने अपने पद–प्रक्षेपसे दैत्यराज बलिकी छलना की है। अपने पद–नख–सलिलसे अर्थात् भगवती गंगाके जलसे संसारको पवित्र करनेवाले हे वामनरूपधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो।।५।।

आपने क्षत्रियोंके शोणितरूप जलराशिमें जगत्को निष्पाप और भवताप–रहित कर स्नान कराया है। हे भृगुपतिरूपधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो।।६।।

आपने रणाङ्गणमें दिक्पालोंके अभीष्ट और मनोहर दशानन रावणके दसमुण्डरूप उपहारको विभागकर दसों दिशाओंको वितरण किया है। हे रामरूपधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो।।७।।

आपे अपने उज्ज्वल शरीरपर हलके आघातके भयसे प्राप्त हुई यमुनाकी कान्ति जैसे मेघ–श्याम वस्त्रको धारण किया है। हे हलधररूपधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो।।८।।

अहो! करुणहृदय! आप पशुबध निर्देशक यज्ञीय वेद–मन्त्रोंकी निन्दा करते हैं। हे बुद्धशरीरधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो।।९।।

म्लेच्छोंके विनाशके लिए धूमकेतू जैसी अतीव विकराल खड्गको आपने धारण किया है। हे कल्किरूपधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो।।१०।।

हे दशावतार रूपधारी केशव! हे जगदीश हरे! आपकी जय हो। हे मानव! श्रीजयदेव कविके कीर्त्तित इस मनोहर सुखद कल्याणप्रद और संसारके सारस्वरूप स्तोत्रका श्रवण करो।।११।।

वेदानुद्धरते जगन्ति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं दलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः।।१२।।

वेदराशिके उद्धारकारी, जगन्मण्डलके वहनकारी, भूमण्डलके उत्तोलनकारी, दैत्यके विदारणकारी, दैत्यराज बलिके छलनकारी, क्षत्रियोंके विध्वंसकारी, रावणके पराभवकारी, हलरूप अस्त्रधारी, करुणाराशिके विस्तारकारी और म्लेछोंके विनाशकारी—इन दस प्रकारके रूपोंके प्रकाशकारी श्रीकृष्णचन्द्र स्वरूप आपको नमस्कार है।।१२।।

✪✪✪

प्रतिकूल मतवाद

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'

प्रतिकूल मतवादीका विचार–पत्र

एक माननीय पत्र लेखकने लिखा है—"मेरी समझसे भक्तिका अनुशीलन केवल नीरव और निर्जनमें ही किया जा सकता है। उसके लिए किसी प्रकारकी सभा–समिति या आन्दोलन करना भक्तिका विरोधी है—ऐसा मेरा अनुमान है। इसका कारण यह है कि उससे प्रचार अथवा प्रतिष्ठाकी भावना आ सकती है, जो भक्ति–पथमें बाधा–स्वरूप है। क्योंकि श्रीचैतन्य देवने जीवोंको मानशून्य होनेके लिए उपदेश दिया है तथा विश्वमें सभीको माननीय समझकर उन्हें सम्मान देनेके लिए कहा है।"

उत्तर—

महाभागवत और भागवतका अधिकार

भक्तोंकी तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं—(१) कनिष्ठ भागवत (२) मध्यम भागवत (३) उत्तम या महाभागवत। इनमें जीवमात्रको सम्मान देनेका अधिकार केवल महाभागवतोंका है। मध्यम भागवत श्रेणीके भक्तोंके क्षेत्रमें श्रीकृष्णसे प्रेम, हरिजनोंसे मित्रता, अज्ञ लोगोंके प्रति अनुग्रह तथा विद्वेषियोंकी उपेक्षा करना ही भागवत जीवनका आदर्श है। जीव जिस अधिकारमें रहकर कृष्णका अनुशीलन करता है, उस अधिकारके अनुसार ही उसकी निष्ठा होनी चाहिए। वैसी निष्ठा ही उसके भजनमें सहायक होती है। अधिकारमें उलट–फेर होनेपर वही दोषके रूपमें बदल जाता है।

अज्ञान दूर करना मध्यम भागवतका ही कर्तव्य है

जिन्हें निरपेक्ष भावसे भक्तिके स्वरूपकी आलोचना करनेका अवसर नहीं मिला है, उनकी सहायताके लिए श्रीकृष्ण–प्रेम–प्रदाता महावदान्यवर श्रीगौरसुन्दरने उपर्युक्त विचारोंका प्रचार स्वयं अपने मुखारविन्दसे किया तथा स्वशिक्षित अप्राकृत शक्ति–सम्पन्न श्रीरूपादि आचार्यवर्गके द्वारा विश्वभरमें करवाया है। उसी सर्वमान्य सिद्धान्त ज्ञानके अभावमें हम बहुधा स्वार्थपरताके वशीभूत होकर कपोल–कल्पित सापेक्ष विचारोंको व्यक्त कर अपनी अनभिज्ञताका परिचय देते हैं। फिर, कभी वैसे विचारोंकी असारता संदर्शन करनेका सौभाग्य उदय होनेपर उनसे निरपेक्ष हो सकते हैं। यदि मध्यम भागवत किसी प्रतिकूल धर्मकी आलोचना करता है तो इसका अर्थ न तो उस धर्मके महापुरुषोंका अपमान है ओर न अपने भागवत क्षेत्रके अधिकारोंका उल्लंघन। मध्यम भागवतके अधिकारमें अनभिज्ञ लोगोंकी उपेक्षा करनेका विधान नहीं है, बल्कि जीवोंकी भक्तिबाधक अज्ञानराशिको दूर करनेका विधान अवश्य है।

अहैतुकी उत्तमा भक्ति ही अभिधेय और

पञ्चम पुरुषार्थ है

श्रीगौरसुन्दरके श्रीमुखकी वाणियोंसे हम जान पाते हैं कि श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य मायिक अभिलाषाको दूर कर, निर्भेद ब्रह्मज्ञानका आवरण, नित्य, नैमित्तिक आदि जीवोंके कर्मफल–प्रसव करनेवाले भोगोंके आवरण तथा शिथिलता आदिके आवरणसे उन्मुक्त होकर अनुकूल भावसे श्रीकृष्णकी सेवाको शुद्धा अहैतुकी उत्तमा भक्ति कहा जाता है। श्रीकृष्णप्रेमरूप प्रयोजन सिद्धिका अभिधेय और निरपेक्ष जीवोंका एकमात्र परम पुरुषार्थ भक्ति ही अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चतुर्वर्गोंसे परे पंचम पुरुषार्थ है। उस भक्तिकी तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम।

अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान और शैथिल्य आदि अनर्थसमूह भक्तिके बाधक हैं और साधु–संगके प्रभावसे उनका दूरीकरण

साधन अवस्थाके प्रारम्भमें श्रीकृष्ण विमुखता जैसे अनर्थसमूह जीवको भक्तिनिष्ठ होनेमें विघ्न डालते हैं। ऐसे अनर्थोंको चार भागोंमें बांटा गया है (१) अन्याभिलाष, (२) फल भोगमय कर्मका आवरण (३) फल त्यागमय ज्ञानका आवरण (४) कृष्ण–सेवामें उदासीनतारूप शिथिलताका आवरण। जीव इन अनर्थोंके हाथोंमें पड़कर प्रलापग्रस्त रोगीकी तरह अपनी चिकित्साके लिए कितने ही प्रकारसे रोग–मुक्तिकी कल्पनाएँ करता है किन्तु उससे रोग शान्ति होना तो दूर रहा उत्तरोत्तर रोगरूप उपाधि बढ़ती ही जाती है। इसलिए स्वार्थका परित्यागकर निष्किंचन साधुओंके आश्रयमें ही कृष्ण–अनुशीलनकी व्यवस्था दी गई है—यह श्रीगौरहरिका प्रकाशित पारलौकिक रहस्य है। साधुसंग करनेसे असाधुसंगका आकर्षण जीवको पराभूत नहीं कर सकता है। केवलाद्वैत पंथियोंका निर्भेद ब्रह्मज्ञान, स्वेच्छाचारियों अथवा पुण्यमय कर्मियोंका इहलोक–परलोकका फलभोग या शैथिल्य जीवोंके अनर्थ हैं। साधुसंगके प्रभावसे ये अनर्थसमूह दूर होते हैं।

अनर्थयुक्त अवस्थामें निर्जन–भजन भक्तिका मार्ग नहीं

ऐसे अनर्थोंका मल उदरमें पूर्ण रखकर उनके बाहर निकलनेका पथ बन्द कर जीवोंमें नीरव और निर्जन होनेका सामर्थ्य नहीं है। नीरवता या निर्जनताका ढोंग दिखलानेपर भी वास्तवमें भक्तिका अवांतर फल शब्दरहित या जनरहित सम्भव नहीं है। कृत्रिम साधनोंकी अकर्मण्यता—विश्वमें सभ्यता विस्तारके आदिम कालसे आरम्भ कर वर्तमान समय तकके इतिहासमें जाज्वल्यमान रूपसे प्रमाणित होती आयी है। ऐसा छलनामूलक पथ भक्ति मार्गमे स्वीकार नहीं किया गया है।

प्राकृत निर्जनता और प्राकृत नीरवता भक्तिके विरोधी हैं

भीमभट्ट जैसे कर्मवादियोंके फलसे निराश होकर यदि कोई भक्तिविरोधी जीव मौन होकर एकान्त वनमें जाकर रहे ओर इतनेसे ही यह समझे कि मुझे कृष्ण भक्ति हो गई है तो ऐसा समझना उसकी बड़ी भारी भूल है। मौन और निर्जन अवस्था कर्मफलके अधीन जीवके लिए आकाश–कुसुम या शश–शृंगकी तरह असम्भव है। कृष्ण–भक्ति उदित होनेपर जीव मध्यम भागवत–अधिकारमें पहुँच जाता है। भागवत अधिकार प्राप्त करनेके साथ–ही–साथ प्राकृत विषयीजनका संग तथा प्राकृत उपदेशकों या विचारकोंका कुसंग आप ही छूट जाता है, तब वह जीव शुद्ध भक्तोंकी मण्डलीमें कृष्ण सम्बन्धी वार्तालाप करनेके योग्य हो सकता है। भक्त प्राकृत निःसंग या प्राकृत नीरवतारूप मौन–धर्मको भक्तिका विरोधी समझता है। ऐसे मौन ओर निर्जन दोनों धर्म भक्तिके अनुकूल नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों धर्म ही असत् अर्थात् नित्य काल स्थायी नहीं हैं। जो काल द्वारा क्षुब्ध है वही फिर वैकुण्ठ कैसे हो सकता है? भक्तके लिए निःसंगकी अपेक्षा साधुसंग

लाभदायक है। साधुसंगसे कुसंगका दोष और नाना मतवादोंकी मूढ़ता दूर हो जाती है। निर्विशेषवादी जिदके वशमें होकर जिन मतवादोंका प्रचार करते हैं, 'न निर्विण्णो नातिसक्तः भक्तियोगस्य सिद्धिदः'[१] और 'आधिक्ये न्यूनतायाञ्च च्यवते परमार्थतः'[२] ये दोनों श्लोक इस प्रसंगमें धीर भावसे आलोचनीय हैं।

भक्तिके प्रचार और प्रतिष्ठामें ही सभा–समितियोंकी सार्थकता है।

जगतमें सभा–समितियोंका यदि कुछ फल है तो वह हरिभक्तिके प्रचार और प्रतिष्ठाके उद्देश्यसे ही होना उचित है। यदि सभा–समितियोंके अनुष्ठान हरिभक्तिके उद्देश्यसे नहीं होते तो वैसे सभा–समितियोंकी कुछ आवश्यकता नहीं है। कुछ प्राचीन ढंगके सकाम कर्मियोंका कहना है कि प्राचीन कालमें सभा–समितियाँ नहीं थीं। किन्तु श्रीचैतन्यचरितामृतके पाठक इष्टगोष्ठीके (सत्संगके) विषयमें अवगत हैं। श्रीमद्भागवतें भागवत–श्रवण–सभाकी बात आपलोगोंसे छिपी नहीं है। श्रवण और कीर्तन ही साधनकी चरम सीमा हैं—श्रीगौरहरि तथा श्रीभागवतजन जगतके लिए सर्वदा यही उपदेश प्रदान करते हैं। पाञ्चरात्रका उपदेश है—

सुरर्ये विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तथा भक्तिपरा भवेत्।।

अर्थात् हे नारद! हरिके उद्देश्यसे शास्त्रमें जिन–जिन क्रियाओंका विधान दिया गया है साधु लोग उन्हें वैधी–भक्ति कहते हैं। इसी वैधी–भक्तिका पालन करनेसे प्रेम–भक्ति प्राप्त होती है।

प्राकृत मौन–अमौन और जनयुक्त या निर्जन धर्म भक्तिके प्रतिकूल हैं

मूक और जड़ होनेसे ही भक्ति होती है—ऐसा कोई भी विज्ञ नहीं कहते। नीरवता और निर्जनता दोनों ही प्राकृत धर्म हैं। भक्ति अप्राकृत वस्तु है। अतएव प्राकृत शब्द–त्याग अथवा प्राकृत शब्द–ग्रहण दोनों ही भक्तिके प्रतिकूल हैं, प्राकृत जनसंग या प्राकृत जन–राहित्य दोनों ही भक्तिके प्रतिकूल हैं। इसलिए खूब ऊँचे स्वरसे अप्राकृत कृष्णनामका कीर्तन करना चाहिए। 'मैं ज्ञानी विचारक हूँ' ऐसे निजभोगपर अव्यक्त वाक्–वेग अर्थात् विषयोंकी चर्चा परित्याग कर मौनी (केवल हरि कीर्तनकारी) बन जाओ—यही सभी विचारोंकी सर्वशेष बात है। चैतन्य महाप्रभुने कहा है—

जारे देख, तारे कह 'कृष्ण–उपदेश।
आमार आज्ञाय गुरु हइआ तार' एई देश।।
कभु ना बाधिबे तोमार विषय–तरंग।
पुनरपि एई ठाँई पाबे मोर संग।।
× × ×
एइ मत जार घरे करे प्रभु भिक्षा।
सेई ऐछे कहे, ताँरे कराय एई शिक्षा।।

(चै. च. म. ७/१२८–१३०)

अर्थात् जिसको देखो उसे 'कृष्णनामका उपदेश प्रदान करो। मेरी आज्ञासे पहले गुरु होकर तत्पश्चात् समस्त देशका उद्धार करो। तुम्हारे इस पथमें विषयकी तरंगे बाधा नहीं दे सकती हैं। तुम पुनः इसी जगह मेरा संग पाओगे। इसी प्रकार महाप्रभु जिनके घर भिक्षा करते, उन्हें यही उपदेश प्रदान करते थे तथा वे लोग भी ऐसा ही कहते ओर करते थे।

नीरव भजनके विरोधमें श्रीजीव गोस्वामीपाद

श्रीजीव गोस्वामीने नीरव भजनका विरोध करते हुए कीर्तनके सम्बन्धमें लिखा है—*'नामकीर्तनञ्चेदं*

---

१) जिनका विषयोंमें वैराग्य अथवा उनमें अति आसक्ति नहीं हैं, उन लोगोंका ही भक्तियोग सिद्ध होता है।

२) आवश्यकतासे अधिक या कमीके कारण परमार्थसे पतन हो जाता है।

उच्चैरेव प्रशस्त'। नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन्नित्यादौ। अत्र यथोपदिष्टः कलियुग पावनावतारेण श्रीभगवता—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरि रिति।।

यद्यन्या भक्तिः कलौ कर्तव्या तदा कीर्तनाख्याभक्ति–संयोगेनैवेत्युक्तम्।'

अर्थात् नामकीर्तन उच्चस्वरसे करना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि शास्त्रोंमें ऐसा लिखा है कि भगवान श्रीअनन्तदेवका नाम लज्जा परित्यागकर उच्च स्वरसे लेना चाहिए। इस विषयमें कलियुग पावनावतारी श्रीभगवानने उपदेश दिया है—तृणकी अपेक्षा भी क्षुद्र, वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक सहिष्णु होकर स्वयं मानहीन और दूसरोंको मान देकर सर्वदा श्रीहरिनामका कीर्तन (नीरव नहीं) करना चाहिए। कलियुगमें यदि अन्य कोई दूसरी भक्ति (भक्तिके ६४ अंग होते हैं, उनमें कीर्तनको छोड़कर अन्य कोई एक अंगरूप भक्ति) करना भी पड़े तो कीर्तनाख्या भक्तिके साथ ही उन्हें करना चाहिए—ऐसा कहा गया है।

मायावादके प्रचारकी प्रतिष्ठा प्रचार–प्रतिष्ठाका चरम दोष है

जहाँ हरिकथाका कीर्तन नहीं होता, जहाँ हरिकथाका प्रचार नहीं, वही पर ध्यानादि कृत्रिम विषयोंकी चर्चा प्रबल होती है। जहाँपर भक्तोंका संग नहीं है वहाँ मायामें फँसे बद्ध जीवोंकी सभा–समितियाँ होती हैं। जहाँ कीर्तन नहीं, पक्षान्तरमें जहाँ फल्गु–वैराग्यकी बातें वंचित समाजको ठगनेमें समर्थ होती हैं, वहाँ अप्राकृत युक्त–वैराग्य नहीं है। फल्गु–वैराग्य प्राकृत विषय है, इसलिए जीवोंका किसी प्रकार भी कल्याण करनेमें समर्थ नहीं होता है। फल्गु–वैराग्यके अधीन होकर कृष्ण सेवाको एक बराबर समझनेसे जिस विषपूर्ण मायावादका आश्रय करना हो जाता है उसकी उपलब्धि साधुसंगके बिना जीव कैसे कर सकता है? भक्त, साधुसंग परित्यागकर अपने कल्पित विचाररूप असाधु–भावोंको हृदयमें पोषण कर अपनेको निःसंग और मौनी समझकर क्या वह मायिक प्रतिष्ठा और प्रचारकी सेवा करनेसे बच सकता है? मायाके प्रचार अथवा मायावादके प्रचारके फलस्वरूप भक्ति–प्रचार और भक्ति प्रतिष्ठाको जड़से उखाड़ फेंकनेकी असत् इच्छा क्या प्रचार या प्रतिष्ठाके हेयत्वकी चरम सीमा नहीं है?

शुद्धा भक्तिके प्रचारकोंमें प्रतिष्ठा–विष्ठाकी कामना नहीं होती

भक्त, भगवान ओर भक्तियोगमें अचिन्त्य–द्वैताद्वैत नित्य भावमय सम्बन्ध है। नित्य भक्तिसे विमुख होकर अभक्तिका आदर्श निर्भेद–ब्रह्मज्ञान, नित्य–नैमित्तिक भोग्य कर्मवाद और सेवा–शैथिल्यवादका आदर कर भक्तिविरोधी स्वार्थपर वृत्तिरूप अवैध–साधन करनेसे जीवका कल्याण किस प्रकार हो सकता है? यदि जीव अनात्म विवेकके बलपर विरूपबुद्धिसे (माया द्वारा अशुद्ध बुद्धिसे) अपनेको मुमुक्षु, बुभुक्षु या उदासीन मानकर अपनी मायिक प्रतिष्ठा या प्रचारकी उत्कट कामनाके वशवर्ती होकर अप्राकृत श्रवण–कीर्तनाख्या भक्तिके प्रतिकूल भावको हृदयमें भूलसे पोषण करता है और भक्तोंमें प्रतिष्ठारूपी विष्ठा हो सकती है—ऐसी भ्रान्त धारणा करता है, तो भक्तोंको उसे आत्मघाती जानकर चुप हो जाना चाहिए। श्रील भक्तिविनोदने कहा है—

''वैष्णव चरित्र, सदा पवित्र, जेई निन्दे हिंसा करि।
भकतिविनोद, ना सम्भाषे तारे, थाके सदा मौन धरि।।

अर्थात् वैष्णवोंका चरित्र सर्वदा पवित्र होता है। जो व्यक्ति ऐसे वैष्णवोंकी निन्दा करते हैं, भक्तिविनोद ठाकुरजीका कहना है—मैं ऐसे व्यक्तियोंसे बात नहीं करता, मैं उनके निकट सर्वदा मौन धारण कर रहता हूँ।

श्रीरूप गोस्वामीने अपने 'उपदेशामृत' में अत्याहार, प्रयास, प्रजल्प, नियमाग्रह, जनसंग और लौल्य—इन छः होंको भक्तिका बाधक बतलाया है। इनके विषयमें पृथक्–पृथक् रूपमें विवेचन किया गया है। सम्प्रति तीसरे श्लोकमें वे भक्ति–साधक

✪✪✪

उत्साह

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

छः विषयोंका वर्णन कर रहे हैं।

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात् तत्तत्कर्म प्रवर्त्तनात्।
सङ्गत्यागात् सतोवृत्तेः षडभिर्भक्तिः प्रसिद्ध्यति।।

—इन छःहों विषयोंका विवेचन अलग-अलग रूपमें होना आवश्यक है। अतएव यहाँ उत्साहके सम्बन्धमें लिखा जा रहा है।

उत्साह किसे कहते है?

उत्साहके अभावमें भजन-क्रिया शिथिल पड़ जाती है। जाड्य, आलस्य या निर्वेदसे शिथिलता पैदा होती है। आलस्य और जड़ताको ही जाड्य कहते हैं। उत्साह पैदा होनेपर आलस्य और जड़ता दूर हो जाती हैं। चित्-धर्मके विपरीत अवस्थाका नाम 'जड़ता' है। अतएव जड़ताको शरीर या हृदयमें स्थान देनेसे भजन किस प्रकार सम्भव हो सकता है? यत्नके अभावमें उदासीनता पैदा होती है।

भक्तियोगका साधन अनिर्विण्ण चित्तसे करना होता है। गीताकी यही आज्ञा है—

तं विद्याद् दुःख-संयोग-वियोगं योग-संज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण-चेतसा।।

(६/२३)

इस श्लोकके भाष्यमें श्रीबलदेव विद्याभूषण महाशयजीने कहा है—"आत्मन्य-योग्यत्व-मननं निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा।" जिस कार्यके लिए अपनेको अयोग्य समझा जाता है, उसी कार्यमें निर्वेद उपस्थित होता है। उस प्रकारके निर्वेदसे सर्वथा रहित होकर उत्साहपूर्वक भक्तियोगका साधन करना चाहिए। भक्तियोगके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कहा गया है—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्ण-चित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्।।
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।

(श्रीमद्भा. ११/२०/७-८)

हे उद्धवजी! जो लोग कर्मों तथा उनके फलोंसे विरक्त हो गए हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्तमें कर्मों और उनके फलोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, उनमें दुःख-बुद्धि नहीं हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोगके अधिकारी हैं।

जो पुरुष न तो अतयन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा किसी पूर्वजन्मके शुभकर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीलाकथा आदिमें उसकी श्रद्धा हो गयी है, वह भक्तियोगका अधिकारी है। उसे भक्तियोगके द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है।

परमार्थ-साधनके प्रकारभेद—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग

परमार्थ-साधक चित्तकी अवस्थाओंके तारतम्यानुसार तीन प्रकारके होते हैं—(१) निर्विण्ण-चित्तवाले, (२) अनिर्विण्ण चित्तवाले और (३) निर्वेद अर्थात् आसक्तिरहित चित्तवाले साधक। योग भी तीन प्रकारका होता है—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। निर्विण्ण चित्त अर्थात् कर्म और कर्मफलोंसे विरक्त पुरुषोंके लिए ज्ञानयोग श्रेयः होता है। अनिर्विण्णचित्त अर्थात् कामनायुक्त पुरुष कर्मयोगके अधिकारी हैं तथा अनिर्विण्ण और अनासक्त पुरुषोंको सौभाग्यवश जब मेरी लीला-कथादिके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, तब वे भक्तियोगके अधिकारी हैं।

तात्पर्य यह कि जो केवल जड़ीय कर्मोंके प्रति विरक्त तो हो गए हैं, किन्तु जड़ातीत अप्राकृत क्रियाकी अनुभूति प्राप्त नहीं कर सके हैं, उनके चित्तमें सिवा कोरी विरक्तिके और रह ही क्या

सकता है? निर्भेद बह्मज्ञान ही उनके लिए चरम प्राप्तिका विषय होता है।

जिनको न तो जड़ीय कर्मोंके प्रति विरक्ति ही है और न जड़ातीत चिन्मय क्रियाकी अनुभूति ही प्राप्त है, उनके लिए चित्तशुद्धिकारक कर्मयोगके अतिरिक्त और कोई गति नहीं है।

जिन्होंने जड़ीय कर्मोंको अतयन्त हेय समझ लिया है तथा जिन्हें चित्–क्रियाकी अनुभूति भी प्राप्त हो गई है, वे समस्त जड़ कर्मोंके प्रति उदासीन होकर भी चिदानुभूति उदित करानेके लिए कुछ–कुछ जड़ कर्मोंको सहायकके रूपमें अंगीकार करते हैं। किन्तु उन कर्मोंमें उनकी आसक्ति नहीं होती। भक्तिपर्वमें जितनी ही अधिक चिदालोचना होगी, जड़–विषयोंसे उतनी ही अधिक मुक्ति मिलती जाएगी। जड़ विषयोंसे मुक्त होना—भक्तिका अवान्तर फल है। श्रीमद्भागवतमें भक्ति–योगियोंका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः।।
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्।।

(श्रीमद्भा. ११/२०/२७–२८)

काम (कामना) से कर्मका, निर्वेदसे ज्ञानका और भगवत् सम्बन्धी श्रद्धासे भक्तिका उदय होता है।

भक्तियोगीका आचरण

श्रद्धावान् पुरुष स्वभावतः समस्त जड़–कर्मोंसे विरक्त होता है। वह केवल उन्हीं कर्मोंको उतनी ही मात्रामें अङ्गीकार करता है, जो कर्म जितने अंशोंतक भगवत् श्रद्धाके अनुकूल होते हैं। शरीर नहीं रहनेसे भक्तिका साधन नहीं होता। शरीरकी रक्षाके लिए जिन–जिन कर्मोंकी आवश्यकता होती है, उन दुःखात्मक काम–कर्मोंका परित्याग करनेसे शरीरकी रक्षा कैसे हो सकती है? और शरीर नष्ट होनेसे साधन सम्भव नहीं। इसलिए साधारण लोगोंके लिए दुःखफल–जनक कर्मोंको हेय जानकर निन्दा करते–करते अनासक्त भावसे भोगना तथा उनसे जीवन निर्वाह करते हुए दृढ़ विश्वाससे युक्त होकर भक्तियोग द्वारा मेरा भजन करना ही कर्त्तव्य है। जो जड़ कर्मोंके द्वारा प्राप्त विषय–भोगरूप फलका अतिशय आदरके साथ भोग करते हैं, वे कर्मासक्त कहलाते हैं। किन्तु कर्मफलके प्रति अनादरका भाव रखकर उनमें स्थित भगवद्भक्ति–साधक वृत्तिका आदर करते हुए जो भक्तिके कर्मोंको स्वीकार करते हैं, वे अनासक्त कहलाते हैं, ये लोग कर्मोंमें तो अनासक्त होते हैं किन्तु भक्तिके विषयमें परम उत्साहसे कार्य करते हैं।

भक्ति–साधकोंकी क्रमोन्नति

अब भगवद्भक्तिके साधकोंकी क्रमोन्नतिके सम्बन्धमें कहते हैं—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते।।
भिद्यते हृदय–ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य–कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि।।
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्।।

(श्रीमद्भा. ११/२०/२९,३०,३५)

—इस प्रकार मेरे बतलाए हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं, तब तो उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न–भिन्न हो जाते हैं और कर्म वासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं। जीवोंके लिए यही निरपेक्षतारूप सबसे श्रेष्ठ और महान निःश्रेयस (परम कल्याण) है।

तात्पर्य यह कि हृदयके अन्दर अवस्थित काम–रोग तथा अविद्याको दूर करनेके लिए कोई दूसरी चेष्टा करनी निरर्थक है। भगवदनुशीलन रूप

भक्तियोगका अवलम्बन करनेसे अविद्या, काल, कर्म, जीवोंका समस्त संशय और कर्म-बन्धन सब कुछ भगवानकी कृपासे दूर हो जाता है। किन्तु ज्ञान और कर्मसे ऐसा नहीं होता। इसलिए अन्यान्य कामनाओं और आशाओंका परित्याग कर निरपेक्ष होनेपर हृदयमें शुद्ध भक्ति उदित होती हैं।

भजन-क्रिया दो प्रकारकी होती है— निष्ठिता और अनिष्ठिता

हममें कर्मका नाश करनेकी शक्ति नहीं है—ऐसा सोचकर हमें निरुत्साहित होना अनुचित है। भक्तिके प्रारम्भमें ही साधकमें उत्साहसे युक्त श्रद्धा होनी आवश्यक है। भजन क्रिया दो प्रकारकी होती है—निष्ठिता और अनिष्ठिता। साधु-संगमें श्रद्धापूर्वक भजन करते-करते निष्ठा उत्पन्न होनेपर भजन-क्रियाकी संज्ञा 'निष्ठिता' होती है। जबतक निष्ठिता-भजन-क्रिया आरम्भ नहीं होती, तबतक 'अनिष्ठिता भजन-क्रिया ही चलती रहती है। इस भजन-क्रियामें उत्साहमयी, घन-तरला, व्यूढ़-विकल्पा, विषय-संगरा, नियमाक्षमा और तरंग-रंगिणी—ये छः अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं।

अनवधानरूप अपराध

'हरिभक्ति-विलास' में 'प्रमाद' को एक प्रकारका नामापराध माना गया है। उसी ग्रन्थमें 'प्रमाद' शब्दका अर्थ 'अनवधानता' बतलाया गया है। 'श्रीहरिनाम-चिन्तामणि' ग्रन्थमें उक्त अनवधानताके तीन भेद कहे गए हैं—उदासीनता, जड़ता और विक्षेप। जबतक इन तीनों अनवधानोंसे छुटकारा न मिल जाय, तबतक किसी भी दशामें हरिभजन नहीं हो सकता। दूसरे-दूसरे समस्त अपराधोंके दूर होनेपर भी जबतक अनवधानता वर्तमान रहती है, तबतक हरिनाममें कदापि रुचि उत्पन्न नहीं हो सकती। भजनके प्रारम्भमें यदि उत्साह रहे और वह उत्साह यदि शिथिल न हो जाय, तब नाम-भजनमें कभी भी उदासीनता, आलस्य या विक्षेप पैदा नहीं हो सकते। अतएव उत्साह ही समस्त भजनोंका सहायक है।

उत्साहमयी भजन-क्रियासे ही क्रमशः निष्ठा उत्पन्न होती है।

भजन-क्रिया उत्साहमयी होनेसे अल्पकालमें ही अनिष्ठिता धर्म दूर कर वह निष्ठा-अवस्थाको प्राप्त हो जाती है। श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजन क्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।।

अर्थात् श्रद्धाके उदय होनेपर भजनमें अधिकार उत्पन्न होता है। भजनाधिकार उत्पन्न होनेपर साधुसंग होने लगता है। साधुसंगमें भजन-क्रिया प्रारम्भ होती है। पहले पहल भजनमें निष्ठा नहीं रहती, क्योंकि उस समय दूसरे-दूसरे अनर्थ हृदयमें भरपूर रहते हैं। उत्साहके साथ भजन करनेसे समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं।

उत्साह ही श्रद्धाका जीवन है

'श्रद्धा' शब्दसे विश्वासका बोध तो होता है, किन्तु श्रद्धाका जीवन उत्साह ही है। उत्साहरहित श्रद्धाकी कोई क्रिया नहीं होती। अधिकतर लोग ऐसा सोचते हैं कि वे ईश्वरके प्रति श्रद्धा रखते हैं। किन्तु उस विषयमें उत्साहका अभाव रहनेसे उनकी श्रद्धा कार्यकारी नहीं होती। अतएव साधुसंगके अभावमें उनका भजन नहीं हो पाता।

✪✪✪

श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एवं संन्यास

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण

आजकल राजनीतिकी भाँति धर्ममें भी ईर्ष्या–द्वेष, कलह, आनुगत्यहीनता आदिका प्रवेश हो गया है। पहले 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' एवं आनुगत्यमय जीवनका सभी आदरपूर्वक अनुसरण करते थे। समयके फेरसे आजकल कुछ संकीर्ण विचारवाले अर्वाचीन व्यक्ति प्राचीन परम्परागत आनुगत्यके पवित्र सूत्रको छिन्न–भिन्न कर विशुद्ध साम्प्रदायिक सौहार्द्रको नष्ट करना चाहते हैं तथा मनगढ़न्त भजन प्रणालीका आविष्कार करनेमें और उसीको प्रामाणिक स्थापन करनेमें ही अपनी गरिमा समझते है। सम्प्रदायमें भेद सृष्टिकारी ये लोग यह समझ नही पा रहे हैं कि उनके इस असाधु प्रयाससे कलियुग–पावनावतारी श्री चैतन्य महाप्रभुकी मनोऽभीष्ट सेवाके विपरीत वे श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायकी जड़ खोद रहे हैं।

अभी कुछ दिनों पूर्व श्रीधाम वृन्दावनके श्रीश्यामलाल हकीम द्वारा संपादित महाप्रभु श्रीगौरांग (स्मारिका) प्रकाशित हुई है। उक्त स्मारिकामें वृन्दावनके कुछ परमादरणीय प्रसिद्ध सिद्धान्तविद, वैष्णवाचार्यों, गोस्वामियों एवं विद्वज्जनोंके सुसिद्धान्तपूर्ण सुन्दर लेख भी सन्निहित हैं। परन्तु स्वयं सम्पादकजी एवं एक–दो अर्वाचीन लेखकोंके अनर्थक विद्वेषमूलक, अशास्त्रीय एवं विशुद्ध साम्प्रदायिक सौहार्द्रको नष्ट करनेवाले प्रबन्ध भी प्रकाशित हुए हैं। जिनमें उन्होंने सम्प्रदायके विरुद्ध अनर्गल सत्य स्थापित कर, अपना पाण्डित्य प्रकाश करनेका ही प्रयास किया है ताकि लोग उनके आचार्यत्वको स्वीकार कर उनके अनुगामी हो, जो नितांत भ्रान्तिपूर्ण तथा निर्मूल होकर सूर्यको ढकनेकी कुचेष्टा है। इन लेखोंको पढ़कर ऐकान्तिक श्रीगौड़ीय वैष्णवोंको क्षोभ हुआ है।

उक्त स्मारिकामें कलियुगमे संन्यास असिद्ध एवं अवैदिक है,' 'गैरिक वस्त्र धारण करना गौड़ीय वैष्णवोंके लिए निषिद्ध है,' 'श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य आदिका संन्यास अवैदिक है', 'वर्णाश्रममें रहनेवाले व्यक्ति बिना उसका त्याग किये गौड़ीय वैष्णव भजन प्रणालीमें प्रवेश नहीं कर सकते', श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायका श्रीमध्व सम्प्रदायसे कोई सम्बन्ध नहीं है, 'श्रीजीव गोस्वामी एवं श्रीबलदेव विद्याभूषणके विचारोंमे भेद है', 'प्रकाशानन्द सरस्वती ही श्रीमन्महाप्रभुकी कृपा लाभ करने पर श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके नामसे प्रसिद्ध हुए' इत्यादि अनर्गल बातें लिखी गयी हैं। उन्हें देखकर परमपूज्य वैष्णवोंने उन भ्रान्त विचारोंका प्रतिवाद करनेके लिए मुझ दीन हीनको प्रेरित किया। उन पूज्यचरण वैष्णवजनके आदेश निर्देशको मस्तक पर धारण कर इस पुनीत कार्यमें प्रवृत हो रहा हूँ। सर्वप्रथम मैं श्री ब्रह्ममाध्व गौड़ीय सम्प्रदायैक संरक्षक चैतन्याम्नायके दशमधस्तन आचार्य केशरी नित्यलीला प्रविष्टि ॐ विष्णुपाद अष्टोतरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज मदीय परमाराध्य श्रीगुरुपादपद्मकी धूलिकणा हृदयमें ध ारणकर 'श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एवं संन्यास' प्रबन्ध प्रस्तुत कर रहा हूँ।

वर्णाश्रम–व्यवस्था–भारतीय संस्कृति या सनातन धर्मकी रीढ़ या मेरुदण्ड है तथा उसकी आत्मा है–भगवत् प्रेम! वर्णव्यवस्था एवं भगवत् प्रेममें शरीर एवं आत्मा जैसा सम्बन्ध है। आत्मा प्रधान होने पर भी बद्धावस्थामें शरीर सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। उसी प्रकार बद्धावस्थामें वर्णाश्रम धर्म भी सम्पूर्णरूपसे उपेक्षणीय नहीं है। परन्तु वर्णाश्रम धर्म ही धर्मकी शेष सीमा है–यह विचार ठीक नही है। आत्मधर्म—भगवत्सेवामें प्रतिष्ठित हो जाने पर वर्णाश्रमका लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। उस अवस्थामें ही वर्णाश्रम–धर्मसे सम्पूर्ण निरपेक्ष रहकर ऐकान्तिक भगवद्भजनमें तत्पर हुआ जा सकता है। जहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है, वहाँ आत्मधर्म—विशुद्ध भगवद्भक्तिका अभाव देखा जाता है। वहाँ अधिक

से अधिक भक्तिका आभास या विकृत प्रतिफलन ही दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए सभी भारतीय धर्मसम्प्रदायोंमें दैव-वर्णाश्रमका आदर परिलक्षित होता है। भक्ति साधक अपने साधन भजनके अनुकूल किसी भी आश्रममें रह कर अथवा अधिकारी होने पर वर्णाश्रमका सम्पूर्णरूपसे परित्याग कर भी भजन कर सकते हैं। विशेषतः अनर्थ-निवृत्त जातभाव पुरुषोंके ऊपर वर्णाश्रम विधिका कोई अंकुश नहीं होता। किन्तु जब तक ऐसी स्थिति नही होती, तब तक वर्णाश्रमको बाह्यतः अङ्गीकार कर उसके प्रति आसक्ति एवं उसके अभिमानसे दूर रहकर साधन भजन करना ही श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत श्रीगौड़ीय वैष्णवोंको अभीष्ट है। परन्तु श्रीहकीमजीका अद्भुत एवं अर्वाचीन विचार सिद्धान्तकी कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

श्रीयुत हकीमजी द्वारा प्रस्तुत श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके लिए संन्यास एवं गैरिक वस्त्र धारणके विपक्षमें प्रधान-प्रधान युक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) 'वेदोंमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ—इन तीनों आश्रमोंके बाद ही चतुर्थ आश्रम संन्यासका वर्णन आता है। किसी अन्य प्रकारके संन्यासकी बात वैदिक शास्त्रोंमें नहीं है। वेद विरोधी बुद्धदेवने एक नयी संन्यास रीति चलायी, उसीका प्रच्छन्न बौद्ध श्रीपाद शंकराचार्यने अनुकरण किया तथा ८ वर्षकी आयुमें ही तीनों आश्रमोंमें प्रवेश किए बिना ही संन्यास ग्रहण किया। अतएव वह अवैदिक संन्यास था। उसी संन्यासको परवर्ती कई आचार्योंने अपने सम्प्रदायमें चलाया। वास्तवमें वह संन्यास वेद विहित नहीं है।

(२) कालिकालमें संन्यास वर्जित है-

अश्वमेध गवालम्भं संन्यास पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्ति फलौ पञ्च विवर्जयेत्।।

(श्रीब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्मखण्ड १८५/१८०)

अश्वमेध यज्ञ, गोमेधयज्ञ, संन्यास, मांसद्वारा पितृश्राद्ध तथा देवर द्वारा पुत्रोत्पत्ति—ये पाँचों कलियुगमें विवर्जित हैं।

(३) श्रीमन्महाप्रभु प्रवर्तित सम्प्रदायमें संन्यासकी रीति प्रचलित नहीं है। महाप्रभुके चरणाश्रित श्रीरूप सनातन आदि गौड़ीय वैष्णवोंमेंसे किसीने संन्यास ग्रहण नहीं किया। जो नाम उनके गृहत्यागसे पूर्व थे, अंत तक उसी नामसे वे परिचित रहे।

(४) श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यका उद्धार करनेके पश्चात् श्रीमन्महाप्रभुने अपनेको उपलक्ष्य बनाकर श्रीसार्वभौमके मुखसे संन्यासकी अनावश्यकता तथा अपकारिता विशेषतः भक्तिधर्मकी विरोधिताका भी निरूपण कराया है। (चै. भा. ३/३/३०)

(५) श्रीमन्महाप्रभुजीने किसीको संन्यास ग्रहण करनेका उपदेश नही दिया। बल्कि उन्होंने 'एत सब छाड़ि आर वर्णाश्रम धर्म। अकिंचन हञा लय कृष्णैक शरण।।' (चै. च. २/२२/५०) में वर्णाश्रम त्यागका ही उपदेश दिया है।

(६) श्रीचैतन्य चरितामृतमें (३/१३/६०) श्रीसनातन गोस्वामीने श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके लिए रक्त (लाल) वसन धारण करना निषिद्ध बतलाया है-'रक्तवस्त्र वैष्णवेरे परिते ना युयाय।।'

(७) भक्तिके चौसठ अंगोमें कहीं भी संन्यासका उल्लेख नहीं है।

(८) श्रीविश्वनाथ चक्रवती ठाकुरने श्रीमद्भागवतके ११/१८/२२ श्लोककी टीकामें 'भक्तस्यानाश्रमित्वञ्च' द्वारा भक्तोंके लिए अनाश्रमित्वका निरूपण किया है।

विशुद्ध साम्प्रदायिक तत्त्वोंसे अनभिज्ञ माननीय लेखक महोदय तो साधारण पारमार्थिक शिष्टाचारकी भी जलाञ्जलि देकर गंभीरवैष्णव अपराधसे तनिक भी भयभीत हुए बिना जड़विद्या निपुण शुष्क तार्किक एवं परमार्थ अनुभूतिरहित लेखकोंके अपसिद्धान्तमूलक विचारोंकी नकल कर व्यर्थ ही गौड़ीय सम्प्रदायमें वाद-वितण्डा एवं भेदकी सृष्टि कर रहे हैं। यही नहीं, वे श्रीचैतन्यचरितामृत आदि ग्रन्थोंमें उल्लिखित तथ्योंको छिपाकर उसके विपरीत नितान्त असत्य विवरण देने तथा विशुद्ध भक्ति सम्प्रदायोंके श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य आदिको भी मुक्तिवादी, अवैदिक संन्यासी कहने तथा श्रीमाधवेन्द्रपुरी आदिको भी अद्वैतवादी संन्यासी घोषित करनेमें कोई संकोच नहीं करते। हम क्रमशः उनके उपर्युक्त अपराधमय एवं शास्त्र विरोधी विचारोंकी निःसारताका प्रदर्शन कर रहे हैं—

(१) श्रीहकीमजीके विचारोंको देखकर ऐसा

प्रतीत होता है कि उन्होंने श्रीयुक्त राधागोविन्द नाथ द्वारा संपादित श्रीचैतन्य चरितामृतके परिशिष्टमें लिखित कथनोंको ही वेद समझ लिया है। यदि वे वेद, उपनिषद, स्मृति एवं पुराण आदि शास्त्रोंको स्वयं पढ़ते, तो वे ऐसी अशास्त्रीय बातें कदापि नहीं लिखते। हो सकता है, उनकी संस्कृत भाषाकी अनभिज्ञता उनके स्वयं श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंके अध्ययनमें बाधक हो। यदि ऐसी बात है, तो स्वयं उन शास्त्रोंको पढ़े बिना, वैसा लिखना पूर्णता अनुचित है। उन्हें समझना चाहिए था कि शास्त्र विरुद्ध कुछ लिखनेसे शास्त्रविद पण्डितजनोंमें उनकी हँसी उड़ाई जाएगी। संन्यास वैदिक रीति है, वह सार्वकालिक है। संन्यास ग्रहण आदिके विषयमें श्रुति, स्मृति एवं पुराणोंके कतिपय उद्धरण हम उपस्थित कर रहे हैं–

(क) 'स होवाच याज्ञवल्क्यः। ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भवेत्। गृही नूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'।।

उपर्युक्त मंत्र (क) जावालोपनिषत् ४/१; (ख) याज्ञवल्क्योपनिषद (संख्या १) (ग) परमहंस परिव्राजकोवनिषत् (संख्या २) में दो एक शब्दोंके पाठ भेदसे मिलता है। मंत्रका अर्थ है—राजर्षि जनक महर्षि याज्ञवल्क्यके समीप उपस्थित होकर पूछा—भगवन्! संन्यास ग्रहणके अधिकार एवं विधिका वर्णन करें। याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—पहले गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य व्रतका अवलम्बन कर वेद अध्ययन करना चाहिए। अनन्तर गार्हस्थ्य धर्मका यथायथ पालनकर वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिए। अंतमें वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण करना चाहिए। यदि गृहस्थाश्रममें प्रवेशसे पूर्व ब्रह्मचर्यावस्थामें ही संसारके प्रति प्रबल वैराग्य हो जाय तो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यास ग्रहण करना चाहिए। अथवा वैराग्य प्रबल होनेपर ही गृहस्थ या वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण करना उचित है। अर्थात् यथार्थ वैराग्य उदित होने पर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, अथवा वानप्रस्थ किसी भी आश्रमसे संन्यास ग्रहणकी विधि है। साङ्गवेद अध्ययन समाप्त हुआ है अथवा नहीं, साङ्गवेद समाप्त कर वेदोक्त स्नान हुआ है या नहीं, साग्नि होकर अग्नि निर्वापित की गयी है अथवा नहीं, विवाहित है अथवा विधुर किसी भी अवस्थामें तीव्र वैराग्य होने पर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है।'

पुनः शुक्ल युजर्वेदीय जावालोपनिषत्में संन्यासका वर्णन इस प्रकार स्पष्ट रूपमें मिलता है—

(घ) अथ परिव्राड् विवर्णवारणा मुण्डोऽपरिग्रहःशुचिरद्रोही भैक्षर्णो ब्रह्मभूयाय भवतीति। यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा संन्यसेत्।।१५।।

(ड़) एष पन्था ब्रह्मणा ह्यनुचितः तेनैवैति संन्यासो ब्रह्म विदित्येवमेवैष भगवान् याज्ञवल्क्य ।।१६।।

(च) त्रिदण्डं कमण्डलु शक्यं जलपवित्रं पात्रं शिखा यज्ञोपवीतञ्च इत्येतत् सर्व भुस्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्।।१८।।

जो लोग परिव्रज्या (संन्यास) ग्रहण करेंगे, वे गैरिक आदि द्वारा काषायित वस्त्र धारण कर मस्तक मुण्डन कराकर अपरिग्रह (स्त्री–पुत्र आदिका परित्याग कर) करेंगे। अनन्तर बाह्याभ्यन्तर शुद्धि साधनपूर्वक द्रोह वर्जन करेंगे तथा पवित्र, निर्जन स्थानमें ब्रह्मोपासना करेंगे। आतुर व्यक्ति केवल वाणी एवं मनके द्वारा संन्यास ग्रहण करेंगे।।१५।।

अब प्रश्न उठ सकता है कि संन्यास रीति यथार्थ है अथवा कल्पित इसके उत्तरमें कहते हैं—संन्यास रीतिका उद्भव लोकपितामह ब्रह्मा द्वारा हुआ है। इसी संन्यास–पथका अवलम्बन करके संन्यासी लोग सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त करते हैं तथा सर्वज्ञ होनेमें समर्थ होते हैं। अतः संन्यास–पथ कल्पित नहीं, यथार्थ है। अत्रि ऋषिने याज्ञवल्क्यका ऐसा उपदेश सुनकर 'भगवन् याज्ञवल्क्य!' इस सम्बोधनके द्वारा उपदेश ग्रहण किया ।।१६।।

इसके पश्चात् परमहंसावस्था उपस्थित होनेपर त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, वसन, जलपात्र, कन्था, कौपीन, उत्तरीय आदि संन्यास–लिंग भी छूट जाता है।।१८।।

अब स्मृतियोंमें देखिए—

(छ) विरक्तः सर्वकामेषु परिव्राज्यं समाश्रयेत्।

एकाकी विचरेन्नित्यं त्यक्त्वा सर्वपरिग्रहम्।। एकदण्डी भवेद्वापि त्रिदण्डी वापि वा भवेत्। त्रिदण्डं कुण्डिका चैवभिक्षाधारं तथैव च। सूत्रं तथैव गृह्णीयान्नित्यमेव बहुदकः ईषत्कृत काषायस्य लिङ्गमाश्रित्य तिष्ठत।।—(विष्णुस्मृतिः ४/२, १०, १२, १८)

सब प्रकारकी सांसारिक कामनाओंसे विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करना चाहिए। संन्यास ग्रहण कर अकेला भ्रमण करे, तथा बिना माँगे ही जो कुछ मिल जाय, उसी भिक्षासे जीवन निर्वाह करे। एकदण्ड या त्रिदण्ड धारण करें। बहुदक त्रिदण्डी संन्यासी भिक्षा-पात्र, कमण्डलु, यज्ञोपवीत एवं हल्के रंगका गैरिक वस्त्र धारणकर हृदयमें सर्वदा भगवत् चिन्तन करे।

(ज) हारीत स्मृतिमें भी—

त्रिदण्डं वैष्णवं सम्यक् संतं समपर्वकम्।
वेष्टितं कृष्ण गोवालरज्जुमच्चतुरंगुलम् ।।६।।
शौचार्थमासनार्थं च मुनिभिः समुदाहृतम्।।
कौपीनाच्छादनं वासः कंथा शीतनिवारिणीम्।।७।।
पादुके चापि गृह्णीयात्कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम्।।
एतानि तस्य लिङ्गानि यतेः प्रोक्तानि सर्वदा।।८।।

(हारीति स्मृति अध्याय ६/६-८)

चार अंगुलका कपड़ा और काली गायके बालोंकी रस्सीसे लिपटा हुआ तथा सम ग्रन्थिवाले बाँसका त्रिदण्ड धारण करे। शौच और आसनके विचारके लिए मुनियोंकी दी हुई कौपीन, शीतको दूर करनेवाली गुदड़ी और खड़ाऊँको ग्रहण करे। अन्य वस्तुका संग्रह न करे। ये संन्यासीके सदैव कालके (चारो युगोंके) चिह्न कहे गये हैं।

(झ) महानिर्वाण तंत्रमें कलियुगमें भी चारों वर्णों और उसके बहिर्भूत साधारण लोगोंका भी संन्यासमें अधिकार बतलाया गया है-

अवधूताश्रमो देवि कलौ संन्यास उच्यते।
विधिना येन कर्त्तव्यस्तं सर्वं शृणु साम्प्रतम्।।
ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने विरते सर्व कर्मणि।
अध्यात्म विद्या निपुणः संन्यासाश्रममाश्रयेत्।।
ब्राह्म क्षत्रियो वैश्यः शूद्रः सामान्य एव च।
कुलावधूत संस्कारे पञ्चानामधिकारिता।।
विप्रानमितरेषाञ्च वर्णानां प्रबले कलौ।
उभयत्राश्रमे देवि! सर्वेषामधिकारिता।।

(महानिर्वाणतन्त्र ८वाँ उल्लास)

हे देवि! कलियुगमें अवधूत आश्रमको संन्यास कहा जाता है। उसके लिए जो विधि है, उसका श्रवण करो। सब प्रकारके कर्मोंसे विरक्ति होनेपर तथा ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होनेपर अध्यात्म विद्या भगवत्तत्त्वमें निपुण व्यक्ति संन्यास ग्रहण करेंगे। इस संन्यास-संस्कारमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और वर्णबहिर्भूत साधारणजन इन पाँचोंका अधिकार है। यहाँतक कि कलिके प्रबल होनेपर विप्र तथा दूसरे वर्णोंके सभी लोगोंका अधिकार है।

(ञ) मनुस्मृतिमें—

वाग्दण्डो अथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते।।

(मनुस्मृति १२/१०)

—वाक, काय और मनोदण्डको धारण करने वालेको त्रिदण्डी संन्यासी कहा जाता है।

(ट) अमल पुराण श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण चारों आश्रमोंकी उत्पत्तिके विषयमें उद्धवसे कह रहे हैं—

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्य हृदो मम।
वक्षःस्थलाद्वने वासः संन्यासः शिरसि स्थितः।।

(श्रीमद्भा. ११/१७/१४)

मेरे जाँघसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्य और वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ उत्पन्न हुए हैं किन्तु संन्यास मेरे मस्तक पर स्थित है।

और भी—

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्व तमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव।।

(श्रीमद्भा. ११/२३/५३)

अवन्ती भिक्षुकने कहा—बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस परात्मनिष्ठारूप संन्यास आश्रमका आश्रय लिया है। मैं भी इसीका आश्रय ग्रहण कर भगवान श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंकी सेवा द्वारा दुरन्तपार अज्ञान सागरको अनायास ही पार कर लूँगा।

(ठ) स्कन्द पुराणमें—

शिखी यज्ञोपवीती स्यात् त्रिदण्डी सकमण्डलुः।

स पवित्रश्च काषायी गायत्रीञ्च जपेत् सदा।।

त्रिदण्डी संन्यासी शिखा रखेंगे, यज्ञोपवीत धारण करेंगे तथा कमण्डलु ग्रहण करेंगे। वे काषायवस्त्र (गैरिक वसन) पहनेंगे तथा पवित्र रहकर सर्वदा गायत्री मंत्र जप करेंगे।

(ड) पद्मपुराणमें—

एकवासा द्विवासाथ शिखी यज्ञोपवीतान्।
कमण्डलु करो विद्वास्त्रिदण्डो याति तत्परम्।।

(स्वर्गखण्ड आदि ३१ अध्याय)

विद्वान त्रिदण्डी यति एक बहिर्वास एवं उतरी वसन, शिखा, यज्ञोपवीत, कमण्डलु धारण कर भगवद्भावमें तत्पर रहें।

(त) श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामी द्वारा श्रीहरिभक्ति–विलासके परिशिष्टस्वरूप रचित 'संस्कार–दीपिका' में त्रिदण्ड संन्यास–संस्कार, डोर कौपीन एवं काषाय वस्त्र धारणकी सुस्पष्ट विधि लिपिबद्ध की है। इसकी एक प्राचीन पोथी (लिपि) जयपुरके राजकीय पुस्कालयमें संगृहीत है। श्रीश्रीगौड़ीय वैष्णव अभिधानमें इस ग्रन्थका उल्लेख है। श्रील भक्ति विनोद ठाकुरने भी इसका प्रकाशन कराया था।

प्राचीन कालमें वैदिक संन्यासियोंमें अधिकांश रूपमें त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण की प्रथा प्रचलित थी। कोई–कोई एकदण्ड भी ग्रहण करते थे। श्रुति–स्मृति पुराण एवं आगमोंमें सर्वत्र त्रिदण्ड एवं कहीं कहीं एकदण्ड संन्यासकी विधिका उल्लेख देखा जाता है। संन्यासकी बहुदक अवस्थामें वाग्दण्ड, मनोदण्ड एवं कायदण्डके साथ प्रदेशमात्र जीवदण्ड सम्मिलित होकर त्रिदण्डमें चारदण्ड एकत्र संश्लिष्ट रहते हैं। श्रीरामानुज एवं श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायमें त्रिदण्ड संन्यासकी प्रथा प्रचलित है। श्री शंकराचार्य–सम्प्रदायमें प्रचलित एकदण्ड संन्यास भी वैदिक–संन्यास है। वेद विरोधी बौद्धोंमें संन्यास ग्रहणकी रीति नहीं है। उनमें दण्ड आदि संस्कार विहीन भिक्षु होते हैं। अतः हकीमजीका यह मन्तव्य कि 'श्रीपादशंकराचार्यने बौद्धोंके संन्यास का अनुकरण किया है' सम्पूर्णरूपसे असत्य एवं कपोलकल्पित है। और उससे भी अधिक असत्य यह मन्तव्य है कि आचार्य श्रीरामानुज एवं श्रीविष्णु स्वामी सम्प्रदायमें संन्यासकी रीति श्रीशंकराचार्य सम्प्रदायकी संन्यास रीतिकी देखा–देखीसे प्रचलित हुई।

हम पहले यह दिखला चुके हैं कि वैदिक शास्त्रोंके अनुसार तीव्र वैराग्यके उदय होने पर किसी भी वर्ण या आश्रमसे किसी भी आयु में संन्यास ग्रहणकी विधि सर्वथा उचित है। अतः ८ वर्षकी आयुमें ब्रह्मचर्याश्रमसे ही आचार्य शंकर द्वारा संन्यास ग्रहण करना सर्वथा वेद विहित है।

वैष्णवाचार्य श्रीमध्वने विशुद्ध सिद्धान्तों (पंच भेद, मुक्तिमें भी जीव और ईश्वरमें भेद, जीव हरिके अनुचर है आदि) तथा अपनी वैष्णव उपासना प्रणालीको यथावत रखते हुए जो एकदण्ड संन्यास ग्रहण किया—वह शांकर संन्यासका अनुकरण नहीं है। क्योंकि आचार्य शंकर एकदण्ड संन्यास प्रथाके मूल प्रवर्तक नहीं हैं। आचार्य शंकरसे बहुत पूर्व वैदिक कालसे ही एकदण्ड या त्रिदण्ड संन्यास प्रचलित था। याज्ञवल्क्योपनिषदके अनुसार श्रीब्रह्माजी संन्यासके मूल प्रवर्तक हैं तथा पूर्व कालमे संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाध, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, एवं हारीत आदि महामहर्षि संन्यास ग्रहणके अनन्तर परमहंसावस्थामें उपनीत हुए थे। परवर्ती कालमें श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायमें ७०० त्रिदण्डि संन्यासियोंका उल्लेख पाया जाता है। ये सभी शुद्ध वैष्णव, भगवत्सेवा परायण थे।

श्रीवल्लभ–दिग्विजय (संस्कृत) ग्रन्थके अनुसार श्रीवल्लभाचार्य वृद्धावस्थामें श्रीमाधवेन्द्र यतिसे काशीके हनुमान घाटपर त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण कर 'पूर्णानन्द यति' संन्यास नामको प्राप्त हुए थे। श्रीवल्लभाचार्य शुद्ध वात्सल्य रसके उपासक थे—यह प्रसिद्ध तथ्य है। श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार ये श्रीगौरशक्ति गदाधर पण्डितसे जगन्नाथपुरीमें युगलकिशोर–उपासनाका मन्त्र ग्रहण कर वात्सल्य रससे किशोर गोपालकी उपासनामें प्रवृत्त हुए थे।

वल्लभभट्ट हय वात्सल्य–उपासन।
बालगोपाल मन्त्रे तेहों करेन सेवन।।
पण्डितेर सने तार मन फिरि गेल।
किशोर गोपाल उपासनाय मन दिल।।

(चै. च. अ. ७/१४४–१४५)

अतः केवल मुक्तिवादी ही संन्यास ग्रहण करते हैं तथा दूसरे सभी आचार्योंने शंकर-सम्प्रदायके संन्यासका अनुकरण किया है—हकीमजीका यह आक्षेप भी सर्वथा निराधार एवं असत्य है।

हमने श्रीविष्णुस्वामी एवं श्रीवल्लभाचार्यके संन्यासके सम्बन्धमें दिखलाया है कि वे भक्तिपरायण विशुद्ध वैष्णव-संन्यासी थे। अब श्रीरामानुज एवं श्रीमध्वाचार्यके सम्बन्धमें विचार कर रहे हैं। श्रीहकीमजीने पहले तो इन दोनोंका संन्यास अवैदिक माना है, पुनः बाध्य होकर उनका संन्यास वैदिक तो स्वीकार करते हैं; किन्तु उन्हें मुक्तिवादी मानकर उनके संन्यासको वर्णाश्रमके अन्तर्गत विहित मानते हैं। निष्काम वर्णाश्रम धर्म पालनसे मुक्ति प्राप्त होती है। अतः उनके साधनमें संन्यास उचित मानते हैं। किन्तु गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायका लक्ष्य व्रजमें प्रेम-सेवा प्राप्त करना है, अतः गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें संन्यास रीतिका अवकाश नहीं है—ऐसा उनका कथन है।

श्रीहकीमजीका यह कथन भी अज्ञातप्रसूत एवं अपराधसूचक है। श्रीरामानुज एवं श्रीमध्वाचार्यके प्रामाणिक ग्रन्थोंसे सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति ही ऐसी कपोलकल्पित बातें कह सकता है। श्रीसम्प्रदायके श्रीभाष्य, वेदार्थग्रहण, प्रपन्नामृत, गद्यत्रय आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंके अनुसार जीव स्वरूपतः भगवत्किङ्कर हैं। उनके सिद्धान्तानुसार जीवकी बह्मके साथ कदापि ऐकात्मता सम्पन्न नहीं होती। वैकुण्ठमें भगवानका कैङ्कर्य ही परमा मुक्ति है। श्रीमध्वाचार्यके मतानुसार भी जीव श्रीहरिके नित्य अनुचर हैं तथा विष्णुके श्रीचरणकमलोंकी सेवा प्राप्ति ही मुक्ति है[१]। अतएव इन दोनों सम्प्रदायोंकी भगवत्सेवा तात्पर्यमयी मुक्ति—श्रीशंकराचार्य द्वारा कथित निर्विशेष मुक्ति अर्थात् जीव-ब्रह्मकी ऐक्यसे सर्वथा भिन्न है।

वैसे श्रीमद्भागवतमें 'कैवल्यैक प्रयोजनम्' श्लोकको देखकर क्या हकीमजी श्रीमद्भागवतको भी मुक्तिवादी ग्रन्थ मानकर उसे श्रीगौड़ीय विचार-धाराका विरोधी मोनेगें। "मुक्ति" एवं "कैवल्य" शब्दोंको देखकर भड़कना उचित नहीं—उनका गूढ़ तात्पर्य समझना चाहिए। श्रील जीवगोस्वामी आदि टीकाकारोंने शास्त्रीय प्रमाणों एवं अकाट्य युक्तियोंसे 'केवल' शब्दका अर्थ 'विशुद्ध- प्रेम' किया है। श्रील जीव गोस्वामीने प्रीति संन्दर्भमें 'मुक्ति' का यथार्थ तात्पर्य 'प्रेम-सेवा' निरूपण किया है। अतएव उक्त दोनों वैष्णव सम्प्रदायोंसे श्रीगौड़ीय सम्प्रदायका तात्त्विक विरोध नहीं है। सभी वैष्णव-सम्प्रदायोंमें विष्णु-तत्त्व उपास्य है; ब्रह्म और जीवमें सेव्य और सेवक सम्बन्ध, भक्ति— साधन तथा भगवत्सेवा (प्रेम)—प्रयोजन है। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण एवं परमव्योमपति श्रीमन्नारायण तत्त्वतः अभिन्न हैं; केवलमात्र उपास्य एवं उपासकके वैशिष्ट्यसे ही सम्प्रदाय भेद है। अतः श्रीरामानुज, श्रीमध्व एवं श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायोंमें संन्यासका प्रचलन जिस प्रकार ग्रहणीय है, उसी प्रकार श्रीमध्वानुगत श्रीगौड़ीय-सम्प्रदायमें भी संन्यासकी रीति शास्त्रानुकूल एवं ग्रहणीय है। श्रीमाधवेन्द्रपुरी, श्रीविष्णुपुरी, श्रीईश्वरपुरी, श्रीरंगपुरी, श्रीपरमानन्दपुरी आदि संन्यासीवृन्दका लक्ष्य कृष्णप्रेम ही था, इसे श्रीहकीमजी या कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इन सबने पहले भक्तिमार्गके प्रवेश कर पीछे ऐकान्तिक भक्तिके अनुकूल निष्किंचन संन्यास वेश ग्रहण किया था। अतः 'महाजनो येन गतः स पन्था' के अनुसार तथा श्रीगौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाके मूल इन महापुरुषोंके आनुगत्यमें इस सम्प्रदायमें भी संन्यासकी रीति सर्वथा उचित है।

(क्रमशः)

जप साधनाका महत्त्व

कीर्तन भी जप विधिका ही एक प्रकार है, जिसे वाचिक जप कहा जाता है। इस सम्बन्धमें आगे चर्चा की जायेगी। भगवान श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे

✪✪✪

१ (क) श्रीमध्वमते हरिः परतमः सतां जगत्तत्त्वतो भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
— (श्रीजयतीर्थ एवं श्रीत्रिविक्रमाचार्य रचित ग्रन्थोंसे)

(ख) 'मोक्षं विष्णवङ्घ्रिलाभं' —(प्रमेयरत्नावली)

कलियुगमें श्रीकृष्णनाम जप साधना

—डा. सत्यपाल गोयल

चौथी धारा

नाम कीर्तन, स्मरण और चिंतन करनेवाले साधकोंके हृदयमें निवास करनेका वचन दिया है।

यथा—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगीनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारदः।।

अर्थात् हे मेरे परम भक्त नारद! न तो मैं वैकुण्ठमे ही रहता हूँ और न ही योगियोंके हृदयमें निवास करता हूँ। मेरे भक्त मेरे नाम, गुण, लीला और धामका जहाँ कीर्तन करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ।

प्रातः स्मरणीय श्रीनारदजी सदैव वीणापर भगवानके सुमधुर नाम, गुण, लीला और धामका कीर्तन करते रहते हैं। अतएव उनके हृदयमें सदैव श्यामसुन्दर निवास करते हैं। ऐसे परम संतोंकी चरण रज उड़कर उनके ऊपर गिर जाये, इस उद्देश्यसे श्रीकृष्ण उनके पीछे-पीछे चलते हैं। भक्त और भगवानका अटूट प्रेम सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरेके बिना नहीं रह सकते हैं। यह नाम जपका ही प्रभाव है।

कृष्ण नाम ही कलियुगमें भगवानके दर्शन तथा भवसागरसे पार होनेका तथा भौतिक दुःखोसे त्राण पानेका एकमात्र साधन है। ऐसे अनेक प्रमाण धर्म और भक्ति ग्रन्थोंमें उपलब्ध हैं। एक समय वेदव्यासजी श्रीगंगामें स्नान कर रहे थे। उन्होंने तीन डुबकियाँ लगायीं। प्रत्येक डुबकीपर उन्होंने कहा—धन्य कलिः, धन्य नारी तथा धन्य शूद्रः। पासमें स्नान कर रहे अन्य ऋषियोंने प्रश्न किया—भगवन्! आपने यह तीन बार जो कहा उसका क्या अर्थ है? वेदव्यासजीने कहा—ऋषियो कलियुग इसलिए धन्य है क्योंकि समस्त अवगुणोंकी खान होनेपर भी केवल श्रीकृष्ण नामके जप कीर्तनसे मनुष्योंका उद्धार हो जाएगा। नारी तथा शूद्र इसलिए धन्य हैं कि इनको वेद, उपनिषद तथा मन्त्रोंका जप करनेका अधिकार नहीं है। पर ये भी श्रीकृष्णनामके जप स्मरणसे भवसागरसे पार हो जायेंगे।

श्रीमद्भगवद् गीतामें नाम जपका श्रेष्ठत्व स्थापित करते हुए भगवानने स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहा है कि—

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।

(श्रीगीता १०/२५)

अर्थात् महर्षियोंमें भृगु तथा एक अक्षरोंमें ओंकार हूँ। सब प्रकारके यज्ञोंमें जप यज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पर्वत हूँ।

अतएव जो साधक श्रीकृष्ण नाम जपका आश्रय लेता है वह साक्षात कृष्णको ही वरण करता है क्योंकि नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है। कृष्ण और कृष्णका नाम एक ही तत्त्व है। अपितु नाममें नामीसे अधिक शक्ति है। यथा—

नामश्चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णशुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः।।

(श्रीविष्णुधर्मोत्तर ११/२६९)

अर्थात् नाम और नामी कृष्णमें कुछ भी भेद नहीं है। इसीलिए श्रीकृष्णनाम श्रीकृष्णकी तरह चैतन्यरसविग्रह है, सर्वशक्तिपूर्ण है, नित्य मुक्त तथा चिन्तामणिकी तरह सर्वाभीष्ट प्रदान करनेवाला है।

श्रीकृष्णनाम परम चिन्मय तत्त्व है, यह जड़ इन्द्रियोसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, परन्तु जब किसीकी रसना उसे ग्रहण करनेकी इच्छा रखती है, तब कृष्णनाम कृपा करके स्वयं जिह्वापर स्फुरित

होता है। यथा

अतः श्रीकृष्ण नामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।।

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु पू. वि. १०९)

नाम जप करनेवालेके सभी यज्ञ सम्पन्न हो जाते हैं, उसे बड़े बड़े अश्वमेध, राजसूय, बाजपेय यज्ञ आदि करनेकी आवश्यकता नहीं रहती है। इस नाम जप यज्ञमें प्राणी मात्रका अधिकार है इसमें न तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्रका विचार रखा है ओर न ही लिंगका भेद रखा है और न ही कालकी व्यवस्था है अर्थात् सोते-जागते, हंसते-रोते, छींकते यहाँतक कि मल त्यागके समय भी कृष्णनामका मानसिक जप किया जा सकता है। यथा—

नाम्नामकारी बहुधा निज सर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः।।

(शिक्षाष्टक २)

समस्त यज्ञोंकी आहूतियोंको भगवान कृष्ण स्वयं ग्रहण करते हैं क्योंकि वे यज्ञ पुरुष हैं, परन्तु नाम जप यज्ञ तो वे स्वयं ही है। इसलिए भगवान नामके रूपमें साधककी जीभ पर नृत्य करने लग जाते हैं तथा जीवके जन्म जन्मान्तरोंके पापोंका नाश कर उसके हृदय, मन, बुद्धिको शुद्ध करते हैं।

श्रीमनु महाराजने भी मनुस्मृतिमें नामजपकी महिमा इस प्रकार की है—

ये पाक यज्ञचत्वारो विधि यज्ञः समन्वितः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलाना हन्ति षोडशीम्।।

(मनुस्मृति २/८७)

अर्थात् जो चार पाक यज्ञ (पितृकर्म, हवन, बलि, वैश्वदेव) विधि यज्ञके बराबर हैं, वे सभी यज्ञ जप यज्ञके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं।

मनु महाराजने जप यज्ञको ही अन्य यज्ञोंसे श्रेष्ठ माना है। किसी भी युगमें जपका प्रभाव या मान्यता कम नहीं थी अर्थात् सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापर तीनों ही युगोंमें जपका ही महत्त्व था फिर कलिकालमें तो नाम जपकी ही व्यवस्था है। इसलिए नाम जपको कलियुगमें गौण नहीं कहा जा सकता है।

आजतक जितने भी संत, वैष्णव हुए हैं, उन सभीने नाम जपका आश्रय लेकर भगवत्प्रेम और श्रीकृष्णका साक्षात्कार प्राप्त किया। नामके श्रवण, स्मरण एवं जप मात्रसे करोड़ों प्राणी क्षणमात्रमें सिद्धि प्राप्तकर, श्रीकृष्णप्रेम प्राप्त कर सकते हैं। यही कारण है कि कर्मकाण्डी यज्ञोंके परिप्रेक्ष्यमें मनु महाराजने उन यज्ञोंको जप यज्ञके १६ वें अंशके बराबर भी नहीं माना है। मनुस्मृति भारतीय दण्ड संहिता है, जिसमें मनु महाराजने नाम जपको महत्त्व दिया है परन्तु कलियुगमे असुरों द्वारा निर्मित कानूनी किताबोंमें नाम जपको स्थान नहीं दिया गया है। यही कारण है कि इतने कानूनोंके रहते हुए भी लोग सदाचारसे हटकर कुमार्गपर अधिक जा रहे हैं। वे इन कानूनी पुस्तकोंके प्रावधानोंकी पकड़से बाहर हैं जब कि मनु स्मृतिके विधानका पालन करने, करानेपर मनुष्योंमें इतनी कुपथगामी विचारधारा नहीं है। करोड़ों वर्ष पूर्व रचित मनुस्मृतिका आज भी प्रभाव परिलक्षित है यद्यपि कलिके प्रभावने लोगोंके चिंतनको पाप कर्मोंकी ओर प्रवृत्त किया है।

ऐसे ही कलिहत जीवोंके उद्धारके निमित्त भगवान श्रीकृष्णने जीवोंको आश्वासन दिया है कि—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(श्रीगीता १८/६६)

अर्थात् संसारमें जितने भी धर्म प्रचलित हैं, उन सभीको छोड़कर तुम अकेले (एकम्) मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा। भगवान श्रीकृष्ण सत्यसंकल्प हैं (वे जैसा कहते हैं वैसा ही करते हैं) उनके लिए कुछ भी असम्भव

नहीं है।

ऐसा सुखमय एवं पक्का आश्वासन किसीने नहीं दिया है। तैंसीस करोड़ देवताओंकी शरण लेनेकी आवश्यकता नहीं है। बस एकमात्र श्रीकृष्णकी शरण लेनेसे ही जीव सभी प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। वृक्षके पत्ते–पत्तेको जलसे सींचनेकी अपेक्षा वृक्षकी जड़को सींचनेसे सभीको यथा आवश्यक जल पहुँच जाएगा यथा—

यथातरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या।।

(श्रीमद्भा. ४/३१/१४)

पूर्वमें कथित शरण और मुक्त शब्दको स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ। शरण केवल शाब्दिक नहीं होना चाहिए। अनेक लोगोंको कहते सुना जाता है, मैं तो आपकी शरणमें हूँ। किन्तु कार्यसिद्धि होनेके पश्चात् शरण वापिस ले ली जाती है। शरणका अर्थ ही होता है सम्पूर्ण समर्पण। ऐसा नहीं कि मुख से तो कह दिया कि मैं आपकी शरणमें हूँ परन्तु मनमें यह शंका बनी रहे कि कौन जाने सिद्धि मिलेगी या नहीं? अथवा मेरे पापोंका क्षय हुआ या नहीं या भगवद् आश्रय ले लिया और दोनों समयका भोजन तथा वस्त्रोंका जुगाड़ हुआ या नहीं ऐसा सोचकर अन्य प्रयास भी करते रहे। शरणका अर्थ है पूर्ण रूपसे समर्पण करना। फिर चाहे प्राण भी अन्न–जलके बिना उत्सर्ग हो जाय तो भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके अस्तित्वके एकमात्र कारण श्रीकृष्ण ही हैं।

वे सत्, चित्, आनन्दमय हैं। जो मनुष्य भगवानकी शरण लेते हैं, वे कभी दुःखी नहीं रह सकते, क्योंकि वे सत्, चित् और आनन्दमय हैं। भगवान कभी किसीको दुःख नहीं देते हैं। जीव अपने ही कर्मोंका शुभ और अशुभ फल (अवश्यमेव भोक्तव्यं कर्त्तुम् कर्म शुभाशुभम्) भोगते हैं। जो सभी प्रकारसे श्रीकृष्णकी शरणमें आ जाते हैं उनके सभी पापोंका नाश हो जाता है तथा उनके हृदयमें कृष्ण भक्तिका उदय हो जाता है।

जब जीव भगवानको छोड़कर संसारके भौतिक आकर्षणोंकी ओर खिंच जाता है तभी भगवानकी माया जीवको नाना प्रकारकी यातनाएँ देती है।

कृष्ण भूलि सेई जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार दुःख।।

(चै. च. मध्य २०/११७)

इसलिए यदि जीवको सच्चा सुख प्राप्त करना है तो उसे सभी प्रकारके मोहजालसे निकलकर एकमात्र श्रीकृष्णके शरणापन्न हो जाना चाहिए। गौड़ीय वैष्णवजन भगवानके श्रीचरणोंमें पूर्ण समर्पण करते हैं तथा अपनी सामान्य एवं यत्किंचित (अन्न, वस्त्र आदि) आवश्यकताओंके लिए भगवानको कष्ट नहीं देते। वे इनकी व्यवस्था भिक्षा द्वारा करते हैं या अयाचित वृत्तिसे भजन साधन कर जीवन यापन करते हैं। गौड़ीय वैष्णवजनोंका श्रीकृष्णका सुखविधान ही प्रयोजन है। उनसे बदलेमें कुछ चाहना तो वणिक वृत्ति है—प्रेमका शुद्ध लक्षण नहीं है।

भगवान श्रीकृष्णने श्रीगीता (१८/६६) में पापोंसे मुक्ति प्रदान करनेका आश्वासन दिया है। भगवान श्रीकृष्ण जीवका इतिहास नहीं देखते हैं। वे तो साधकके वर्तमान भावको देखते हैं। पिछले जन्मोंमें या इस जन्ममें चाहे जितने भी पाप किए हों, भगवान उस ओर दृष्टिपात भी नहीं करते। यदि जीव आजसे ही शुद्ध भावसे समर्पणकर दे तो आजसे ही उसे अपने गले लगा लेते हैं। यही उनकी भक्तवत्सलता है, सरलता है, उदारता है, कृपालुता है तथा जीवोंके प्रति निस्वार्थ बन्धुत्व है।

मुक्त कहनेसे तात्पर्य यहाँ बन्धे हुए हाथोंको खोलना या स्वतन्त्र कर देना नहीं है अपितु समर्पण करनेवाले साधक जीवको पूरी तरह स्वीकार करना है क्योंकि बन्धनसे मुक्त होनेपर तो पुनः बन्धन सम्भव है परन्तु श्रीकृष्ण द्वारा मोक्ष प्रदान करनेका अर्थ जीवको अपना प्रेम, भक्ति और धाम प्रदान

करना है। साधारण तत्त्वज्ञजन इसे मुक्ति या स्वर्ग जैसी अवधारणासे पोषित करते हैं।

उक्त सभी विवेचन इस तथ्यका पोषण करते हैं कि नाम जपका विशेष महत्व है। अतएव कलिकालमें कठोर तपस्याओंका विचार त्यागकर प्रत्येक साधकको नाम जप, नाम स्मरण तथा नाम संकीर्तनका आश्रय ग्रहणकर भगवान श्रीकृष्णकी विशुद्ध भक्तिकी ओर पूर्ण समर्पण भावसे आकृष्ट होना चाहिए।

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
कृष्ण प्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति।।
तार मध्ये श्रेष्ठ नाम संकीर्तन।
निरपराधे नाम कैले पाय प्रेमधन।।

(चै. च. अन्त्य ४/७१)

अर्थात् भक्तिक्षेत्रमें नवधा भक्ति श्रेष्ठ होती है। इस नवधा भक्तिमें श्रीभगवान कृष्णके नामका संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ है जो कि निरापराध होकर करनेसे कृष्णप्रेम तथा स्वयं श्रीकृष्णको भी प्रदान करनेकी अमित शक्ति धारण किए हुए है।

नाम संकीर्तन भी जपका ही एक अंग है। इसका जप और कीर्तन निरापराध होकर करनेसे श्रीकृष्ण प्रेमरूपी धन यथार्थमें प्राप्त होता है।

गुरु शिष्य सम्बन्ध

नाम जप जितना सहज एवं सरल साधन है उतना कोई अन्य साधन सरल नहीं है। कृष्ण नामका किसी भी अवस्थामें जप, स्मरण एवं चिंतन किया जा सकता है। भक्ति मार्गमें भी साधकके सामने अनेक प्रकारके विघ्न आते हैं। पथसे भटकनेकी कई स्थितियाँ उत्पन्न हो सकता है। इस हेतु एक ऐसे मार्गदर्शककी आवश्यकता है जो इस प्रेम पथका एकनिष्ठ पथिक हो।

भक्ति राज्यमें इस मार्गदर्शकको 'गुरु' शब्दसे सम्बोधित किया गया है। चाहे जिसको भी गुरु नहीं बनाया जा सकता है। जिसके चरणोंमें हमें सम्पूर्ण जीवन साधनाके लिए समर्पित करना है उसका परीक्षण करनेके पश्चात् ही गुरुका वरण करना चाहिए। एक रूपयेकी मिट्टीकी मटकी भी क्रय करते समय उसे ठोक बजाकर क्रय किया जाता है तब जिसके चरणोंमें सदैवके लिए अपनी श्रद्धा, निष्ठा एवं भावका समर्पण करना है उसका ठीक ठीक परिक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है। पद्मपुराणके अनुसार एक वर्षतक गुरु-शिष्यको एक दूसरेका संग करनेके पश्चात् गुरुको शिष्यका वरण तथा शिष्यको गुरुका पदाश्रय ग्रहण करना चाहिए। गुरु कैसा होना चाहिए—

श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञ कृष्णमन्त्रवदां वरः
कृष्णमन्त्राश्रयो नित्यं मन्त्रभक्तसदाशुचिः
सद्धर्मशासको नित्यं सदाचारनियोजकः
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते

(पद्मपुराण पा. ख. अध्याय ८२)

अर्थात् जो श्रीकृष्णके प्रेमरसको जानते हों, जो श्रीकृष्ण मन्त्र जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हों, जो श्रीकृष्णमन्त्रके आश्रयमें रहते हों अर्थात् निरन्तर कृष्णनामका जप करते हों एवं मन्त्र भक्त तथा पवित्र आचरणवाले हों, दूसरोंको भी सदाचारमें लगानेवाले हों, सद्धर्मके सिद्धान्तका शासन करते हों तथा सम्प्रदायनिष्ठ वैरागी हों—ऐसे व्यक्तित्ववाला ही गुरु कहलाता है। ऐसे गुरुका ही साधकको पदाश्रय लेना चाहिए।

गुरुमें न तो मनुष्य बुद्धि रखनी चाहिए और न ही जाति बुद्धि रखनी चाहिए। गुरुकी कोई जाति नहीं होती हैं। जो कृष्ण तत्त्वको जानता है वही गुरु हो सकता है—वह ब्राह्मण, संन्यासी, यहाँतक कि शूद्र भी हो सकता है, यथा—

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केने नय।
जेई कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय।।

(चै. च. मध्य ८/१००)

मन्त्र, माला और मूर्ति (भगवान या अपने इष्टका श्रीविग्रह) को जीवनमें एकबार ग्रहण करनेके पश्चात् बदला नहीं जाता है। इसलिए गुरु पदाश्रयमें बहुत सावधानी बरतनेकी आवश्यता है। मन्त्र बदलनेका अर्थ है—गुरु, माला तथा मूर्ति तीनोंका बदलना। मन्त्र, माला तथा मूर्तिको न बदलनेके पीछे आशय है—साधनामें चंचलता पैदा न हो, स्थिरता रहे। निरन्तर गुरु और मन्त्र बदलनेसे सम्पूर्ण साधना, श्रमसाध्य ही सिद्ध होती है, उससे मानव जीवनका साफल्य कठिन है।

धर्मके क्षेत्रमें भी अनेक प्रकारके ढोंग और तंत्र उत्पन्न हो गए हैं। कुछ लोगोंने तो शिष्य बनानेकी दुकानें ही खोल ली हैं, जिनका उद्देश्य धन बटोरना, बड़े–बड़े महल खड़े करना, साधनोंके नामपर मांस, मदिरा, स्त्रीसंग सभी कुछ करना है। मैं एक ऐसे साधुको जानता हूँ, जिनके अनुसार उनके १५ लाखसे अधिक शिष्य हैं। वे एक बारमें लाइनमें बिठाकर २००० से ३००० तक लोगोंको २५०० से ५००० तक दक्षिणा लेकर लाखों रूपये बटोर लेते हैं। सहजिया सम्प्रदायोंके लोग स्त्री संगको ही भजनका एक प्रमुख अंग मानते हैं जो कि नितान्त हेय तथा भक्ति शास्त्रोंके विरुद्ध आचरण है।

(क्रमशः)

✪✪✪

गीताकी वाणी

—श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

श्रीमद्भगवद्गीताके सम्बन्धमें जाननेके लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि गीता क्या वस्तु है? इसके वक्ता और श्रोता कौन हैं? वक्ता और श्रोताका परस्पर सम्बन्ध क्या है? एवं गीतोपदेशका हेतु क्या है? सर्वप्रथम गीता क्या वस्तु है—इस विषयपर विचार किया जा रहा है। गीता माहात्म्यमें लिखा है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल–नन्दनः।
पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

(गीता माहात्म्य—६)

अर्थात् श्रुतियाँ गाभीस्वरूप हैं, उनका दोहन करनेवाले हैं—श्रीनन्द गोपके नन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र। अर्जुन बछड़ेके रूपमें कल्पित हैं अर्थात् गायका बछड़ा जैसे दूध दूहे जानेका उपाय–स्वरूप या हेतु होता है, अर्जुन भी वैसे ही गीतोपदेशका उपलक्ष्य या हेतुमात्र हैं, सज्जनवृन्द इसके भोक्ता अर्थात् इसको पान करनेवाले हैं एवं गीतारूप अमृत ही श्रुतिरूप गायोंका दूध है। दुहा गया दूध जैसे केवल बछड़ेके पीनेके लिए नहीं होता, बल्कि भगवानकी सेवा अथवा दूसरे दूसरे कार्योंमें व्यवहृत होता है, वैसे ही गीता–अमृत अर्जुनके लिए नहीं, अर्जुनको केवल निमित्तमात्र रखकर करुणावरुणालय परमेश्वरने सारे जीवोंके लिए चिरकालके लिए एक महत् दान कर रखा है। बात ऐसी है कि अर्जुन हमारे जैसे एक बद्ध जीव नहीं हैं। उनको मोह व्यापनेकी कतई भी गुंजाइश नहीं है। सर्व–कारण–कारण भगवान श्रीकृष्ण जिनके सम्मुख खड़े हैं, फिर भगवानके पीछे खड़ी रहनेवाली माया उनके निकट ही कैसे जा सकती है? इसका कारण यह है कि जहाँ कृष्ण वास करते हैं, वह

स्थान मायाके अधिकारसे बाहर होता है। गीताकी प्रारम्भिक घटनासे यह बात स्पष्ट हो जाती है। महाभारतका प्रलयकारी संग्राम होने जा रहा था। भाई भाईके सामने खून पीनेके लिए खड़ा था। उसी समय अर्जुन भगवानसे कहते हैं—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।

भगवन! मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिए। यहाँ अर्जुनके इन वचनोंमें आज्ञा देनेका भाव झलकता है। किन्तु क्या भगवान इससे नाराज होते हैं? नहीं, वे आनन्दपूर्वक अर्जुनकी आज्ञाका पालन करते हैं—

एवमुक्तो हृषिकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।
भीष्म द्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति।।

(गीता १/२४-२५)

उपरोक्त श्लोकोंकी इन पंक्तियोंपर विचार करनेसे पता चलता है कि गुडाकेशका अर्थ है 'निद्रा विजयी'। गुडाकाका अर्थ है निद्रा। निद्रा मायाका कार्य है, जो इसके ईश या पति हैं, वे हैं अर्जुन। जब भगवानके केवल नामका अवलम्बन करनेसे ही जीव मायाको पार कर जाता है, तब भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीलाकी स्मृतिमें सर्वदा अभिनिविष्ट रहनेवाले भगवद्भक्त अर्जुनपर वह माया कैसे आक्रमण कर सकती है? और यदि अर्जुन मायाके अधिकारसे बाहर है तो फिर मोह जो मायाका कार्य है, उनको कैसे व्याप सकता है? जीव मोहके वशमें होकर जड़ शरीर और गृहादिके प्रति 'मैं और मेरा' अभिमान करते हैं। अर्जुन भी बद्ध जीवोंके जैसा अभिनय करते हुए कहते हैं—

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।।
त इमेवस्थिता युद्धे प्राणांस्तक्त्वा धनानि च।

(गीता १/३२-३३)

ये उक्तियाँ उन लोगोंके सम्बन्धमें हैं जो देहको ही आत्मा समझते हैं। देह सर्वस्ववादियोंका यही विचार है। अर्जुन ऐसे लोगोंका प्रतिनिधित्व करनेका अभिनय करते हैं। वे आगे और भी कहते हैं—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्मा सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।

(गीता १/३९)

यहाँ उनके कथनका तात्पर्य यह है कि कुल-धर्म ही जीवका सनातन धर्म है। यह भी बद्ध जीवोंका ही विचार है।

यदि अर्जुन बद्ध जीवोंकी तरह ऐसा न कहते तो भगवानके गीतोपदेश वर्णन करनेका हेतु या उपाय ही क्या हो सकता था? भगवान बद्ध जीवों द्वारा दीख नहीं पड़ते अथवा उनके लिए भगवानके साक्षात् श्रीमुखसे निकली हुई वाणियोंको सुननेका सौभाग्य भी असम्भव होता है। किन्तु स्वयं भगवान अवतारी कृष्ण जब स्वयं अवतीर्ण होते हैं, तब उनकी ऐसी गूढ़ इच्छा होती है कि उनकी इस वाणीका आश्रयकर अविद्याग्रस्त जीव अपनी अज्ञान-राशिको दूर कर नित्यकालके लिए सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा पावेंगे। इसीलिए भगवात्पार्षद अर्जुन उनकी इच्छा पूर्त्तिमें हेतु मात्र हैं। इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्णने उद्धवको, भगवान कपिलदेवने अपनी माता देवहूतिको और भगवान श्रीकृष्णचैतन्यदेवने निज जननी तथा अपने पार्षद भक्त रूप-सनातन आदि गोस्वामियोंको समय समयपर अपने परम रहस्ययुक्त तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया है। जगद्गुरु भगवान शम्भुने अपनी शक्ति महामायाके प्रति भगवत् कथाका वर्णन किया था। अतएव अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करानेके उद्देश्यसे गीताका उपदेश नहीं हुआ, बल्कि उक्त उद्देश्यको अर्थात् भगवत्तत्वको लक्ष्यकर ही भगवानने अर्जुनको निमित्त बनाकर कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति आदि उपायोंका वर्णनकर अन्तमें भक्तिकी श्रेष्ठता स्पष्टतः प्रतिपादित की है।

गीताके प्रत्येक अध्यायमें एक-एक योगका वर्णनकर उसके अन्तमें पुष्पिकामें मोक्षयोगका उपदेश दिया गया है। जब जीवका सांसारिक विषाद उपस्थित होता है, उस समय यदि उपयुक्त भगवत् तत्त्ववेत्ता साधुके संगमें संसारका स्वरूप, जीवका स्वरूप और भगवत्-स्वरूपका ज्ञान लाभकर भगवत्

प्रीतिका एकमात्र उपाय भगवानकी भक्तिका अवलम्बन करता है, तो वह संसार–दुःखसे, शीघ्र मुक्ति लाभ कर परम शान्ति लाभ करता है। गीताका यही निष्कर्ष है।

विभिन्न प्रकृतियोंके जीव गीताका पाठ करते हैं। उनकी धारणाएँ भिन्न–भिन्न प्रकारकी होती हैं। अधिकांश गीता पाठकोंके धारणानुसार कर्म ही गीताका चरम उद्देश्य है। उनमेंसे कुछ ज्ञानी ज्ञानको, कोई–कोई अष्टांग योगको एवं सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी तथा भाग्यशाली व्यक्ति ही भक्तिको गीताका चरम प्रतिपाद्य सिद्धान्त निर्णय करते हैं। सत्संगमें गीताकी आद्योपान्त आलोचना करनेसे ही गीताका वास्तविक अर्थ हृदयंगम हो सकता है।

वेदान्तके प्रथम सूत्रमें जिस ब्रह्म जिज्ञासाका प्रसंग आया है, वैसी जिज्ञासा कौन कर सकता है? श्रुति इसका उत्तर देती है— "शान्त–दान्त–उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वा आत्मनि एव आत्मनं पश्येत्" अर्थात् शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और श्रद्धायुक्त होनेसे आत्माका आत्मामें दर्शन सम्भव होता है। 'किं नो राज्येन गोविन्द' (गीता १/३२) श्लोकमें अर्जुनका शम, दम गुण, 'अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते' (गीता १/३५) श्लोकमें इहकाल और परकालके विषय भोगोंसे उपरति, 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यं अपीह लोके' (गीता २/५) श्लोकमें द्वन्द्व सहिष्णुता लक्षणा तितिक्षा एवं 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गीता २/७) श्लोकमें गुरुके वचनोंमें दृढ़ विश्वास लक्षणा श्रद्धा प्रकाशित होती है। शम–दम शून्य व्यक्तिका गीतापाठ भस्ममें घृताहुतिके समान व्यर्थ है। अतएव 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्। समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' (मुण्डकोपनिषद् १/२/१२) 'आचार्यवान् पुरुषोवेद' (छान्दोग्य ६/१४/२) आदि श्रुति वचनोंके अनुसार श्रोत्रिय (वेदज्ञ) और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके निकट गमनपूर्वक उनके शरणागत होनेसे भगवत्–तत्त्वका ज्ञान प्राप्त होता है। गीतामें भी कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

(गीता ४/३४)

अर्थात् तत्त्वज्ञान लाभ करनेके लिए तत्त्वदर्शी गुरुके निकट गमन कर दण्डवत प्रणाम और स्वच्छ भाव द्वारा सन्तुष्ट कर उनसे तत्त्व सम्बन्धी प्रश्न जिज्ञासा करो। वे तुम्हें वास्तविक ज्ञानका उपदेश करेंगे।

अतएव भगवद्भक्त अर्जुनने प्रथम अध्यायमें जिन विचारोंको व्यक्त किया है, वे सब बद्ध जीवोंके विचार हैं, अर्जुनने केवल कहनेका अभिनयमात्र किया है। प्रथम अध्यायका सारांश यह है कि हम संसारको ही सार समझकर अपने–अपने आत्मीय स्वजनोंकी सेवाको ही परम धर्म, सनातन धर्म आदि विचार करते हैं। हम सोचते है कि संसार–धर्मका त्याग करनेसे सनातन कुलधर्मका नाश हो जाएगा। ऐसी अवस्थामें वर्णसंकर उत्पन्न होनेसे पितृजनोंके पिण्ड, तर्पणादि क्रियाओंका लोप हो जाएगा। किन्तु ये कुलधर्म अनित्य और तात्कालिक होते हैं। श्रीमद्भागवत इस कथनकी पुष्टि करते हैं—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहत्य कर्त्तम्।।

(श्रीमद्भा. ११/५/४१)

हे राजन्! जो मनुष्य अहंभावका परित्याग करके सर्वतोभावेन शरणागतवत्सल भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों तथा अतिथियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है। वह किसीके अधीन, किसीका सेवक या किसीका ऋणी नहीं रहता।

हम जन्म ग्रहणके बादसे जिन कर्मोंका आचरण करते हैं, उनमें अधिकांश समय पाप कर्म ही होते हैं। यद्यपि ये पापकर्म इतने अधिक होते हैं कि हमारी गणनाके बाहर होते हैं तथापि मनुसंहितामें गृहस्थ लोगोंके द्वारा किए गए पापकर्मोंके लिए पाँच प्रकारके पापोंका उल्लेख किया गया है—

पञ्चशूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्यूपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भस्य वध्यते यास्तु वाहयन्।।

(मनुसंहिता ३/६८)

अर्थात् संसारके नित्य व्यवहारमें आनेवाले कर्मोंमें शिल-लोढ़ा, चूल्हा (अग्नि), जलके घड़े (जल), ढेकीं अथवा ओखल-मूषल और झाड़ू—इन पाँच वस्तुओंसे अनेक प्राणियोंकी हिंसा होती है। इन पापोंसे मुक्त होनेके लिए पञ्च यज्ञकी व्यवस्था की गई है। ये पञ्चयज्ञ ये हैं—देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ, भूतयज्ञ। गृहस्थोंके लिए इस पञ्चयज्ञका करना आवश्यक है। यदि वे इस यज्ञका याजन न करें तो उन्हें स्वर्गकी प्राप्ति न होगी। किन्तु श्रीमद्भागवतके उपर्युक्त श्लोकमें कहा गया है कि जो काय, मन और वचनसे श्रीहरिके शरणमें आ गए हैं, उनके लिए ये पञ्चयज्ञादि ऋण नहीं रहते। गीताके अन्तिम श्लोकमें भगवान श्रीकृष्णने भी प्राञ्जल, सरस और सुदृढ़ शब्दोंमें इस विषयका स्पष्टीकरण करते हुए जीवोंको आश्वासन दिया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(गीता १८/६६)

भगवानके श्रीचरणकमलोंमें शरणागत होनेसे अन्यान्य कर्त्तव्य कर्म नहीं किए जानेपर भी कोई पाप नहीं होता। करुणामय भगवानकी कृपासे उन कर्मोंके नहीं करनेसे जो पाप होता है, उससे मुक्ति हो जाएगी। ऐसी आश्वासनपूर्ण अभयवाणी है। तथापि इस भगवद्वाणी पर जीवोंका विश्वास नहीं होता। जब अर्जुन ऐसे ही बद्धजीवोंके जैसा अभिनय करनेपर कटिबद्ध होते हैं, तो भगवान उन्हें समझाते हैं—कातर न होओ, तुम्हारे कातर होनेका मूल और एकमात्र कारण है—तुम्हारे हृदयकी दुर्बलता। तुम इसे परित्याग करो।'

प्रथम अध्यायका दूसरा तात्पर्य है कि हिंसा-शून्य और दयालु चित्त नहीं होनेसे तत्त्व जिज्ञासा करनेका भाव चित्तपर उदित नहीं होता।

भगवानने अर्जुनको विषादग्रस्त देखकर उनके हृदयदौर्बल्य भावको दूर करनेके अभिप्रायसे कहा कि अर्जुनका चित्त अभी कुलधर्ममें अभिनिविष्ट है। इसलिए उसका क्षत्रियकुलोचितधर्म है—युद्ध करना। युद्ध करनेके बदले भिक्षा-वृत्तिका अवलम्बन करना उसके लिए उचित नहीं। ऐसा करनेसे उसके स्वाभाविक क्षात्रधर्मकी हानि होगी। तब अर्जुन और अधिक वितर्क करनेमें असमर्थ होकर भगवान्के शरणागत होकर बोले—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रुहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

(गीता २/७)

'कृपण' शब्दका साधारण अर्थ है कंजूष व्यक्ति। किन्तु उपनिषद्में इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—

'एतदक्षरं गार्गी अविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः' (बृ. आ. ३/१/१०)

अर्थात् जो अक्षर ब्रह्मको बिना जाने इस संसारसे चला जाता है—मर जाता है, वह कृपण है। अतएव तत्त्वज्ञानसे हीन कृपण होनेके भावको कार्पण्य कहते हैं। तत्त्व-ज्ञानके अभावमें हमारा आत्मस्वभाव आच्छादित रहता है। जीवका स्वभाव है—भगवत् सेवा करना। किन्तु धर्मके विषयमें चित्त मोहित होनेपर संसार-धर्मकी ही प्रधानता लक्ष्य होती है। भाग्यवश सत्संग होनेपर भगवत्कृपा प्राप्त किसी महापुरुषकी वाणीसे जब जीवका धर्म-अधर्म भाव दूर हो जाता है तो वह अर्जुनकी तरह वास्तव मंगल जाननेके लिए उपयुक्त गुरुकी शरण ग्रहण करता है।

(क्रमशः)

✪✪✪

ALL GLORIES TO SRI SRI GURU & GAURANGA!

SCEDULE AND INFORMATION FOR MAHARAJA'S TOUR

SUMMER 1998

HOLLAND, 22 APRIL - 27 APRIL

TOULOUSE, FRANCE 27 APRIL - 2 MAY

SLOVENIA, 2 MAY - 7 MAY

BIRMINGHAM, ENGLAND 8 MAY - 15 MAY

WASHINGTON DC & EAST COAST, USA 16 MAY - 27 MAY

HOUSTON, USA 27 MAY - 3 JUNE

LA, SAN DIEGO 3 JUNE - 10 JUNE

SAN FRANCISCO 10 JUNE - 17 JUNE

BADGER (CALIFORNIA) 17 JUNE - 24 JUNE

HAWAII 25 JUNE - 2nd JULY

✪✪✪

वैष्णव व्रत तालिका

२१ वैशाख	५ मई	मंगलवार	श्रीजाह्नवा देवी एवं श्रीसीता देवीका आविर्भाव, श्रीमधु पण्डितजीका तिरोभाव।
२३ वैशाख	७ मई	बृहस्पतिवार	मोहिनी एकादशी व्रत, अगले दिन ९–२३ से पहले पारण।
२६ वैशाख	१० मई	रविवार	श्रीनृसिंह चतुर्दशी व्रत, अगले दिन पूर्णिमा, ९–२० से पहले पारण, श्रीनिवास आचार्यका आविर्भाव एवं श्रीमाधवेन्द्र पुरीका तिरोभाव।
१ ज्येष्ठ	१६ मई	शनिवार	श्रीरायरामानन्द प्रभुजीका तिरोभाव।
७ ज्येष्ठ	२२ मई	शुक्रवार	अपरा एकादशी व्रत, अगले दिन ८–०७ से पहले पारण।
१६ ज्येष्ठ	२५ मई	सोमवार	सोमवती अमावस्या।

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

श्रीभागवत–पत्रिका

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४२ } श्रीगौराब्द ५१२
विक्रम संवत् २०५५–५६ ज्येष्ठ मास, सन् १९९८, १२ अप्रैल—१० मई { संख्या ३

श्रीश्रीसुभद्रा–स्तोत्रम्

(परमेश्वर बलभद्रजीको प्रणामकर कमलयोनि ब्रह्माजी जगदीश्वरी विष्णुशक्ति श्रीसुभद्राजीका दर्शन करनेके लिये उनके रथके समीप गये और उनका इस प्रकार स्तव करने लगे।)

जय देवि जगन्मातः प्रसीद परमेश्वरि।
कार्य–कारण–कर्त्री त्वं सर्वशक्त्यै नमोऽस्तु ते।।१।।

हे जगदम्बे! देवि! तुम्हारी जय हो। परमेश्वरि! तुम्हीं कार्य–कारण–कर्त्री और सर्वशक्ति हो। तुम्हें नमस्कार है।।१।।

सर्वस्य हृदि संविष्टे ज्ञान–मोहात्मिके सदा।
कैवल्य सुखदे भद्रे त्वां नमामि सुरारणिम्।।२।।

कैवल्य सुखको प्रदान करनेवाली हे सुभद्रे! तुम अखिल जीवोंके हृदयमें विराजित हो। हे ज्ञान–मोहात्मिके! तुम देवताओंके सूर्य–स्वरूप हो। हे भद्रे! तुम्हें नमस्कार है।।२।।

देवि त्वं विष्णु–मायासि मोहयन्ती चराचरम्।
हृत्पद्मासन–संस्थासि विष्णु–भावानुसारिणि।।३।।

हे देवि! तुम चराचर जगत्‌को मोहित करने वाली विष्णुमाया हो। हे विष्णुकी इच्छाओंका अनुसरण करनेवाली देवि! तुम कमलाके रूपमें विष्णुके हृदय–कमल पर सदा–सर्वदा विराजमान रहती हो।।३।।

त्वमेव लक्ष्मीर्गौरी च शची कात्यायनी तथा।
यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।।
तस्य सर्वस्य शक्तिस्त्वं स्तोतुं त्वां कस्तु शक्तिमान्।।४।।

मातः! तुम्हीं लक्ष्मी हो, तुम्हीं गौरी हो, तुम्हीं शची हो, कात्यायनी हो, अधिक और क्या कहूँ जगत्‌की सत् और असत् समस्त वस्तुओंके समुदायकी शक्ति तुम्हीं हो। हे अखिलात्मके! तुम्हारा स्तव करनेमें कौन समर्थ हो सकता है?।।४।।

जय भद्रे सुभद्रे त्वं सर्वेषां भद्र–दायिनि।
भद्राभद्रस्वरूपा त्वं भद्रकालि नमोस्तु ते।।५।।

जननि! तुम सभीका भद्र (कल्याण) करने वाली होनेके कारण भद्रा नामसे प्रसिद्ध हो। अतएव हे सुभद्रे! तुम्हारी जय हो। हे भद्रकाली! भद्राभद्र सब कुछ तुम्हीं हो। तुमको नमस्कार करता हूँ।।५।।

त्वं माता जगतां देवि पिता नारायणो हि सः।
स्त्रीरूपं सर्वमेव त्वं पुं–रूपो जगदीश्वरः।।६।।

देवि! तुम अखिल विश्वकी जननी हो और भगवान् नारायण पिता हैं। जगत्‌की समस्त नारी मूर्ति तुम हो और जगदीश्वर नारायण ही पुरुष मूर्ति–स्वरूप हैं।।६।।

युवयोर्नहि भेदोऽस्ति नास्त्यन्यत् परमेवहि।
यथा वयं नियुक्ताहि त्वया वैष्णव–मायया।
निदेशकारिणो नित्यं भ्रमामः परमेश्वरि।।७।।
वृत्तिः प्रवृत्तिः परमा क्षुधा निद्रा त्वमेव च।
आशा त्वमाशापूर्णा च सर्वाशा–परिपूरिका।।८।।

हे परमेश्वरि! तुम दोंनोंमें तनिक भी भेद नहीं है। तुमलोगोंसे बढ़कर जगत्‌में कोई भी दूसरा तत्त्व नहीं है। विष्णुकी मायाने हमें जिस कार्यके लिये नियुक्त किया है, हम प्रत्येक क्षण उसीकी आज्ञानुसार भ्रमण कर रहे हैं। परमावृत्ति कहो, प्रवृत्ति कहो, क्षुधा कहो, निद्रा कहो, आशा कहो, और आशाकी पूर्णता कहो—सब कुछ तुम्हीं हो और एकमात्र तुम्हारी कृपासे ही सबकी सभी आशाएँ पूर्ण होती हैं।।७–८।।

मुक्तिप्रदा त्वमेवासि बन्धहेतुस्त्वमेव च।
सर्वकामप्रदे नित्ये भक्तानां कल्पवल्लरी।।
त्राहि पादाब्जलग्नं मां कृपापाङ्ग–विलोकनैः।।९–१०।।

मातः! तुम्हीं जीवोंको मुक्ति देनेवाली हो और उनके संसार–बन्धनका कारण भी तुम्हीं हो। हे सनातनि! तुम भक्तोंकी सर्वकामप्रदा कल्पलतिकास्वरूप हो। अतएव हे भक्त–वत्सले! मैं तुम्हारे चरणोंमें पतित हो रहा हूँ। अपनी कृपा–कटाक्षसे मेरा परित्राण करो।।९–१०।।

✪✪✪ (—उत्कल खण्डके २७ वें अध्यायसे)

पाञ्चरात्रिक अधिकार

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'

वैष्णवोंके भेद

भिन्न-भिन्न समयोंमें भिन्न-भिन्न देशोंमें वैष्णवोंका परिचय भिन्न-भिन्न नामोंसे मिलता है। किसी इतिहासकारने उन्हें द्वादश श्रेणियोंमें विभक्त किया है। सात्वत, भक्त, भागवत, पाञ्चरात्रिक, वैखानस, कर्महीन, अकिंचन, साम्प्रदायिक आदि उनके अनेक भेदोंका वर्णन अनेक स्थलोंमें पाया जाता है। पंचोपासकोंके अन्तर्भुक्त अथवा थियोसोफिस्टोंके बीच भी वैष्णव कहलानेवाले व्यक्तियोंका अभाव नहीं। किन्तु शेषोक्त पंचोपासकोंके भीतर वैष्णव कहलानेवाले व्यक्ति द्वारा निर्विशेष मत माननेके कारण उनमें वैष्णवताका अभाव रहता है—वे वैष्णव विश्वाससे बहुत दूर रहते हैं।

वैष्णवोंके दो प्रधान भेद—पाञ्चरात्रिक और भागवत

वैष्णव भिन्न-भिन्न श्रेणियोंमें विभक्त होनेपर भी प्रधानतः इनके दो विभाग दृष्टिगोचर होते हैं—(१) पाञ्चरात्रिक वैष्णव (२) भागवत वैष्णव। जिनमें अर्चन मार्गकी प्रधानता होती है, वे पाञ्चरात्रिक वैष्णव कहे जाते हैं और जो भावमार्गका अनुसरण करते हैं, उन्हें भागवत वैष्णव कहा जाता है। श्रीमन्महाप्रभुजीके उपदेशके अनुसार भागवत मार्गीय तथा पाञ्चरात्रिक वैष्णवोंके अनुष्ठानमें परस्पर भेद होनेपर भी दोनों ही भगवद्भक्त हैं। पञ्चरात्र और भागवत—दोनोंका लक्ष्य शुद्ध भक्तिसे ही है। श्रीचैतन्यचरितामृत मध्यलीला (१९/१६९) में श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं—

एइ 'शुद्ध-भक्ति' इहा हैते 'प्रेमा' हय।
पञ्चरात्रे भागवते एइ लक्षण कय।।

अर्थात् पञ्चरात्र और भागवत दोनोंमें भक्तिका यही लक्षण कहा गया है। इसे ही शुद्ध भक्ति कहते हैं और इसीसे कृष्ण-प्रेम उदय होता है।

पञ्चरात्रका अर्थ

'पञ्चरात्र' शब्दसे पंच-ज्ञान विषयक प्रणालीको समझा जाता है। 'रा' धातुका अर्थ है—दान करना। जिस शास्त्रमें पाँच प्रकारके ज्ञानोंका निरूपण किया गया है, उसे 'पञ्चरात्र' कहते हैं। ज्ञानकी वाणियोंको रात्र कहते हैं। इसलिए पण्डितगण इस शास्त्रको पञ्चरात्र भी कहते है।

रात्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्।
तेनेदं पञ्चरात्रञ्च प्रवदन्ति मनीषिणः।।

(नारद पञ्चरात्र १/१/४४)

पञ्चरात्रके पंच-ज्ञान ये हैं— (१) सात्त्विक ज्ञान, (२) निर्गुण ज्ञान, (३) सर्वपर ज्ञान, (४) राजसिक ज्ञान, (५) तामसिक ज्ञान। इनमें राजसिक ज्ञान भक्तोंके योग्य नहीं तथा तामसिक ज्ञान पण्डितोंके लिए वांछनीय नहीं है।

श्रीरामानुजके सम्प्रदायमें अर्थपञ्चक

श्रीरामानुजके शिष्य कूरेशके पुत्र पराशर भट्ट थे। पराशरके शिष्य वेदान्ती और अनुशिष्य नम्बुर वरदराज थे। इनके शिष्य पिल्लाई लोकाचार्य थे। इन्होंने अर्थपञ्चक नामक एक ग्रन्थकी रचना की। उसमें जीव, ईश्वर, पुरुषार्थ, उपाय और विरोधीस्वरूप—इन पंच स्वरूप-ज्ञानोंके अन्तर्गत प्रत्येकके पाँच-पाँच भेदसे पचीस अर्थोंका निरूपण किया गया है।

माध्वमतमें भेद-पञ्चक

श्रीमाध्वमतमें तत्त्व-वस्तुके पाँच भेद माने गए है। इनमें पंच-ज्ञानका होना अत्यावश्यक समझा

जाता है। पंच-भेद ज्ञान ये हैं—(१) ईश्वरका जीवसे भेद, (२) एक जीवका दूसरे जीवसे भेद, (३) ईश्वरका जड़से भेद, (४) जड़ पदार्थका दूसरे जड़ पदार्थसे भेद (५) जीवका जड़से भेद। ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म—इन पाँच विषयोंके ज्ञानसे पुरुषार्थ-ज्ञान प्राप्त होता है।

पञ्च महाभूत, पञ्च सूक्ष्मभूत, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और इनसे अतिरिक्त मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और पुरुष—इन पाँच पञ्चकोंका शुद्ध ज्ञान भी पञ्चरात्र है। निर्विशेषवादियोंके आगम शास्त्रको भी पञ्चोपासक लोग पञ्चरात्रकी संज्ञा देते हैं।

सात पञ्चरात्रोंमें पाँच सात्त्विक पञ्चरात्र हैं

नारद पञ्चरात्रके अनुसार पञ्चरात्र सात हैं—(१) ब्राह्म, (२) शैव, (३) कौमार, (४) वाशिष्ठ, (५) कपिल, (६) गौतमीय और (७) नारदीय। ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें कृष्णजन्मखण्ड १३२वे अध्यायमें लिखा है कि केवल पाँच पञ्चरात्रोंमें कृष्णका माहात्म्य वर्णन किया गया है। वाशिष्ठ, नारदीय, कपिल, गौतमीय और सनत्कुमारीय—ये पाँच सात्त्विक पञ्चरात्र हैं। इनके अतिरिक्त हयशीर्ष, पृथु, ध्रुव आदि पञ्चरात्रोंके भी अस्तित्व हैं। श्रीगौड़ीय वैष्णवोंमें भी श्रीगौराङ्ग, नित्यानन्द, अद्वैत, गदाधर, श्रीवास आदि भक्तवृन्द—इन पाँच तत्त्वोंका अर्चन होता है।

पांचरात्रिक अर्चन और वैदिक भागवतके अनुष्ठान पृथक् पृथक् हैं

पञ्चरात्रोंके अनुष्ठान आगम (तंत्र) शास्त्रके अनुसार होते हैं। इसलिए इनमें अर्चनकी प्रधानता होती है। योग्य व्यक्ति ही वैदिक अनुष्ठान करते हैं। नारद आदि पञ्चरात्र और वेद-वृक्षका सुपक्व फल श्रीमद्भागवतका उद्देश्य एक होनेपर भी इनके अनुष्ठानोंमें परस्पर भेद है।

अर्चन प्रधान वैष्णवोंके भेद और उनके लक्षण

शास्त्रमें भागवतोंकी तरह अर्चन प्रधान वैष्णवोंको भी तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—(१) अर्चनप्रधान कनिष्ठ वैष्णव, (२) अर्चन-प्रधान मध्यम वैष्णव, (३) अर्चनप्रधान उत्तम वैष्णव। शास्त्रमें अर्चनप्रधान कनिष्ठ वैष्णवका लक्षण निर्देश किया है—

शंखचक्राद्यूर्द्ध्वपुण्ड्रधारणाद्यात्मलक्षणम् ।
तन्नमस्करणञ्चैव वैष्णवत्वमिहोच्यते।।

(पाद्मोत्तर खण्ड)

शंख, चक्र, गदा, पद्म-चिह्न तथा ललाट आदि द्वादश अंगोंमें हरिमन्दिर—ऊर्द्ध्व पुण्ड्र धारण कर जो अपनेको अप्राकृत विष्णुका दास समझते हैं एवं वैसे हरिमन्दिर-चिह्नोंको देखकर जो नमस्कार करते हैं उन्हें वैष्णव कहते हैं।

अर्चनप्रधान मध्यम वैष्णवोंके लक्षण

तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्तिहेतवः।।

(पाद्मोत्तर खण्ड)

हरिताप, हरिपुण्ड्र, विष्णुदास्यसूचक नाम, विष्णुमन्त्र और विष्णुयाग—इन पञ्च संस्कारोंसे संस्कृत होकर वैष्णव लोग परम एकान्तिक महाभागवत होनेके योग्य बन जाते हैं अर्थात् वे मध्यम वैष्णव-अधिकार प्राप्त करते हैं।

अर्चनप्रधान उत्तम वैष्णवोंका लक्षण

तापादि पञ्चसंस्कारी नवेज्याकर्मकारकः।
अर्थ-पञ्चकविद् विप्रो महाभागवतः स्मृतः।।

(पाद्मोत्तर खण्ड)

ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और याग—इन पञ्च संस्कारोंसे युक्त होकर मध्यम वैष्णव-ब्राह्मण नव प्रकारके इज्याकर्म (पूजा) करनेके बाद अर्थ-पञ्चकका रहस्य ज्ञात होनेपर महाभागवत कहे जाते हैं। उस समय वे पाञ्चरात्रिक दीक्षादाता श्रीगुरुका कार्य करनेमें समर्थ होते हैं।

श्रीगुरुके लक्षण

शास्त्रोंमें गुरुके लक्षण बतलाए गए हैं। हरिभक्तिविलास नामक ग्रन्थमें उन शास्त्रोंके वचनोंको इस प्रकार उद्धृत किया गया है—

महाभागवत–श्रेष्ठो ब्राह्मणो वै गुरुर्नृणाम्।
सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यो यथा हरिः।।

(ह. भ. वि. १/३६ धृत पाद्मवाक्य)

ब्राह्मणः सर्वकालज्ञः कुर्यात् सर्वेष्वनुग्रहम्।

(ह. भ. वि. १/३६ धृत नारद–पञ्चरात्र)

अध्यात्मविद्ब्रह्मवादी वेदशास्त्रार्थकोविदः।
उद्धर्त्तुं चैव संहर्त्तुं समर्थो ब्राह्मणोत्तमः।।

(ह. भ. वि. १/३४ धृत अगस्त–संहिता)

तपस्वी सत्यवादी च गृहस्थो गुरुरुच्यते।
देवतोपासकः शान्तो विषयेष्वपि निस्पृहः।।
अवदातान्वयः शुद्धः स्वोचिताचारतत्परः।
आश्रमी क्रोधरहितो वेदवित् सर्वशास्त्रवित्।।

(ह.भ.वि. १/३२ धृतमन्त्रमुक्तावली)

धीमाननुद्धतमतिः पूर्णोऽहन्ता विमर्शकः।
सगुणोऽच्चासु कृतधीः कृतज्ञः शिष्यवत्सलः।।

महाभागवत श्रेष्ठ अर्थात् अशेष वैष्णवधर्मरत श्रीभगवत् महात्म्य आदिके ज्ञाता ब्राह्मण मनुष्यमात्रके गुरु होते हैं। ये मनुष्योंमें श्रीहरिकी तरह पूजनीय हैं।

सर्वकालज्ञ अर्थात् पञ्चरात्र विधानमें कहे गए पञ्चकालोंके ज्ञाता ब्राह्मण सभी वर्णोंको मन्त्रादि प्रदानके द्वारा कृपा करेंगे।

जो आत्म विषयक ज्ञानसे युक्त हैं, जो वेदोंके अध्यापक, वेदोंके अर्थ समूहके सुपण्डित हैं एवं जो मन्त्र–उद्धार तथा मन्त्र–संहार करनेमें समर्थ हैं, वे उत्तम ब्राह्मण हैं।

तपस्वी, सत्यवादी और गृहस्थ गुरु कहे जाते हैं, वे देवताके उपासक, शान्त और विषयोंमें स्पृहाशून्य होते हैं। उनके वंशमें कभी भी पातित्य आदि दोष उत्पन्न नहीं होते हैं। वे स्वयं शुद्ध, अपने अधिकारके उचित आचारोंके पालनमें तत्पर, आश्रमयुक्त, क्रोधरहित, वेदज्ञ एवं सर्वशास्त्रवेत्ता होते हैं।

वे बुद्धिमान, स्थिरबुद्धि, पूर्णकाम अर्थात् आकांक्षाशून्य, अहिंसक, विचारवान, वात्सल्यादि गुणयुक्त, भगवानकी प्रतिमाओंकी पूजा करनेमें कृतनिश्चय, कृतज्ञ और शिष्योंके प्रति स्नेहयुक्त होते हैं।

महाकुलप्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः।
सहस्रशाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः।।
गृहीतविष्णुदीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः।।

(ह.भ.वि. १/४०,४१ धृत पाद्मवाक्य)

अर्थात् ब्राह्मण श्रेष्ठकुलमें जन्म ग्रहण करनेपर भी, समस्त यज्ञोंमें दीक्षित होनेपर भी एवं सहस्र शाखाओंका अध्ययन करनेपर भी यदि वैष्णव नहीं हैं तो वे गुरु नहीं हो सकते। जिन्होंने विष्णुदीक्षा ग्रहण की है तथा विष्णुकी पूजामें तत्पर रहते हैं, पण्डित लोग उन्हें ही वैष्णव कहते हैं, उनके अतिरिक्त और सभी अवैष्णव हैं।

नवेज्या–कर्मकी संज्ञा और जीवगोस्वामी

श्रीजीव गोस्वामी प्रभुने भक्तिसंदर्भमें नवेज्या कर्मकी संज्ञाके सम्बन्धमें शास्त्रोंसे इस श्लोकको उद्धृत किया है—

अर्चनं मन्त्रपठनं यागो योगो हि वन्दनम्।
नामसङ्कीर्त्तनं सेवा तच्चिह्नैरङ्कनं तथा।।
तदीपाराधनञ्चेज्या नवधा भिद्यते शुभे।
नवकर्मविधानेज्या विप्राणां सततं स्मृता।।

(भक्तिसंदर्भ २९८ धृत पद्मोत्तर वचन)

(१) अर्चन (२) मन्त्र पाठ (३) योग (४) याग (५) वन्दन (६) नामसंकीर्तन (७) सेवा (८) चिह्न द्वारा अंकन (९) वैष्णवपूजा। हे शुभे! इन नौ कर्मोंको इज्या कहते हैं। यदि ब्राह्मण इन नौ प्रकारके कर्मोंको करे तो उससे सर्वदा ही भगवानका अर्चन हो जाता है।

अर्थ–पञ्चककी व्याख्या और श्रीजीव गोस्वामी

श्रीजीवगोस्वामीने अर्थ-पञ्चकीकी व्याख्यामें इस प्रकार लिखा है—

अर्थपञ्चकवित्त्वञ्च उपास्यः श्रीभगवान् तत्परमं पदं तद् द्रव्यं तन्मन्त्रः जीवात्मा चेति पञ्चतत्त्वज्ञातृत्वं तच्च हयशीर्षे विवृतं संक्षिप्य लिख्यते—

एक एवेश्वरः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
पुण्डरीक विशालाक्षः कृष्णच्छुरितमूर्द्धजः।।
वैकुण्ठाधिपतिर्देव्या नीलया चित्स्वरूपया।
स्वर्णकान्त्या विशालाख्याा स्वाभावाद् गाढ़माश्रितः।।
नित्यः सर्वगतः पूर्णो व्यापकः सर्वकारणम्।
*वेदगुह्यो गभीरात्मा नानाशक्त्योदयो नव।।*इत्यादिं

तत्परमं पदं—

स्थानतत्त्वमतो वक्ष्ये प्रकृतेः परमव्ययं।
शुद्धसत्त्वमयं सूर्यचन्द्रकोटिसमप्रभम्।।
चिन्तामणिमयं साक्षात् सच्चिदानन्दलक्षणम्।
आधारं सर्वभूतानां सर्वप्रलयवर्जितम्।।

तत्द्रव्यं—

द्रव्यतत्त्वं शृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि समासतः।
सर्वभोगप्रदा यत्र पादपाः कल्पपादपाः।।
भवन्ति तादृशा वल्यस्तद्वच्चापि तादृशम्।
भन्धरूपं स्वादुरूपं द्रव्यं पुष्पादिकञ्च यद्।।
हेयांशानामभावाच्च रसरूप भवेद्धि तत्।
त्वग्बीजञ्चैव हेयाशं कठिनांशञ्च यद्भवेत्।।
सर्वं तद्भौतिकं विद्धि न ह्यभूतमयञ्च यत्।
रसस्य योगतो ब्रह्मन् भौतिकस्वादुवद्भवेत्।।
तस्मात् साध्यः रसो ब्रह्मन् रसः स्याद् व्यापकः परः।
रसवद्भौतिकं द्रव्यमत्र स्याद्रसरूपकमिति।।

तन्मन्त्रः—

वाच्यत्वं वाचकत्वञ्च देवतन्मन्त्रयोरिह।
*अभेदेनोच्यते ब्रह्मन् तत्त्वविद्भिर्विचारितः।।*इत्यादि।

जीवात्मा—

मरुत् सागरसंयोगे तरङ्गात् कणिका यथा।
जायन्ते तत् स्वरूपाश्च तदुपाधिसमावृताः।।
आश्लेषादुभययोस्तद्वदात्मानश्च सहस्रशः।
संजाताः सर्वतो ब्रह्मन् मूर्त्तामूर्त्तस्वरूपतः।।

इत्याद्यपि किन्तु भगवदाविर्भावादिषु स्वस्वोपासना-शास्त्रनुसारेणापरोऽपिविशेषः कश्चिज्ज्ञेयः।

अर्थपञ्चक—(१) उपास्य श्रीभगवान्, (२) भगवानका परमपद (धाम) (३) द्रव्य, (४) मन्त्र, (५) जीवात्मा—इन पञ्च तत्त्वोंको जो जानते हैं, वे अर्थपञ्चकके ज्ञाता हैं। हयशीर्ष पञ्चरात्रमें इस विषयका वर्णन किया गया है। यहाँ केवल संक्षेपमें लिखा जाता है—

(१) भगवान कृष्ण ही एकमात्र ईश्वर हैं। उनका विग्रह सच्चिदानन्द, नेत्र कमलके सदृश विशाल तथा केश अत्यन्त सुन्दर कृष्णवर्ण हैं। वे वैकुण्ठपति श्रीकृष्ण, विशाल नेत्रोंवाली, स्वर्णकान्तिमयी, चित्स्वरूपा लीलादेवीके द्वारा स्वभावतः दृढ़रूपसे आलिंगित हैं। वे नित्य, सर्वगत, पूर्ण, व्यापक, सर्वकारण, वेदोंके निगूढ़ तत्त्व, स्वरूपतः गुह्य, नाना प्रकारकी शक्तियोंके आश्रय और नित्य नए-नए भावोंसे युक्त इत्यादि हैं।

(२) परमपद या धाम तत्त्व—इसके बाद धाम तत्त्वके सम्बन्धमें कहूँगा—वह प्रकृतिसे परे, अव्यय, शुद्ध सत्त्वमय एवं कोटि-कोटि चन्द्र-सूर्यकी प्रभाके समान दीप्तिशाली है। यह स्थान चिंतामणिमय, साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वभूतोंका आधार और सर्वप्रकारके प्रलयोंसे वर्जित है। इत्यादि।

(३) द्रव्य—हे ब्रह्मन्! मैं अभी संक्षेपमें द्रव्य तत्त्वका वर्णन करता हूँ। आप इसे श्रवण करें—ऊपर कहे गए स्थानमें समस्त भोगोंको देनेवाले कल्पवृक्ष ही एकमात्र वृक्ष हैं। वहाँकी लताएँ भी उसी प्रकार समस्त भोगोंको प्रदान करनेवाली हैं तथा उनके फल-फूल भी वैसे ही भोगप्रद हैं। वहाँ सुगन्धयुक्त सुस्वादु द्रव्य, पुष्पादि जितने भी पदार्थ हैं, उनका कोई भी अंश हेय (त्यागने योग्य) न होनेके कारण सभी रसस्वरूप हैं। छिलका, बीज

एवं कठिन अंश—ये हेय अंश होते हैं, और ये सभी भौतिक हैं। रसके संयोग होनेपर ही भौतिक वस्तु स्वादुभावयुक्त होती है। अतएव हे ब्रह्मण! रस ही परम साध्य एवं व्यापक वस्तु है। साधारणतः भौतिक द्रव्य रसयुक्त होता है। परन्तु वैकुण्ठमें चिन्मय द्रव्य-समूह साक्षात् रसस्वरूप होता है।

(४) मन्त्र—अब मन्त्र तत्त्वके सम्बन्धमें कहा जा रहा है—हे ब्राह्मण! देवता और उसके मन्त्रमें वाच्य और वाचकका सम्बन्ध होता है। देवता वाच्य एवं मन्त्र उसका वाचक होता है। किन्तु तत्त्वविद् व्यक्ति विचारके साथ मन्त्र और देवताको अभिन्नरूपसे ही वर्णन करते हैं इत्यादि।

(५) जीव तत्त्व—हे ब्रह्मन्! वायु और समुद्रके संयोगसे उत्पन्न तरंगोंसे जिस प्रकार तत्स्वरूप और तदीय उपाधियुक्त सहस्र-सहस्र जलकणोंकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार दोनोंके सम्मिश्रणसे मूर्त्त और अमूर्त्त सहस्र-सहस्र आत्माएँ प्रकाशित होती हैं। इत्यादि।

किन्तु अपने-अपने उपासना-शास्त्रके अनुसार श्रीभगवानके आविर्भाव आदि विषयमें इसके अतिरिक्त दूसरे विशेष भाव भी जानने योग्य हैं।

पाञ्चरात्रिक दीक्षासे वर्तमान जन्ममें ही ब्राह्मणत्व लाभ होता है

पाञ्चरात्रिक विधानके अनुसार मध्यम वैष्णवके मन्त्र ग्रहणरूप अनुष्ठानके बाद उन्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है। इसके सम्बन्धमें शास्त्रोंके निर्देश हैं—

यथा काञ्चनतां याति कांस्यं रसविधानतः।
तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम्।।

(तत्त्वसागर)

जिस प्रकार किसी विशेष रासायनिक प्रक्रिया द्वारा काँसा सोना हो जाता है उसी प्रकार दीक्षा विधानसे (वैष्णवी दीक्षासे) नरमात्र विप्रत्व लाभ करते हैं।

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
तदन्यत्रापि दृश्यते तत्तेनैव विनिर्दिशेत्।।

(श्रीमद्भा. ७/११/३५)

मनुष्योंके वर्णसूचक जो लक्षण कहे गए हैं, उनमें जिस वर्णका लक्षण जिस व्यक्तिमें मिले, उस व्यक्तिका वही वर्ण निर्देश करना चाहिए। केवल जन्मसे ही वर्णका निर्देश नहीं होता।

भक्तिरष्टविधा ह्येषा यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्त्तते।
स विप्रेन्द्रो मुनिश्रेष्ठः स ज्ञानी स च पण्डितः।।

(पद्मपुराण)

यदि म्लेच्छ कुलमें उत्पन्न व्यक्तिमें भी यह आठ प्रकारकी भक्ति पाई जाय तो वही विप्र-श्रेष्ठ, मुनि-श्रेष्ठ, ज्ञानी और पण्डित है।

कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्।

(म. अनु. प. १४३/५०)

जन्म, संस्कार, वेद अध्ययन और वंश—ये द्विजत्वके कारण नहीं, वृत्त (आचार) ही एकमात्र द्विजत्वका कारण है।

याति वैश्यः क्षत्रियतां व्रजेत्।

(म. अनु प.)

इन शुभ कर्मोंका आाचरण करनेसे शूद्र ब्राह्मणत्व लाभ करते हैं तथा वैश्य भी क्षत्रिय हो जाते हैं।

अतः वर्तमान जन्ममें ही पाञ्चरात्रिक अधिकारके अनुसार दीक्षा लाभ करनेसे ब्राह्मणत्व लाभ हो जाता है, इसमें कोई बाधा नहीं दे सकते हैं। किसी-किसीका विचार है कि पाञ्चरात्रिक महाभागवत्व जन्मान्तरके ऊपर अपेक्षित है। किन्तु शास्त्रसमूह, श्रीमद्भागवत अथवा श्रीमन्महाप्रभु वैसा नहीं कहते।

✪✪✪

निश्चय

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

निश्चयात्मा और संशयात्मा

'श्रीउपदेशामृत' में श्रीरूप गोस्वामीने भक्ति साधकोंके लिए निश्चयात्मा होनेके लिए उपदेश दिया है। जब तक निश्चता नहीं होती, तब तक मनुष्य संशयात्मा रहता है। संशयात्माका कभी भी कल्याण नहीं होता। जहाँ संशय वर्तमान है, वहाँ भक्तिके प्रति श्रद्धा कैसे उत्पन्न हो सकती है? गीतामें कहते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।

सम्बन्धज्ञानसे रहित और अश्रद्धालु संशयात्मा मनुष्य नष्ट हो जाता है। उस संशयात्माके लिए न लोक है और न ही परलोक। उसे कहीं भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जिनको 'श्रद्धा' हो गयी है, वे पहले ही निःसंशय हो चुके हैं, क्योंकि 'श्रद्धा'—शब्दका अर्थ ही है—दृढ़ विश्वास। जब तक चित्तमें संशय है, तब तक दृढ़ विश्वास कभी पैदा नहीं हो सकता। अतएव श्रद्धालु जीव सर्वदा संशयरहित होता है।

दशमूल-तत्त्व

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने वैष्णवमात्रको 'सम्बन्ध', 'अभिधेय' और 'प्रयोजन'—इन त्रिविध तत्त्वोंको जाननेकी आज्ञा दी है। इन त्रिविध तत्त्वोंमें दस मूल विषय हैं, यथा—प्रथम मूल है—वेदशास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। प्रयोजनतत्त्व निरूपण करनेके लिए पहले प्रमाण जानना आवश्यक है। प्रमेय नव हैं। इन समस्त प्रमेयोंके निर्णयमें भी प्रमाणकी आवश्यकता अनिवार्य है। भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं। कोई प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदिको प्रमाण मानते हैं, तो कोई अन्यान्य विषयोंको भी प्रमाणके अन्तर्गत मानते हैं। श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित वैष्णव-शास्त्रोंमें आम्नायसे प्राप्त स्वतःसिद्ध प्रमाणको मुख्य प्रमाण और अन्यान्य प्रमाणसमूहको गौण-प्रमाण बतलाया गया है। मुख्य प्रमाण ही ग्रहण करने योग्य है।

अचिन्त्य भाव और चिन्त्य भाव

जगतमें जितने प्रकारके भाव हैं, उन्हें दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—चिन्त्य भाव और अचिन्त्य भाव। प्राकृत भाव अर्थात् जो भावसमूह मानवके चिन्ता-मार्गपर स्वयं उदित होते हैं, उन्हें 'चिन्त्य-भाव' कहते हैं। अप्राकृत भाव—जो भाव साधारण मानवके ज्ञान-शक्तिसे परे होते हैं उन्हें 'अचिन्त्यभाव' कहते हैं। आत्म-समाधिके बिना अचिन्त्य भावोंको समझा नहीं जा सकता है। अतएव अचिन्त्य विषयमें तर्काश्रित प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी गति नहीं है।

अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्तस्य लक्षणम्।।
(महाभारत उद्योगपर्व)

प्रकृतिके अन्तर्गत २४ तत्त्वोंके परे जो तत्त्व हैं, वे अचिन्त्यभावमय हैं। उन अप्राकृत भावोंमें प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणोंका प्रवेश नहीं है। उनसे अवगत होनेका एकमात्र उपाय है—आत्म-समाधि। किन्तु आत्म-समाधि साधारण लोगोंके लिए असाध्य है। अतएव जीवोंकी ऐसी दुर्गति लक्ष्यकर परम करुणामय परमेश्वरने वेदशास्त्रोंको प्रकाशित किया है। श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा है—

मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृति-ज्ञान।
जीवरे कृपाय कैल कृष्ण वेद-पुराण।।
वेदशास्त्र कहे—'सम्बन्ध, 'अभिधेय, 'प्रयोजन।
'कृष्ण' प्राप्य सम्बन्ध, 'भक्ति' प्राप्येर साधन।।
अभिधेय-नाम—'भक्ति', 'प्रेम—प्रयोजन।
पुरुषार्थ-शिरोमणि प्रेम—महाधन।।
(चै. च. म. २०/१२२-१२५)

अचिन्त्य भावोंको जाननेके लिए केवलमात्र वेद प्रमाण ही ग्राह्य हैं। किन्तु इसमें एक बात विचारणीय है। 'आम्नाय'—शब्दसे 'गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त वेद' का बोध होता है। वेदोंमें अनेक प्रकारके उपदेश

हैं। भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके उपदेश हैं। समस्त प्रकारके अधिकारोंमें भक्ति-अधिकार ही श्रेष्ठ है। हमारे पूर्व-पूर्व महाजनोंने भजनके प्रभावसे आत्मसमाधि द्वारा वेदोंसे भक्ति-अधिकारकी शिक्षाओंको छाँट-छाँट कर पृथक् रूपमें संग्रह कर रखा है। अतएव पूर्व महाजनोंने जिन वेद-वाणियोंको भक्ति-अधिकारके लिए लाभदायक बतलाया है, उन्हें सीखने और आचरणमें लानेकी आवश्यकता है। श्रीगुरुदेवकी कृपासे ही अचिन्त्य भावोंमें प्रवेश किया जा सकता है, अन्यथा उनमें प्रवेश पाना कठिन ही नहीं, नितान्त असम्भव है। श्रीमन्महाप्रभुजीने एक उदाहरण देकर इस विषयको स्पष्ट कर दिया है—

एक दिन एक दरिद्रके घर एक सर्वज्ञ ज्योतिषी आया और बोला—'भैया! तुम इतने दुःखी क्यों हो? तुम्हारे घरमें बहुतसा पितृधन गुप्तरूपमें गड़ा हुआ है। तुम्हारे पिता तुम्हें उस धनका पता बताये बिना ही कहीं विदेशमें अचानक मर गए हैं। तुम उस गुप्त धनका अनुसन्धान कर सुखसे जीवन निर्वाह कर सकते हो।'

'यदि आप उसका पता बतला दें तो बड़ी कृपा होगी। मैं इस बातको जानता तो हूँ, किन्तु स्थान मालूम नहीं है। मैंने बहुत ही छान-बीन की है, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। आपका बड़ा उपकार होगा।'—दरिद्र व्यक्तिने सर्वज्ञ ज्योतिषिके पैरोंपर गिरकर कहा। ज्योतिषी दयालु था। उसने आश्वासन देते हुए कहा—'कोई चिन्ता न करो। किन्तु मैं जैसा कहूँगा वैसा ही तुम्हें करना पड़ेगा। तुम्हारे घरके दक्षिण दिशामें बर्रेके विकट समूह हैं। उधर भूलकर भी न खोदना। अन्यथा खोदनेके साथ ही वे निकलकर भारी उत्पात मचा देंगी और धन भी हाथ न लगेगा। पश्चिममें एक यक्ष है, अतः उधर खोदनेसे वह विघ्न करेगा। उत्तरकी ओर खोदनेसे एक भारी अजगर निकलेगा और तुम सभी लोगोंको निगल जायेगा। हाँ, पूरबमें थोड़ीसी जमीन खोदते ही तुम्हें अभिलषित धनकी प्राप्ति हो सकती है।' अब सर्वज्ञ ज्योतिषीकी बातोंको मानकर दरिद्र व्यक्तिने पूरबमें थोड़ीसी जमीन खोदी और प्रचुर परिमाणमें गुप्त पितृधन पाकर मालामाल हो गया।

यहाँ शास्त्र सर्वज्ञ ज्योतिषी है। मायाबद्ध जीव—दरिद्र व्यक्ति है। शास्त्र मायामुग्ध अज्ञ जीवोंको श्रीकृष्णरूप मूल महाधनका अनुसन्धान देते हैं और उसकी प्राप्तिके उपाय बतलाते हैं। वे कहते हैं—कर्म, ज्ञान, और योग आदि मार्गोंकी तरफ न झुको, इनकी तरफ जानेसे केवल दुःख-ही दुःख हाथ लगेगा। कृष्णकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कृष्ण तो एकमात्र भक्तिके वशमें हैं, एकमात्र भक्ति द्वारा ही वे लभ्य हैं। श्रद्धापूर्वक उनका भजन करो, वे तुम्हें अवश्य प्राप्त होंगे।

जब परमार्थ पिपासु साधक अत्यन्त व्याकुल होकर श्रीगुरुदेवके निकट आत्म-तत्त्वके सिद्धातोंका श्रवण करता है, तब उसका चित्त क्रमशः निर्मल होकर श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंके प्रति अग्रसर होता रहता है। आम्नाय ही परमार्थके सम्बन्धमें एकमात्र प्रमाण है इसी प्रमाणका अवलम्बन कर नव प्रकारके प्रमेयोंका विवेचन किया जाता है। आम्नायके आधारपर प्रमेयोंका विचार शुद्ध चित्तमें आविर्भूत होता है। इसीका नाम आत्म-समाधि है। यह आत्म-समाधि ही परमार्थका मूलाधार है।

प्रथम प्रमेय—श्रीकृष्ण ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान हैं

आम्नाय द्वारा सबसे पहले यह जाना जाता है कि परमब्रह्म श्रीहरि ही जीवोंके एकमात्र उपास्य हैं। इन्हीं श्रीहरिकी पद-नख-ज्योतिको निर्विशेष ब्रह्मवादी निर्विशेष चिन्ताद्वारा निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें दर्शन करते हैं। वे हरि ही अपने एक अंशसे परमात्मा अथवा ईश्वरके रूपमें उत्पत्ति स्थिति और संहारके कारण हैं। वे हरि ही स्वयं कृष्ण हैं, परमात्मा—विष्णु हैं तथा उनकी ज्योति—ब्रह्म है। सर्वशक्तिमान श्रीहरिका तत्त्व विचार करनेपर परब्रह्म सम्बन्धी समस्त सन्देह दूर हो जाते हैं। जब तक हृदयमें संशय बना रहता है, तब तक साधक प्राकृत ज्ञानके विपरीत एक निर्विशेष भाव ग्रहण कर ब्रह्मका अनुशीलन करता रहता है। फिर अंशरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिए अष्टांग आदि योगोंकी कल्पना करता है। किन्तु सब प्रकारसे संशयरहित होनेपर ही एकमात्र कृष्णमें निश्चला भक्ति उदित होती है।

द्वितीय प्रमेय—श्रीहरि अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न हैं

आम्नायके आधार पर द्वितीय प्रमेयका विचार हृदयमें उदित होता है—परम ब्रह्म श्रीहरि स्वाभाविक अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न हैं। वे अपनी एक शक्ति द्वारा जीवोंके अस्फुट ज्ञानाधार पर ब्रह्मके रूपमें प्रतिभात होते हैं। इस शक्तिका नाम निर्विशेष–शक्ति है। फिर वे अपनी अनन्त शक्तियों द्वारा ब्रह्म और परमात्माको क्रोड़ीभूत कर अपनी भगवत्ताका प्रकाश करते हैं। इसका नाम 'सविशेष–शक्ति' है। निर्विशेष और सविशेष—ये दोनों शक्तियाँ उनमें नित्य वर्तमान रहनेपर भी सविशेष शक्तिका बल अधिक दीख पड़ता है।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञान–बल–क्रिया च।
(श्वेत. उ. ६।८)

उस पराशक्तिकी सन्धिनी, सम्बित् और ह्लादिनी नामक तीन प्रकारकी वृत्तियाँ हैं। ये तीनों शक्तियाँ भक्तोंको सहज ही ज्ञानगम्य होती हैं।

तृतीय प्रमेय—श्रीकृष्ण रस–स्वरूप हैं

आम्नाय कहते हैं—परब्रह्म श्रीकृष्ण परम अप्राकृत रस हैं। जिस रसके प्रभावसे चित्–अचित् उभय जगत् उन्मत्त हो उठता है, वही श्रीकृष्णका स्वरूप है। इसीलिए श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—'मैं ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ'। इस परम रसके प्रभावसे ही चित् और जड़ जगतमें अनन्त विचित्रताएँ हैं। चित् जगतका रस शुद्ध होता है। जड़ जगतमें जो रस दिखाई पड़ता है, वह चिज्जगतके रसकी छाया है—शुद्ध रस नहीं है। भगवानकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे श्रीव्रजलीला प्रपञ्चमें उदित होती है, जहाँ चित् जगत्के अननत रस प्रकटित हैं। जीवमात्र रसका अधिकारी है। यह परम रस जीवोंका प्राप्य–धर्म है। भजनके प्रभावसे जीव अप्राकृत–रसको प्राप्त करता है। ब्रह्म–प्राप्ति नितान्त नीरस व्यापार है। अतएव ब्रह्म–प्राप्ति अवांछनीय है। परमात्म–योगमें भी रस नामकी कोई वस्तु नहीं है। केवल कृष्ण ही रस–स्वरूप हैं और इनका भजन ही रसमय है।

चतुर्थ प्रमेय—जीव–तत्त्व; उसकी स्वतन्त्रता और स्वरूप

आम्नाय कहते हैं—जीव कृष्णरूप चित् सूर्यके अणु–समूह हैं। इनकी संख्या अनन्त है। जिस प्रकार कृष्णकी चित् शक्तिसे चित् जगत और अपरा माया शक्तिसे जड़ जगत प्रादुर्भूत होता है, उसी प्रकार उनकी परा खण्ड चित् शक्तिसे जीव–जगत प्रकाशित होता है। श्रीकृष्णके चिद्धर्ममें जो समस्त गुण पूर्णमात्रामें होते हैं, वे ही गुण बिन्दु–बिन्दु परिमाणमें अणु जीवोंमें स्वभावतः वर्तमान हैं। श्रीकृष्णमें स्वातन्त्र्य–धर्म पूर्णरूपमें है, उसी स्वातन्त्र्य धर्मका एक कण जीव–स्वरूपमें भी लक्षित होता है। उसी धर्मके द्वारा जीवोंमें स्वाभाविक स्वातन्त्र्य–धर्म नित्य–सिद्ध है। इसी स्वतन्त्रताके कारण जीवोंकी प्रवृत्ति भिन्न–भिन्न प्रकारकी होती है। एक प्रवृत्ति द्वारा जीव स्वसुखका अनुभव सन्धान करता है, तो दूसरी प्रवृत्ति द्वारा वह कृष्ण–सुखका अन्वेषण करता है। अब प्रवृत्तिके भेदसे जीव दो प्रकारके हुए—स्व–सुखान्वेषी और कृष्ण–सुखान्वेषी। स्व–सुखान्वेषी जीव—नित्यबद्ध हैं तथा कृष्ण–सुखान्वेषी जीव—नित्यमुक्त होते हैं।

अचिन्त्य भाव–समूह चित्कालके अनुगत होते हैं। चिज्जगत अर्थात् वैकुण्ठके कालमें केवलमात्र नित्य वर्तमानरूप धर्म होता है। किन्तु अपरा मायाशक्तिगत कालमें भूत, भविष्य और वर्तमानरूप त्रिविध–धर्म होते हैं। अतएव इस विषयके समस्त विचारोंको चित्–कालके अन्तर्गत कर लेनेपर कोई संशय नहीं रह जाता। किन्तु उन्हें जड़कालके अन्तर्गत करनेपर अनेक संशय उत्पन्न होते हैं। जीव शुद्ध चित्कण होकर भी वह स्व–सुखका अन्वेषण क्यों करता है—ऐसा वितर्क करनेपर जड़ीय कालगत संशय उपस्थित होता है। इस संशयका परित्याग होनेपर ही भजन सम्भव होता है। अचिन्त्य भावोंके सम्बन्धमें तर्क–वितर्क करनेसे केवलमात्र अनर्थ ही पैदा होता है।

(क्रमशः)

✪✪✪

श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एवं संन्यास

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण

(२) उनका दूसरा आक्षेप है—कलिकालमें सभी सम्प्रदायके लिए संन्यास वर्जित है—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्।।

(ब्रह्मवैवर्त्त, कृष्णजन्मखण्ड १८५/१८०)

अर्थात् अश्वमेध यज्ञ, गोमेध यज्ञ, संन्यास, मांसद्वारा पितृश्राद्ध तथा देवर द्वारा पुत्रोत्पत्ति—ये पाँच कलियुगमें विर्वजित हैं।

यहाँ विचारणीय है कि वेद, उपनिषद्, पुराण एवं स्मृतियोंके उपदेश सार्वकालिक हैं। जहाँ उपयुक्त सभी प्रामाणिक शास्त्र एक स्वरसे सभी युगोंके लिए (अधिकारीके लिए) संन्यास एवं गैरिक वस्त्र धारणका विधान दे रहे हैं, वहाँ केवल एकमात्र ब्रह्मवैवर्त्तके केवल एक श्लोकके बलपर कलियुगमें संन्यासका निषेध किसी विशेष परिस्थिति या किसी विशेष प्रकारके संन्यासके लिए ही उचित माना जा सकता है; सभी क्षेत्रोंमें नहीं। क्योंकि उसी ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें ही अन्यत्र संन्यास एवं गैरिक वसन धारणकी विधि भी दी गई है—

दण्डं कमण्डलुं रक्तवस्त्रं मात्रञ्च धारयेत्।
नित्यं प्रवासी नैकत्र स संन्यासीति कीर्त्तितः।।

(ब्र. वै. २/३६/९)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें ब्रह्मवैवर्त्तके 'अश्वमेधं' श्लोकका प्रमाण श्रीचैतन्य महाप्रभुने चाँदकाजीको गोवधके विरोधमें प्रस्तुत किया था, संन्यासके प्रसंगमें नहीं। पद्मपुराणमें तीन प्रकारके संन्यासका उल्लेख है—ज्ञान-संन्यास, वेद (विद्वत्)-संन्यास एवं कर्म-संन्यास।

ज्ञान संन्यासिनः कोचिद्वेदसंन्यासिनोऽपरे।
कर्मसंन्यासिनस्त्वन्ये त्रिविधाः परिकीर्त्तितः।।

(पद्मपुराण आदि ३१ अध्याय)

इन तीनोंमेंसे कलियुगमें केवल कर्मसंन्यास ही निषिद्ध है। इन्द्रियोंके शिथिल होनेपर रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शादि सुखोंको भोगनमें असमर्थ होनेपर आत्मज्ञान या भगवद्भक्तिके उद्देश्यसे रहित होनेपर भी जो लोग संन्यास ग्रहण करते हैं, वे कर्मसंन्यासी हैं। भगवद्भक्त कर्मी नहीं होते, अतः उनके लिए कर्मसंन्यासका प्रश्न ही नहीं उठता। ज्ञान-संन्यासका लक्ष्य सायुज्य मुक्ति है। 'आरुह्य कृच्छ्रेन परं पदं ततो पतन्त्यधोऽनादृत-युष्मदङ्घ्रयः'—श्रीमद्भागवतके इस श्लोकके अनुसार इसमें पतनकी आंशका रहनेसे भगवद्भक्तजन ज्ञान-संन्यास भी ग्रहण नहीं करते। भगवद्भक्तजन तो केवल वेद संन्यास—विद्वत् संन्यास ही ग्रहण करते हैं। उनका यह विद्वत् संन्यास ग्रहण भी केवल परात्मनिष्ठाका निर्दशन मात्र है। श्रीचैतन्य महाप्रभु संन्यास ग्रहणके पश्चात् भावविभोर होकर श्रीमद्भागवतके "एतां समास्थाय परात्मनिष्ठामध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः। अहं तरिष्यमिदुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव।।" श्लोकका पुनः पुनः पाठ करते हुए कहने लगे—

परात्मनिष्ठा मात्र वेष धारण।
मुकुन्द सेवाय हय संसार तारण।।

(चै. च. अ.)

सेइ वेष कैल, एबे वृन्दावने गिया।
कृष्ण निषेवन करि निभृते बसिया।।

(चै. च. म. ३/९)

श्रीमद्भागवतमें भी नरोत्तम संन्यास (विद्वत् संन्यास) की विधि दी गयी है—

य स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान्।
हृदि कृत्वा हरिं जेहात्प्रव्रजेत् स नरोत्तमः।।

(श्रीमद्भा. १/१३/२७)

जो व्यक्ति अपनी समझसे हो अथवा दूसरोंके उपदेशसे हो, इस संसारको दुःखरूप समझकर इससे विरक्त हो जाता है और अपने अन्तकरणको वशमें

करके हृदयमें श्रीहरिको धारण करके संन्यास ग्रहण करता है, वह नरोत्तम है।

अतः पूर्वापर सामञ्जस्य रखते हुए विचार करनेपर इस सिद्धान्तपर उपनीत हुआ जाता है कि कलियुगमें भी दुःखपूर्ण संसारसे वैराग्य उदित होनेपर संसारिक आसक्तियोंका सर्वथा परित्याग कर भगवान श्रीमुकुन्दकी ऐकान्तिकी सेवाके लिए (कर्म संन्यासके अतिरिक्त) विद्वत् संन्यास या नरोत्तम संन्यास ग्रहण शास्त्र सम्मत है। यदि किसी भक्तके लिए गृहस्थाश्रममें रहकर भगवद्भजन करना निन्दनीय नहीं है, तब उससे श्रेष्ठ संन्यास आश्रममें रहकर भजन करना निन्दनीय कैसे हो सकता है? जहाँ भी हो, हरिभजन होना चाहिए। जिसके लिए जो आश्रम हरिभजनके लिए अनूकुल हो, उसीमें रहकर वर्णाश्रमके प्रति आसक्ति या अभिमानको छोड़कर हरिभजन करना चाहिए और जो प्रतिकूल हो उसका त्यागकर ऐकान्तिक रूपसे हरिभजन करना चाहिए—यही शास्त्रीय सिद्धान्त है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केने नय।
जेई कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय।।

श्रीमन्महाप्रभुके इस कथनसे संन्यासीका भी गौड़ीय भजन रीतिमें अधिकार है एवं कलिकालमें संन्यास लिया जा सकता है, इसकी पुष्टि भी होती है। कृष्णतत्त्वविद् होनेपर संन्यासी भी आचार्य एवं गुरुके रूपमें मान्य हैं, निन्दनीय या वर्जित नहीं हैं।

(३) (क) अनन्तर उनका कहना है—"श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें संन्यासकी रीति नहीं है।"

इस विषयमें सम्प्रदाय–तत्त्वविदोंका कहना है कि स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही कलिकालमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र आदिने किसी सम्प्रदायका प्रवर्त्तन नहीं किया है, यह उनका कार्य भी नहीं है, उसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभुकी गणना एक सम्प्रदाय प्रवर्त्तकके रूपमें करना भूल एवं शास्त्र–विरुद्ध है। भगवान यह कार्य अपने सेवकों—श्रीब्रह्माजी, श्रीलक्ष्मीजी, श्रीरुद्र एवं श्रीसनत्कुमारों द्वारा सम्पन्न कराते हैं। यदि श्रीमन्महाप्रभुको सम्प्रदायका प्रवर्त्तक मान लिया जाय तो उनके शास्त्रसिद्ध भगवदावतार होनेपर प्रश्न चिह्न लग जाता है क्योंकि किसी भी भगवदावतार द्वारा सम्प्रदाय प्रवर्तनका प्रमाण सुलभ नहीं है। अतः स्वयं भगवान श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने न तो किसी नए सम्प्रदायका गठन किया और न ही उन्होंने कोई नया सम्प्रदाय प्रचलित किया। बल्कि नरलीलानुरोधसे वैष्णव–गुरु–परम्पराकी रक्षा करते हुए श्रीब्रह्म–माध्व सम्प्रदायमें दीक्षा ग्रहणकी लीलाका आचरण किया। ऐसा करते हुए भी उन्होंने साध्य–साधनके सम्बन्धमें उत्कर्षतामूलक परममाधुर्यमय उपास्य–तत्त्वकी परम माधुर्यमयी असमोद्‌र्ध्व–उपासना पद्धति प्रदान कर उक्त सम्प्रदायको सर्वोत्कृष्ट बना दिया।[१]

यहाँ यह सत्योद्‌घाटन करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि श्रीयुत सुन्दरानन्द विद्याविनोद, श्रीराधाविनोदनाथ, अब स्वयं श्रीहकीमजी, जो अब पुराना साम्प्रदायिक चोला बदलकर श्रीचैतन्य महाप्रभुको सम्प्रदाय–प्रवर्तक सिद्ध करना चाहते हैं, उनका अपना कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं है। वे लोग आजकलके राजनीतिज्ञोंकी भाँति सिद्धान्तोंके बदलनेमें भी सिद्धहस्त थे या हैं। आज जिस सिद्धान्तको ग्रहण करते हैं, कल उसके विपरीत कहते हैं। बार–बार विचार बदलनेवालोंके विचार कदापि निर्भर योग्य नहीं होते। श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोदने गुरुत्याग एवं सिद्धान्त परिवर्तनका कीर्तिमान स्थापित किया है। हम पृथक प्रबन्धमें इसे सप्रमाण सिद्ध करेंगे। श्रीराधागोविन्दनाथने अपने ही सम्पादित श्रीचैतन्य चरितामृतके तृतीय संस्करण तकमें श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायको श्रीमध्वसम्प्रदायके अनुगत लिखा है। पुनः चतुर्थ संस्करणमें उक्त सिद्धान्तसे हटकर उसे स्वतन्त्र सम्प्रदाय सिद्ध करनेके लिए निराधार

(१) श्रीचैतन्यचरितामृत (श्रीहकीमजी द्वारा सम्पादित प्रथम संस्करण) मध्यलीला, नवम परिच्छेदके २४९ पयारकी चैतन्यचरणचुम्बिनी टीकामें देखें। हकीमजीने स्वयं ऐसा उल्लेख किया है।

कपोलकल्पित कुयुक्तियोंको ग्रहण किया है। माननीय श्रीराधागोविन्दनाथ किसी भी वैष्णव-सम्प्रदायमें दीक्षित शुद्ध वैष्णव नहीं थे। अतः शुद्ध गुरुपरम्परारहित व्यक्ति गूढ़-साम्प्रदायिक रहस्यपूर्ण सिद्धान्तोंको कैसे जान सकता है।? श्रीहकीमजी भी इन शिक्षा-गुरुओंका अनुकरण कर श्रीचैतन्यचरितामृतके अपने द्वारा सम्पादित प्रथम संस्करणकी टीकामें श्रीमन्महाप्रभुके सम्प्रदाय-सम्बन्ध, संन्यास वेश आदिके विषयमें एक प्रकारका सिद्धान्त, फिर द्वितीय संस्करणमें उसके विपरीत सिद्धान्त निरूपण करते हैं।

जहाँ भजन-साधनका अभाव होता है, तत्त्वानुभूति नहीं होती, जहाँ श्रीगुरु एवं गुरु-परम्पराके प्रति निष्ठाका अभाव होता है—वहाँ स्थिर सिद्धान्त पर आरुढ़ नहीं रहा जा सकता है। ऐसे लोगोंके विचारोंको ग्रहण करनेसे केवल अनर्थ एवं वैष्णवापराध ही लाभ होगा—परमार्थ नहीं।

साम्प्रदायिक ऐतिह्यकी आलोचना करनेसे यह स्पष्ट रूपसे देखा जा सकता है कि विष्णुशक्ति या विष्णुदासोंके द्वारा ही अब तक सम्प्रदाय-प्रवर्त्तनका कार्य साधित होता आया है। यद्यपि 'धर्मन्तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतं' (श्रीमद्भा. ६/३/१९) एवं 'धर्मोजगन्नाथात् साक्षान्नारायणात्' (महाभारत शान्तिपर्व ३४८/५४) आदि शास्त्रवचनों द्वारा श्रीभगवानको ही सनातन धर्मका मूल प्रणेता कहा गया है, तथापि 'अकर्त्ताचैव कर्त्ता च कार्यं कारणमेव च' (महाभारत शान्तिपर्व ३४८/६०) आदि शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा यह प्रमाणित होता है कि सर्वकारण श्रीभगवान धर्मका मूल होनेपर भी सम्प्रदाय प्रवर्त्तनके कार्यमें उनका साक्षात् कर्त्तृत्व नहीं है। अपने शक्त्याविष्ट पुरुषों द्वारा ही वे इस कार्यका सम्पादन कराते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो ब्रह्मसम्प्रदाय, श्रीसम्प्रदाय, चतुःसन-सम्प्रदाय और रुद्र-सम्प्रदाय आदि नाम न होकर श्रीवासुदेव-सम्प्रदाय, नारायण-सम्प्रदाय, सङ्कर्षण सम्प्रदाय आदि नाम ही प्रसिद्ध होते। विष्णु-तत्त्व सत् या सात्त्वत सम्प्रदायोंके उपास्य अधिदेव हैं; और उनमें भी विष्णुपरतत्त्व श्रीकृष्ण या श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक गुरुमात्र माननेसे उनको भी ब्रह्मा, लक्ष्मीजी, चतुःसन, श्रीरामानुज, श्रीमध्व आदिके समान या इनका प्रतिद्वन्द्वी मानना अवश्यम्भावी हो जाएगा। ऐसा मानना सिद्धान्तके विपरीत होगा। इसीलिए श्रीरूप-सनातन आदि गोस्वामियोंके ग्रन्थोंमें एवं पश्चात्के श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर, श्रीबलदेव विद्याभूषण, श्रील भक्तिविनोद ठाकुर आदि गौड़ीय वैष्णवाचार्योंने कहीं भी श्रीगौड़ीय वैष्णवोंको 'चैतन्य-सम्प्रदायी' नहीं लिखा है। अतः श्रीचैतन्य महाप्रभुको सम्प्रदाय प्रवर्त्तक कदापि नहीं कहा जा सकता।

श्रीमाधवेन्द्रपुरीने मध्व-सम्प्रदायके श्रीलक्ष्मीपति तीर्थसे संन्याससे पहले ही दीक्षा ग्रहण की थी। पीछेसे तीव्र वैराग्य एवं व्रज-भावसे भजन करनेकी अति उत्कंठा जाग्रत होनेपर उन्होंने किसी 'पुरी' उपाधियुक्त संन्यासीसे संन्यास ग्रहण किया। कुछ विद्वानोंका मत है कि उन्होंने श्रीमध्व सम्प्रदायके प्रसिद्ध श्रीजयतीर्थके दीक्षित शिष्य अन्यत्र संन्यास ग्रहणकारी श्रीविष्णुपुरीकी परम्पराके किसी पुरीसे संन्यास ग्रहण किया था। श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि ९/१४) में श्रीविष्णुपुरीजी प्रेमकल्पतरुके नौ मूलों (जड़ों) में से एक माने गए हैं। श्रीनित्यानन्द प्रभु (किसीके मतानुसार श्रीलक्ष्मीपतिके शिष्य हैं), श्रीईश्वरपुरी, श्रीरंगपुरी, श्रीपरमानन्दपुरी, श्रीब्रह्मानन्द पुरी, श्रीकेशवपुरी, श्रीकृष्णानन्दपुरी, श्रीसुखानन्दपुरी—ये सभी श्रीमाधवेन्द्रपुरीके संन्यासी शिष्य हैं। श्रीअद्वैताचार्य प्रभु, श्रीपुण्डरीक विद्यानिधि, मथुरावाले सनोड़िया विप्र, मैथिल रघुपति उपाध्याय आदि अनेक उन्हींके गृहस्थ शिष्य थे। श्रीकेशव भारती (श्रीमन्महाप्रभुके संन्यास-वेश गुरु) भी अपने गृहस्थाश्रममें रहते हुए श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे ही दीक्षा ग्रहण किए थे। पीछेसे ऐकान्तिक रूपसे कृष्ण भजनके लिए निष्किंचन संन्यास-वेश किसी 'भारती' उपाधिधारी संन्यासीसे ग्रहण किया था। प्रेमविलासके २३वें विलासमें केशव भारतीको श्रीमाधवेन्द्रपुरीका शिष्य बतलाया गया है।

श्रीस्वरूप दामोदर भी काषाय वस्त्रधारी संन्यासी ही थे। ये सभी प्रेमी भक्तजन प्रारम्भसे ही

परमभागवत थे। पीछेसे ऐकान्तिक कृष्ण भजनकी सिद्धिके लिए ही इन्होंने संन्यास ग्रहण किया था। इनमेंसे किसीने भी अद्वैतवादी शांकर संन्यास ग्रहणके पश्चात् भक्तिमार्गमें प्रवेश नहीं किया था। श्रीहकीमजी या श्रीराधागोविन्दनाथका यह कथन कि ये लोग अद्वैतवादी संन्यास ग्रहण करेनके बाद भक्तिमार्गमें प्रविष्ट हुए थे और पूर्वाचार्योंके प्रति सम्मान प्रदर्शन करते हुए पूर्व वेश और पूर्वनामका परित्याग नहीं किया—यथार्थ तथ्य ओर ऐतिह्यके विपरीत है। क्या भक्तिमार्गमें प्रविष्ट होनेके पूर्व ही अद्वैतवादी माधवेन्द्रपुरी (?) से श्रीईश्वरपुरी प्रमुख व्यक्तियोंने अद्वैत–संन्यास लिया था और क्या वे अद्वैतवादी थे? क्या हकीमजी या उनके जैसे विचारधारावाले महानुभवोंने इसका कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत किया है या कर सकेंगे? क्या श्रीचैतन्यमहाप्रभु, श्रीनित्यानन्दप्रभु या श्रीस्वरूपदामोदर पहले अद्वैतवादी संन्यासी थे, पीछेसे भक्तिमार्गमें प्रविष्ट हुए थे? कदापि नहीं। इसे कोई भी समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता।

श्रीमन्महाप्रभुके पश्चात् उनके लीलापरिकर छः गोस्वामी, श्रीलोकनाथ–भूगर्भ, श्रीकृष्णदास कविराज, श्रीनरोत्तम ठाकुर, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर आदि स्वभावतः निष्किंचन परमहंस थे। उनके लिए संन्यास–वेश या गैरिक वस्त्रकी अपेक्षा नहीं थी। द्वितीयतः श्रीमन्महाप्रभुने संन्यास–वेश एवं गैरिक वसन धारणकी लीला की थी। अतः उनके पदाश्रित सेवकाभिमान रखनेवाले इन महात्माओंने अपनेको दीन–हीन अयोग्य समझकर तथा श्रीमन्महाप्रभुके वेशके प्रति आदर–सम्मान प्रकट करनेके लिए संन्यास एवं गैरिक वस्त्र धारण नहीं किया। दूसरी तरफ बहुतसे रागानुगीय अकिंचन वैष्णवोंने उन श्रीगौरपरिकरोंके निष्किंचन परमहंस वेशके प्रति श्रद्धा प्रदर्शन हेतु तथा उनके आनुगत्यमें समग्र विश्वमें श्रीगौरवाणीका प्रचार करनेके लिए परमहंस वेशको मस्तकपर धारणकर उससे निम्न वर्णाश्रमके अन्तर्गत संन्यास वेश एवं गैरिक वस्त्र धारण भी किए हैं। ये दोनों रीतियाँ अपने–अपने स्थानपर सर्वांग सुन्दर एवं सिद्धान्त–संगत हैं। आज इन्हीं द्वितीय प्रकारके निष्किंचन संन्यास–वेशधारी महापुरुषों द्वारा समग्र विश्वमें शुद्ध हरिभक्तिका प्रचार–प्रसार हुआ है, हो रहा है और होगा। नीचे ऐसे महापुरुषोंका नामाल्लेख कर रहे हैं—

(१) श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीके गुरु एवं पितृव्य (चाचा) थे। ये श्रीमन्महाप्रभुके कृपापात्र धुरन्धर विद्वान, स्वाभाविक कवि और भजन परायण थे।

(२) श्रीविश्वरूपप्रभु—श्रीमन्महाप्रभुके ज्येष्ठ भ्राता। संन्यासके पश्चात् श्रीशंकरारण्य नाम हुआ था। इनका कभी भी अद्वैतवादसे कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा। प्रारम्भिक जीवनसे ही भक्तिमान थे।

(३) श्रीराधिका नाथ गोस्वामी—ये अद्वैत वंशज, श्रीगौड़ीय वैष्णवोंमें धुरन्धर विद्वान एवं तत्त्वविद् वैष्णवाचार्य थे। वृन्दावनमें निवास करते थें। इन्होंने त्रिदण्ड संन्यास एवं गैरिक वसन धारण किया था। इनके द्वारा लिखित 'यतिदर्पणा' नामक ग्रन्थमें संन्यासका अधिकारी, आवश्यकता एवं विधि आदिके विषयमें विभिन्न शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत हैं।

(४) श्रीगौर गोविन्दानन्द—उपर्युक्त श्रीपरमानन्द पुरी महाराजके शिष्य तत्कालीन अद्वितीय पण्डित ऐकान्तिक भजन परायण श्रीगौरगत प्राण थे। इनका संन्यासका नाम परिव्राजकाचार्य श्रीगौर–गोविन्दानन्द (पुरी) भागवत स्वामी हुआ था। इनके द्वारा लिखित संस्कृत श्लोकोंमें श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके श्रीमध्वानुगत होनेका व्यवस्था–पत्र विशेष प्रसिद्ध है।

(५) श्रीगौर गोपाल गोस्वामी—श्रीधाम नवद्वीपवासी, अद्वैत वंशीय विख्यात पण्डित थे। इन्होंने भी त्रिदण्डसंन्यास धारण किया था। संन्यासका नाम श्रीगुरु–गौरवान्द महाराज हुआ था।

(६) श्रीसार्वभौम मधुसूदन गोस्वामी—श्रीधाम वृन्दावनके प्रसिद्ध श्रीराधारमणके गोस्वामियोंमें प्रख्यात। विद्वद्वरेण्य सार्वभौम मधुसूदन गोस्वामीने गैरिक वस्त्र एवं संन्यास ग्रहण किया था।

(७) श्रीबालकृष्ण गोस्वामी—वृन्दावनके श्रीराधारमणके गोस्वामी। इन्होंने श्रीकृष्णचैतन्य गोस्वामीके निकट त्रिदण्ड–वेश धारण किया था।

(८) श्रीअतुलकृष्ण गोस्वामी—श्रीधाम वृन्दावनस्थ श्रीराधारमणके विद्वद्वरेण्य श्रीमद्भागवतके सुप्रसिद्ध व्याख्याकार श्रीगौरगतप्राण श्रीअतुलकृष्ण गोस्वामीने श्रीमध्वाचार्य सम्प्रदायके मूलमठ उडुपीके कुलपति श्रीविद्यामान्य तीर्थके निकट अपनी गौड़ीय परम्पराके तिलक, मंत्र, भजन प्रणाली एवं श्रीमन्महाप्रभुकी इष्टताको यथावत रखते हुए संन्यास-वेश ग्रहण किया है। संन्यासका नाम "श्रीचैतन्य कृष्णाश्रय तीर्थ महाराज" हुआ है। ये अभी भी भारतमें सर्वत्र ही श्रीगौरवाणीका प्रचार कर रहे हैं।

(९) जगद्गुरु श्रीलभक्ति सिद्धान्त सरस्वती—समग्र विश्वमें श्रीमन्महाप्रभुके मनोऽभीष्ट हरिनाम और शुद्ध भक्तिके प्रचारक देश विदेशोंमें श्रीगौड़ीय मठोंके प्रतिष्ठाता श्रीविमलाप्रसाद सरस्वती ठाकुर संन्यास ग्रहण कर परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती "प्रभुपाद" के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्होंने दीनतावश अपना परिचय — 'श्रीवार्षभानवीदयितदास' के रूपमें दिया है।

उक्त श्रील सरस्वती ठाकुरके शिष्य-प्रशिष्य बड़े-बड़े प्रतिभासम्पन्न, विद्वान, ऐकान्तिक भजन-परायण, श्रीगुरु-गौराङ्ग-निष्ठा-परायण सैकड़ों संन्यासियोंने भारत एवं विश्वके सभी छोटे बड़े देशोंमें सर्वत्र ही श्रीगौरवाणीका प्रचार-प्रसार किया है और आज भी कर रहे हैं। इनमें परमाराध्य परिव्राजकाचार्य श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज, श्रीमद्भक्तिहृदय वन महाराज, श्रीमद्भक्तिसारंग गोस्वामी महाराज, श्रीमद्भक्तिदयित माधव गोस्वामी महाराज, श्रीमद्भक्तिविलास तीर्थ महाराज, श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराज (पाश्चात्य देशोंमें श्रीगौर वाणीके प्रसिद्ध प्रचारक) परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीमद्भक्तिरक्षक श्रीधर गोस्वामी महाराज आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्हीं महापुरुषोंकी सेवा-प्रचेष्टासे संस्कृत, हिन्दी, बँगला, उड़िया, आसामी, गुजराती तामिल, तेलगु आदि भारतीय भाषाओं एवं अँग्रेजी फ्रेंञ्च, स्पैनिस, चीनी, रसियन, जापानी आदि भाषाओं तथा दक्षिण अमेरिका, अफ्रिका आदि महादेशोंकी विभिन्न भाषाओं—विश्वकी लगभग ४०—५० प्रधान-प्रधान भाषाओंमें श्रीमद्भागवत, गीता, श्रीचैतन्यचरितामृत, आदि अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ एवं पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रहीं है। सर्वत्र श्रीश्रीगौर-नित्यानन्द, श्रीराधाकृष्ण, श्रीसीता-राम एवं श्रीजगन्नाथ देव आदिके विशाल-विशाल श्रीमंदिर बने हैं और बन रहे हैं। लाखों श्रद्धालु नर-नारी करताल और मृदंगके साथ जाति-पाँति और राष्ट्रगत भेदभाव छोड़कर उच्चस्वरसे "हरिबोल हरिबोल" कर संकीर्तनमें मत्त हो रहे हैं।

क्या हकीमजी और उनके शिक्षागुरुवर्ग इन प्रखर प्रतिभावान्, विद्वद्वरेण्य परम निष्किंचन गौर-गतप्राण त्रिदण्डि यतियों एवं काषाय वस्त्रधारी ब्रह्मचारियोंको स्वेच्छाचारी एवं गौड़ीय वैष्णवाचार्य गोस्वामीवृन्दके आनुगत्यसे बाहर बतलाकर महावैष्णव अपराध नहीं कर रहे हैं। फिर स्वयं सम्पादित 'स्मारिका' में इन्हीं महावैष्णवाचार्योंके नाम एवं चित्र देकर उन्हें श्रीब्रह्म-माध्व गौड़ीय वैष्णवाचार्य या श्रीमन्माध्व-गौड़ेश्वराचार्य क्यों लिखा है?

इस प्रकार श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें श्रीचैतन्य महाप्रभुसे पूर्व एवं पश्चात् भी संन्यास एवं गैरिक वस्त्रका प्रचलन सिद्ध है।

(ख) जहाँ तक पूर्वनाम एवं वेश अंत तक पूर्ववत् रखनेकी बात है, हकीमजीका यह विचार भी भ्रमपूर्ण है। श्रीनित्यानन्द प्रभुका घरका नाम 'कुबेर' था। 'नित्यानन्द' नाम संन्यासका है। श्रीअद्वैताचार्यका पूर्वनाम कमलाक्ष या कमलाकान्त था। श्रीसनातन गोस्वामीका घरका नाम 'अमर', गौड़ेश्वर हुसैनशाह द्वारा प्रदत्तनाम—'साकरमल्लिक' तथा श्रीमन्महाप्रभु द्वारा दिया गया नाम है—'श्रीसनातन'। श्रीरूप गोस्वामीका घरका नाम 'सन्तोष', हुसेनशाह द्वारा प्रदत्त नाम 'दबीरखास' एवं श्रीमन्महाप्रभु द्वारा दिया हुआ नाम—'श्रीरूप'। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके वेशाश्रयका नाम 'श्रीहरिवल्लभ दास' था।

श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीद्वारा लिखित 'संस्कार-दीपिका' में त्रिदण्ड वेशाश्रयकी विधिमें भगवद्दास्यसूचक नाम ग्रहणकी विधि देखी जाती है। परवर्ती कालमें प्रचलित वेशाश्रय भी एक प्रकारसे संन्यास ही है

क्योंकि निष्किंचन परमहंसोंके लिए कोई विधिकी अपेक्षा नहीं होती। उनपर विधिका अंकुश सम्भव नहीं। उक्त वेशाश्रयके समय भगवद्दास्यसूचक नाम ग्रहणकी रीति प्रचलित है। जैसे—श्रीकृष्णदास बाबाजी महाराज (पूर्व नाम वटकृष्ण), श्रील गौरकिशोर दास बाबाजी महाराज (पूर्व नाम वंशीदास) आदि सहस्रों गौड़ीय वैष्णवोंके पूर्वनाम परिवर्तनके प्रमाण विद्यमान हैं। अतएव हकीमजीका यह मन्तव्य भी बालकोलाहाल मात्र है।

(ग) श्रीमन्महाप्रभुके श्रीचरणाश्रितजनोंमें केवल वर्णाश्रम निरपेक्ष निष्किंचन परमहंस गोस्वामीवृन्द ही नहीं हैं। उनमें श्रीनकुल एवं श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी; श्रीअद्वैताचार्य, श्रीवास पण्डित, श्रीशिवानन्दसेन, सार्वभौमभट्टाचार्य आदि गृहस्थजन; श्रीपरमानन्दपुरी, श्रीरंगपुरी, ब्रह्मानन्द भारती आदि संन्यासीवृन्द तथा श्रीरूप–सनातन प्रमुख निष्किंचन महाभागवत—सभी श्रेणीके महापुरुष हैं। परन्तु इनमेंसे किसीमें वर्णाश्रम या वेशके प्रति आसक्ति या अभिमानका लेश भी नहीं था। उनका वर्णाश्रम या वेशाश्रय केवलमात्र भजनकी अनुकूलता मात्रके लिए था। इसलिए संन्यास–वेश ग्रहणकारी गौड़ीय वैष्णव रागानुगा भजनके अधिकारी नहीं हैं—यह विचार गौड़ीय सिद्धान्तके विपरीत है।

(४) श्रीचैतन्यभागवतमें वर्णित श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य और श्रीमन्महाप्रभुके बीच संन्यासके विषयमें वार्तालाप श्रीसार्वभौमजीके उद्धारसे पूर्वका है। श्रीहकीमजीने उक्त घटनाको जानबूझकर पाठकोंसे छिपाया है। श्रीचैतन्य भागवतमें इस घटनाका उल्लेख इस प्रकार है—

ना जानिया सार्वभौम ईश्वरेर मर्म।
कहिते लागिला ये जीवेर यत धर्म।।
परम सुबुद्धि तुमी हइया आपने।
तबे तुमि संन्यास करिला कि कारणे।।
बुझ देखि विचारिया कि आछे संन्यासे।
प्रथमेई बद्ध हय अहंकार–पाशे।।
दण्ड धरि महाज्ञान हय आपनारे।
काहारेओ बल जोड़ हस्त नाहि करे।।
जार पदधूलि लैते वेदेर विहित।
हेनजन नमस्करे, तबु नहे भीत।।
(चै. भा. अ. ३/१८–२२)

भक्ति एवं भगवत्तत्त्वसे अनभिज्ञ श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीराधाभावद्युतिसुवलित स्वयं व्रजेन्द्रनन्दनरूप श्रीमन्महाप्रभुको एक साधारण अल्पवयस्क शांकर–संन्यासी समझकर अज्ञ जीवके प्रति जैसा उपदेश करने लगे—तुमपर श्रीकृष्णकी महती कृपा है। तुम परम बुद्धिमान भी लगते हो। फिर भी तुमने संन्यास क्यों ग्रहण किया? तनिक विचार तो करो, संन्यासमें क्या रखा है? दण्ड धारण करते ही जीव अपनेको महाज्ञानी मानकर अहंकारके पाशमें आबद्ध हो जाता है। किसीसे भी हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक बातचीत नहीं करता। वेदोंमें जिनकी पदधूलि ग्रहण करनेका विधान है, ऐसे गुरुजनोंको अपने प्रति नमस्कार करते हुए देखकर भी अपराधसे भीत नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें जीवमात्रको प्रणाम करनेका उपदेश मिलता है—

प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डाल गोखरम्।
प्रविष्टो जीवकलया तत्रैव भगवानिति।।

अर्थात् भगवान सब जीवोंमें अन्तर्यामी परमात्मारूपसे विराजमान हैं—ऐसा जानकर कुत्ते, चाण्डाल, गाय एवं गदहे पर्यन्त सभी जीवोंको साष्टांग प्रणाम करना चाहिए। किन्तु संन्यासी तो शिखा, सूत्र त्यागकर तथा भगवद्भजन छोड़कर अपनेको नारायण कहलवाता है तथा पूज्य व्यक्तियोंका भी प्रणाम ग्रहण करता है।

श्रीमन्महाप्रभुने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया—आप मुझे संन्यासी न समझें। मैंने ऐकान्तिक रूपसे कृष्ण भजनके लिए शिखा–सूत्र एवं गृहत्याग किया है। आप मुझे कृष्णविरही समझकर ऐसी कृपा करें, जिससे मुझे मेरे प्यारे कृष्ण मिल जायँ।

श्रीमन्महाप्रभुजीने अन्यत्र भी ऐसा कहा है—

प्रभु कहे, साधु एई भिक्षुक वचन।
मुकुन्द सेवन व्रत कैल निर्द्धारण।।
परात्मनिष्ठा–मात्र वेष धारण।
मुकुन्द सेवाय हय संसार तारण।।

सेई वेष कैल, एबे वृन्दावन गिया।
कृष्ण निषेवन करि निभृते बसिया।।
(चै. च. म. ३/६९)

अर्थात् त्रिदण्डि भिक्षुकके वचन सत्य एवं कल्याणजनक हैं, क्योंकि उनमें भगवान श्रीमुकुन्दके श्रीचरणकमलोंका सेवारूप-व्रत निर्द्धारित हुआ है। इसमें जो संन्यास-वेश है, उसका तात्पर्य जड़ात्मबुद्धिको त्यागकर सर्वकारणकारण परमात्मस्वरूप श्रीकृष्णमें निष्ठा प्राप्तिसे है। ऐसी निष्ठा उत्पन्न होनेपर भगवान श्रीमुकुन्दकी सेवा प्राप्त होती है तथा अनायास ही संसारसे उत्तीर्ण हुआ जा सकता है। संन्यास तो ले लिया है, अब मैं वृन्दावन जाकर संसारके कोलाहालसे दूर निर्जनस्थानमें रहकर श्रीकृष्णचरणकमलोंका सेवन करूँगा।

श्रीमन्महाप्रभुजीने संन्यास ग्रहणकर वृन्दावनके लिए प्रस्थान किया, किन्तु पहुँचे श्रीजगन्नाथपुरी वहाँ श्रीसार्वभौमसे मिलन हुआ। सार्वभौमजीने उनको उक्त संन्यासके विषयमें उपदेश किया। पीछे 'आत्मारामश्च' श्लोककी व्याख्या एवं षड्भुजरूपका दर्शनकर उनका भ्रम दूर हुआ। फिर तो श्रीमन्महाप्रभुके सभी गृहस्थ एवं संन्यासी परिकरोंका आदर करने लगे।

श्रीचैतन्यचरितामृत, श्रीचैतन्यभागवत, श्रीचैतन्य-चन्द्रामृत आदि सभी ग्रन्थोंमें संन्यासके प्रति सर्वत्र ही आदरका भाव देखा जाता है—

श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यका कथन है—

सहजेई पूज्य तुमि आरे त <u>संन्यास</u>।
अतएव हऊँ तोमार आमि निजदास।।
(चै. च. म. ६/५६)

अर्थात् एक तो तुम सहज ही पूज्य हो, उसपर संन्यासी हो। अतएव मैं तुम्हारा दास हो गया।

जहाँ तक प्रणाम ग्रहण एवं अपनेको नारायण समझनेकी बात है, वह वैष्णव-संन्यासके सर्वथा विपरीत है। याज्ञवल्क्योपनिषदमें सभी संन्यासियोंको चाण्डालसे लेकर गो-गर्दभ, पशु-पक्षी तक जीवमात्रको साष्टांग प्रणामकी विधि दी गयी है—

ईश्वरो जीव कलया प्रविष्टो भगवानिति।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डाल गोखरम्।।
(मन्त्र-४)

श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी द्वारा लिखित संस्कार-दीपिकामें संन्यास-ग्रहणका मन्त्र 'गोपीभाव' की प्राप्तिका है। तथा उसमें शिखा-सूत्र त्याग नहीं होता और श्रीगौर परिकरोंके आनुगत्यमें व्रजरीतिके अनुसार श्रीराधा-गोविन्दके ऐकान्तिक भजनके लिए ही केवल बाहरसे संन्यास-वेश ग्रहण किया जाता है। अतएव वह कदापि रागानुगा भजनका विरोधी नहीं है।

एक बात और यह है कि यदि वेशाश्रय करनेवाले सभी बाबाजीको निन्दा-अहंकारशून्य परमभागवत मान लिया जाय तो फिर गैरिक वस्त्र एवं संन्यास ग्रहण कर ऐकान्तिक रूपसे गौड़ीय गोस्वामियोंके आनुगत्यमें श्रीगुरु-गौरांग-राधा-गोविन्दके भजनकारीके प्रति उनकी घृणा एवं ईर्ष्या कदापि सम्भव नहीं है। यदि वेशाश्रय करनेवाला परमहंसावस्थाका अभिमानी कोई व्यक्ति दूसरे ऐकान्तिक भजन करनेवालोंको घृणाकी दृष्टिसे देखे एवं अपंक्तेय समझें तो क्या वे परमहंस या रागानुगीय वैष्णव माने जाएँगे? वेशाश्रय करनेमात्रसे अनर्थ दूर नहीं होते। अनधिकारी साधकके लिए तो वर्णाश्रममें रहते हुए तत्तत् अभिमान एवं आसक्तिको छोड़कर भजन करना ही श्रेयस्कर है। अधिकार उपस्थित होनेपर स्वयं वर्णाश्रमकी विधियोंसे निरपेक्ष होकर ऐकान्तिक रागानुगीय भजनमें प्रवेश होगा अन्यथा अनधिकारी व्यक्ति द्वारा निरपेक्ष परमहंस वैष्णवोंका अनुकरण करनेपर विपरीत फल अनिवार्य है।

✪✪✪

कलियुगमें श्रीकृष्णनाम जप साधना

—डा. सत्यपाल गोयल

पाँचवी धारा

आकारादपि भेतव्यं स्त्रीणां विषयिणामपि
यशाहेर्मनसः क्षोभस्तथा तस्याकृतेरपि।

(श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक ८/२४)

अर्थात् स्त्रियोंकी और विषयासक्त पुरुषोंकी मूर्तिसे भी भजनशील पुरुषोंको भय उत्पन्न होता है, जैसे सर्पसे क्षोभ होता है वैसे ही उसकी आकृतिसे भी भय उत्पन्न होता है।

महत्सेवां द्वारमुहुर्विमुक्ते–
स्तमो द्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।।

(श्रीमद्भा. ५/५/२)

अर्थात् महत् पुरुषोंकी सेवाको भगवत् प्राप्तिका द्वार कहते हैं और स्त्रीसंगीके संगको संसारका द्वार अर्थात् अत्यन्त विषयासक्त कहा गया है। जो सर्वत्र समचित्त हैं, प्रशान्त हैं, क्रोधहीन हैं, सर्वसुहृद एवं साधु हैं, वे महापुरुष होते हैं।

संन्यासी हइया करे प्रकृति सम्भाषण।
देखते ना पारी आमि ताहार वदन।।

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

अर्थात् कृष्ण भजन करनेवाला संन्यासी यदि किसी स्त्रीसे सम्बन्ध रखता है या उससे वार्तालाप करता है, तो मैं उसका मुख भी नहीं देख सकता ऐसा महाप्रभु चैतन्यदेवने छोटे हरिदास द्वारा माधवी देवीसे चावल लानेपर उपदेश दिया था। परन्तु आज अधिकांश संन्यासियोंने इस विचारको धारण नहीं किया है।

कृष्ण भजन और स्त्रीसंग और दोनों एक साथ उसी प्रकार नहीं चल सकते जिस प्रकार सूखी घास और जलती हुई माचिसकी काठी एक साथ नहीं रह सकते। तब मांस, मदिरा तथा स्त्रीका सेवन करनेवाले एकनिष्ठ कृष्ण भजन कैसे कर सकते हैं? जैसा कि आउल, बाऊल, कर्ताभजा तथा सहजिया सम्प्रदायके साधकोंकी मान्यता है।

ऐसे लोग स्वयं तो अपना जीवन नष्ट कर ही रहे हैं, अपने आश्रित शिष्योंको भी कुपथगामी कर रहे हैं। बाहरसे ऐसे ढोंगी गुरुओंकी साज सज्जा उस लुभावनी वेश्या जैसी होती है जो प्रारम्भमें पत्नीसे भी अधिक प्रणयका स्वांग रचती है तथा जालमें फंसानेके पश्चात प्रेमीका सब कुछ चौपट कर देती है। फिर साधककी स्थिति इतनी खराब हो जाती है कि उसके लोक परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। अतएव गुरुका इतिहास जाननेके पश्चात् ही शिष्यत्व स्वीकार करना चाहिए।

इसी प्रकार गुरुको भी चाहिए कि वह एक वर्षतक शिष्यके आचरण और भक्तिक्षेत्रमें उसकी चेष्टा और निष्ठाकी जाँच करे। इस एक वर्षकी अवधिमें साधकको कुछ भजन शिक्षा देते रहना चाहिए। उपयुक्त होनेपर ही उसे मन्त्र दीक्षा आदि देनी चाहिए। क्योंकि जिसे भगवानके चरणोंतक पहुँचानेका दायित्व स्वीकार करना है, वह शिष्य बननेकी योग्यता भी रखता है अथवा नहीं यह विचारणीय है। शिष्य और गुरुका सम्बन्ध भी एक जन्मतक सीमित नहीं रहता। सम्पूर्ण भाव भक्तिक्षेत्रमें श्रीगुरुदेव आश्रय विग्रह होते हैं तथा कृष्ण विषय विग्रह हैं एवं शिष्य साधक जीव होता

है। कुछ सम्प्रदाय गुरुको ईश्वरके रूपमें मानते हैं—ऐसा मानना असैद्धान्तिक एवं भ्रान्तिपूर्ण है। गुरु कभी भी विषय विग्रह नहीं हो सकते हैं। वे जीवके समक्ष विषय विग्रह कृष्णको प्रकट करते हैं, उन तक पहुँचनेका मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे श्रीकृष्ण विषयक सम्पूर्ण ज्ञान रखते हैं, वे कृष्णके परम भक्त होते हैं, इसलिए उनको विषय विग्रह कृष्णसे अधिक सम्मान दिया गया है एवं वे अग्र पूजनीय तत्त्व हैं। परन्तु वे कभी भी कृष्ण नहीं हो सकते। कुछ लोग गुरु बनकर भगवानके रूपमें अपनी पूजा कराते हैं एवं स्वयं अपने आश्रित शिष्योंको भी पतनोन्मुख करते हैं। ऐसे गुरुओंसे परम सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

भक्ति पथमें श्रीकृष्णसे सम्बन्ध करानेवाले, श्रीगुरुदेव आश्रयतत्त्व होकर, शिष्यके परम हितैषी होते हैं। ऐसी स्थितिमें श्रीगुरुदेवका, विषय विग्रह कृष्णसे भी अधिक प्राधान्य बढ़ जाता है। विषय संसारके निबिड़ अंधकारमें भटकते हुए जीवको गुरु ही प्रकाश प्रदानकर श्रीकृष्णकी ओर बढ़ाते हैं। अपने सिद्ध देहसे उसका प्रेम रस ज्ञात कर उसे रस साधनका भी उपदेश करते हैं। यही नहीं जीवका भाव सम्बन्ध भी स्थापित करते हैं—

गोत्र मुक्तं चिदानन्दं ब्रह्मानन्दौ हि सद्गुरुः।
पातिव्रत्यमनन्यत्वं साधनं समुदाहृतम्।।

(नारदपंचरात्र माहेश्वरतंत्र)

अर्थात् हे पार्वती! सद्गुरु जीवका श्यामसुन्दरके साथ जो पतिव्रता स्त्री जैसा सम्बन्ध है उसे जगाकर अनन्य भावसे भजनकी प्रेरणा देते हैं। संसारका गोत्र बदलकर श्रीकृष्णसे जो भाव सम्बन्ध है, उसी पातिव्रत्य भावसे भजन करना ही श्रेष्ठ है इससे साधकोंका गोत्र एवं नाम भी बदल जाता है तथा कृष्णका जो चिदानन्दमय प्रेम है, सद्गुरु उसे पानेका मार्ग प्रशस्त करते हैं।

अतएव ऐसे गुरुओंसे सावधान रहना चाहिए जो स्वयं श्रीकृष्णका वेष बनाकर शिष्योंके साथ रासलीला करते हैं तथा स्वयं भगवान होनेका दावा करते हैं। आज ऐसे गुरुओंकी बाढ़-सी आयी हुई है। यदि कोई सद्गुरु नहीं मिले हैं तो भगवान श्रीकृष्णसे ही प्रार्थना करो कि प्रभु कृपाकर मुझे किसी सद्गुरुका पदाश्रय दिलाइए। ताकि उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गपर चलकर मैं आपका भजन कर सकूँ। प्रारम्भमें तो श्रीकृष्णको ही गुरु मानकर भजन यात्रा आरम्भ कर दीजिए क्योंकि 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' कुछ समय व्यतीत होनेपर श्रीकृष्ण किसी योग्य गुरुतक स्वयं पहुँचा देंगे।

श्रीमद्भागवतके अनुसार शालग्राममें पाषाण बुद्धि, गंगाजलमें साधारण जलकी बुद्धि, श्रीतुलसीजीको साधारण पौधा मानना, वैष्णवोंमें जाति बुद्धि तथा गुरुमें मनुष्यबुद्धि रखनेवाले महापातकी होते हैं। ऐसे लोगोंका भी संग सर्वथा परित्यज्य है और गुरुको कृष्ण या भगवान माननेवालोंका भी साथ त्याग योग्य है। गुरुमें संत, वैष्णव और भक्त तीनोंका एक साथ समन्वय है। गुरुको कभी साधारण मनुष्यके रूपमें नहीं देखना चाहिए। मनुष्यके रूपमें देखनेसे उनके प्रति जाति और आश्रमकी भेद बुद्धिका जन्म हो जाएगा। उनमें दोष दृष्टि भी आने लगेगी। श्रीगुरुदेव इन सबसे ऊपर हैं, परमाराध्यतम तत्त्व हैं। कृष्णसे पहले उनका पूजन करना भक्ति राज्यका परम ध्येय है। अतएव श्रीकृष्ण तत्त्वज्ञ, भक्त, वैष्णव तथा संतको ही गुरुके रूपमें वरण करना सर्वथा उपयुक्त है। बादमें दोष देखनेकी अपेक्षा प्रारम्भमें ही गुरुका ठीकसे चयन करना चाहिए।

श्रीगुरुदेव द्वारा शिष्यको जो नाम संख्याका जप करनेका निर्देश किया गया हो उसे २४ घंटोंमेंसे समय निकालकर पूरा जप करनेसे ही शिष्यको

साधन पथमें सिद्धि मिल सकती है। अन्यथा जप संख्याको टालते रहेनसे कोई उपकार साधित नहीं होगा—नाममात्रका गुरु-शिष्य सम्बन्ध रह जाएगा। कुछ काल उपरान्त गुरुके प्रति द्वेष और दोष बुद्धि भी पनपने लगेगी। अतएव निष्ठा एवं भावपूर्वक जप करना परम आवश्यक है। श्रीगुरुदेव द्वारा जो नाम जप संख्या निर्धारित की जाय, वह अन्तिम पड़ाव नहीं है। उतना तो कम से कम जप करना ही है, अपितु उस संख्याको निरन्तर बढ़ानेका प्रयास करना चाहिए।

जपके प्रकार

अनुभवशील तथा सिद्ध संत जनोंके द्वारा तीन प्रकारके जप कहे गए हैं, यथा मानसिक, उपांशु तथा वाचिक जप। तीनों प्रकारके जपोंका साधन भेदसे अलग अलग महत्त्व है। यदि किसी मन्त्रको सिद्ध करना है, तो वाचिक जपसे उपांशु जप १०० गुणा तथा उपांशु जपसे मानसिक जप १००० गुणा श्रेष्ठ होता है, क्योंकि मन्त्र सिद्धि स्वान्तः सुखाय होती है। जिसमें मनकी एकाग्रता अत्यन्त आवश्यक है। यदि मन चञ्चल रहता है तो साधकको जपका फल उतना नहीं मिलता जितना कि नाम (मन्त्र) का फल होता है।

मानसिक जपका श्रेष्ठत्व इसीलिए भी है क्योंकि इस जपमें जैसे जैसे साधकका मन एकाग्र होता है, वैसे वैसे उसका देहाध्यास अर्थात् देहकी अनुभूति समाप्त होने लगती है। मनके एकाग्र होनेपर, श्रीकृष्णसे भाव सम्बन्धकी अनुभूति होने लगती है। उसके चित्तमें अपने आराध्यके रूपका चिन्तन तथा भावपूर्ण तैलधारावत् नामका जप चलता रहता है। मानसिक जपमें जीभ भी स्पन्दित नहीं होती है तथा श्वांसकी गतिसे नाम जप चलता रहता है। प्राणायाम नहीं करना पड़ता है अपितु कुम्भक स्वतः होने लगता है। योग साधनामें प्राणायामकी कुम्भक स्थितिमें ही मनकी चंचलता समाप्त होकर समाधि लगने लगती है। परन्तु मानसिक जपमें बिना प्रयासके ही कुम्भक लगने लगता है एवं कुछ काल पश्चात् मानसी पूजामें अपने इष्ट श्रीकृष्णकी लीलाओंके दृश्य मानस पटलपर उदित होकर साधककी अन्तश्चिन्तित देह द्वारा रसानुभूति होने लगती है।

उपांशु जपमें अधर और जीभ दोनोंका उपयोग होता है परन्तु श्रीकृष्ण नामका उच्चारण इतने धीमे स्वरसे होता है कि नामध्वनि साधकके कानोंमें ही सुनायी पड़ती है कोई अन्य नहीं सुन सकता है। अनुभव दर्शाता है कि उपांशु जप साधनाके कुछ समय पश्चात् मानसिक जपमें बदल जाता है।

वाचिक जप एक प्रकारसे नाम कीर्तनका ही एक रूप है जो लोक कल्याणकी दृष्टिसे मानसिक जपसे हजार गुणा श्रेष्ठ है। क्योंकि श्रीकृष्ण नाम, कीर्तनके माध्यमसे जिस जिस भी प्राणीके कानोंमें पहुँचता है उसका भी अनायास ही उद्धार कर देता है।

एक कृष्ण नाम करे सर्वपाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश।।

(चै. च. आ. ८/२२)

एक कृष्णनामके स्मरण, चिन्तन या श्रवणसे जीवके समस्त पापोंका नाश हो जाता है तथा श्रीकृष्ण प्राप्तिके लिए जीवके हृदयमें अपनी भक्तिका प्रकाश कर देता है।

एक कृष्ण नाम सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको तारनेकी शक्ति रखता है। यदि सभी लोग मिलकर नाम कीर्तन करें तो उसको संकीर्तन कहते हैं। नाम करनेके लिए किसी काल, पात्र, दशा, सीमा तथा स्थितिका विचार नहीं है। किसी भी स्थितिमें किसी भी समय मनुष्यके द्वारा कृष्णनामका जप व कीर्तन किया जा सकता है। वाचिक जप भी उपांशुमें तथा

उपांशु मानसिक जपमें बदल जाता है। आप ६० मिनटतक वाचिक जप किसी एकान्तमें करना प्रारम्भ करें, तो आप देखेंगे कि १५-२० मिनटमें मानसिक जप होने लगेगा। अतएव निष्ठापूर्वक वाचिक, उपांशु तथा मानसिक जपमेंसे किसी एकका वरण कर जप प्रारम्भ करना चाहिए। जपके लिए मनकी एकाग्रता, भावात्मक चिन्तनका होना अत्यन्त आवश्यक है।

कृष्णसे सम्बन्ध

श्रीकृष्ण नामका सम्बन्ध जीवसे है तथा जीवका सम्बन्ध श्रीकृष्णसे है। प्रातः स्मरणीय श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश।।

(चै. च. म. २०/१०१)

अर्थात् जीवका नित्य स्वरूप नित्य कृष्णदास है और जीव श्रीकृष्णकी तटस्था शक्तिका भेदाभेद प्रकाश है। जीव और कृष्णमें भेद भी है और अभेद भी है। भेद इसलिए है कि जीव अणु है, श्रीकृष्ण विभु हैं, जीव मायाके अधीन हो सकता है परन्तु कृष्ण मायाधीश है, जीव अल्पशक्तिमान है परन्तु कृष्ण सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। जीवकी स्थिति समुद्रके एक जलबिन्दुके समान है। जलबिन्दु आग पर पड़नेसे वाष्प बनकर उड़ जाता है, जब कि समुद्र विराट अग्निको भी बुझा सकता है। समुद्रमें बड़े-बड़े जहाज चल सकते हैं। जबकि एक बूँदमें समुद्रके सभी यौगिक गुण रहनेपर भी जहाज नहीं चल सकता है। अभेद यह है कि समुद्रका समस्त जल खारा है उसकी एक बूँद भी खारी होती है। इसी प्रकार कृष्ण चैतन्य वस्तु हैं तथा जीव भी चैतन्य वस्तु है। परन्तु कृष्ण विभु चैतन्य हैं तथा जीव अणु चैतन्य है। जीव और कृष्णका यह भेद और अभेद नित्य सत्य है—परिवर्तनीय नहीं है। जीव कृष्णका अंश होनसे सनातन है क्योंकि कृष्ण स्वयं नित्य सनातन हैं। जीव, कृष्णकी नित्य तटस्था शक्तिका नित्य परिणाम है।

अंश होनेके कारण जीव मायासे ग्रस्त है, जब कि कृष्ण मायापति हैं। अंश अंशीका नित्यदास होता है। इसलिए उसका नित्य स्वरूप धर्म ही कृष्ण दासत्व है। उसे क्षण प्रतिक्षण उनका चिन्तन और स्मरण करना चाहिए। अनेक जन्मोंसे जीव जड़ा मायाके वशीभूत होकर अपने नित्य दासत्वको भूल गया है परन्तु यह दासत्व समाप्त नहीं हुआ है। किसी सुकृतिके उदय होनेपर भगवान उसे किसी सद्गुरुका पदाश्रय ग्रहण कराते हैं, जो उसमें अपनी शक्तिका संचार कर उसकी नित्यवृत्तिको कृष्णोन्मुख कर देते हैं।

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते।
सत्सङ्गः प्राप्यते पुम्भिः सुकृतैः पूर्वसंचितैः।।

(बृहदनारदीय पुराण ४/३३)

अर्थात् जीवके हृदयमें भगवद् भक्तोंके संगके प्रभावसे भक्तिका उदय होता है। भक्तोंका संग संचित सुकृतियोंके प्रभावसे होता है।

पुण्यकर्म तथा सुकृतिमें धरा और आकाशका अंतर है। पुण्यकर्मके पीछे भोगकी वासना रहनेसे भक्ति उत्पन्न नहीं होती है। उस पुण्यकर्मके प्रभावसे व्यक्तिको स्वर्ग आदि लोकोंकी प्राप्ति होती है जहाँ वह अपने पुण्यकर्मके फलको भोगकर पुनः पृथ्वी लोकपर आ जाता है। यथा—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।

(श्रीगीता ९/२१)

इसके विपरीत जो बिना कामनाके कर्म करता

है तथा उसके फलको भगवानको अर्पणकर देता है वह संसार बन्धनमें नहीं फँसता है। अपने निष्काम कर्मके फलस्वरूप मुझे ही प्राप्त होता है। यथा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।

(श्रीगीता ९/२७,२८)

इस प्रकार सुकृतियोंके प्रभावसे जीवको सत्संगकी प्राप्ति होकर उनके हृदयमें कृष्ण भक्तिका उदय होता है। अतएव साधकको अपने नित्य स्वरूपकी सिद्धिके लिए निरन्तर श्रीकृष्ण नामका जप करना चाहिए।

एक और प्रक्रिया मनको एकाग्र करनेके लिए सन्तोंने बतायी है, वह है जपके समय शरीर, नेत्र तथा वाणीको स्थिर रखना। इन तीनोंको स्थिर रखकर जप करनेसे मन कुछ मिनटोंमें स्थिर हो जाता है। ऐसा अभ्यास निरन्तर रहनेसे मन अवश्य एकाग्र हो जाता है। उपांशु जपके समय जो नाम ध्वनि निकलती है, उस ध्वनिको ध्यानपूर्वक सुननेसे भी मन वशमें हो जाता है।

भगवान श्रीकृष्णने गीतामें मनको स्थिर करनेके लिए निर्देश दिया है यथा—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

(गीता ६/३५)

अर्थात् हे अर्जुन! निसन्देह मन चंचल तथा कठिनतासे वशमें होनवाला है परन्तु हे कुन्तीपुत्र! यह मन अभ्यास और वैराग्यसे वशमें हो जाता है।

यहाँ अभ्यास और वैराग्यको स्पष्ट कर देनेके साथ मनको वशमें करनेकी आवश्यकता क्या है? इस सम्बन्धमें लिखना आवश्यक है।

(क्रमशः)

✪✪✪

वैष्णव व्रत तालिका

२०	ज्येष्ठ	४ जून बृहस्पतिवार	गंगादशहरा, श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु एवं श्रीगंगामाता गोस्वामिनीका तिरोभाव।
२२	ज्येष्ठ	६ जून शनिवार व्यञ्जुली	महाद्वादशी व्रत, अगले दिन ५–२० से पहले पारण।
२३	ज्येष्ठ	७ जून रविवार	पाणिहाटीमें श्रीरघुनाथदास गोस्वामीका दण्डमहोत्सव।
६	ज्येष्ठ	१० जून बुधवार	पूर्णिमा, श्रीश्रीजगन्नाथजीकी स्नानयात्रा।
२७	ज्येष्ठ	११ जून बृहस्पतिवार	श्रीश्यामानन्द प्रभुजीका तिरोभाव।
५	आषाढ़	२० जून शनिवार योगिनी	एकादशी व्रत, अगले दिन ९–२३ से पहले पारण।
९	आषाढ़	२४ जून बुधवार	अमावस्या, श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीका तिरोभाव।

श्रीहरिनाम

करुणावरुणालय भगवानने जीवोंपर अहैतुकी कृपाकर अपने अनेंकों नाम प्रकट किए हैं तथा उन नामोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति डाल दी है। किन्तु ऐसे हरिनामके कीर्तनमें स्थान-अस्थान, काल-अकाल तथा पात्र-अपात्रका कोई विचार या नियम नहीं रखा है। हरिनाम करनेमें कोई बाधा नहीं। भोजनके समयमें, सोते समय, चलते समय, उठते-बैठते सभी समय हम हरिनाम कर सकते हैं। जन्म उच्च कुलमें हो अथवा नीच कुलमें हो, हरिनाम कर सकते हैं। शूद्र, अन्त्यज, म्लेच्छ, स्त्री-पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध सभी हरिनाम ग्रहणके अधिकारी हैं। निर्जनमें हरिनाम ग्रहण किया जा सकता है, शोरगुलमें हरिनाम ग्रहण किया जा सकता है, अकेला हरिनाम कर सकते हैं, अनेक लोग मिलकर एकत्र हरिनाम कर सकते हैं, अवहेलासे, श्रद्धासे सभी अवस्थाओंमें हरिनाम ग्रहण किया जा सकता है।

परन्तु जो हरिनाम करनेमें कपटता करते हैं, हरिनामका व्यवसाय करते हैं, प्रतिष्ठाकी आशा हृदयमें पूर्णरूपसे रखते हैं। 'मैं और मेरा' का भाव पूर्णमात्रामें रखकर अवैष्णवको वैष्णव या वैष्णवको अवैष्णव जानकर साधु-निन्दा आदि तरह-तरहके नामापराध करते हैं। वे इस तरह दूसरोंको ठगने जाकर खुद ठगे जाते हैं।

भगवानके नाम-समूह दो प्रकारके होते हैं—(क) मुख्यनाम और (ख) गौणनाम। मुख्यनाम भी दो तरहका होता है—माधुर्यमयनाम और ऐश्वर्यमयनाम—श्रीकृष्ण, राधाकान्त, गोपीजनवल्लभ, यशोदानन्दन, नन्दकुमार, मदनमोहन, गोविन्द आदि माधुर्यमय मुख्य नाम हैं, तथा वासुदेव, राम, नारायण, नृसिंह, विष्णु आदि ऐश्वर्यमय मुख्यनाम हैं। भगवानके आंशिक या असम्यक् आविर्भावात्मक नाम-समूह गौणनाम हैं। जैसे—ब्रह्म, जगदीश, परमात्मा, ईश्वर, जनार्दन आदि। भगवानके मुख्य नाम समूह नामीके साथ सम्पूर्ण रूपसे अभिन्न हैं। मुख्य नामोंमें भगवानकी सम्पूर्ण शक्ति सम्पूर्णरूपसे निहित रहती है, किन्तु गौण नामोंमें उनकी आंशिक शक्ति त्रिगुणके साथ सम्बन्धयुक्त होकर वर्तमान रहती है।

जीव भगवद् विमुखताके कारण मायाके राज्यमें त्रिविध गुणोंसे आबद्ध होकर त्रिविध दुःखोंके दावानलमें दग्ध होता है। वह जब भगवत् सेवासे विमुख होकर आत्मभोगकी कामना करता है, उसी समय यह भूल जाता है कि वह कृष्णका नित्य दास है और इस तरह मायाके गोरख धन्धेमें पड़कर इधर-उधर भटकने लगता है। वह अपनी कर्म वासनाओंके अनुसार स्थावर और जंगम चौरासी लाख योनिओंमें भ्रमण करता है। कभी राजा, कभी प्रजा, कभी विप्र, कभी शूद्र, कभी सुखी, कभी दुःखी, कभी स्वर्गमें तो कभी नरकमें कभी देवता और कभी दैत्य होकर ऊपर नीचे मायाकी लाठी खाता फिरता है। ऐसे समयमें भाग्यवश यदि कोई जीव संतोंका संग पा लेता है, तो उसका भाग्योदय हो जाता है। वह उस साधुके संग-प्रभावसे अपना स्वरूप-तत्त्व जान पाता है। साधु (गुरुदेव) उसके हृदयमें भक्ति-लताका बीज वपन करते हैं तथा भगवन्नाम श्रवण और कीर्तनरूप जलसे सेंच-सेंचकर उस भक्तिलताको गोलोक वृन्दावनमें कृष्णके पादपद्मोंमें पहुँचा देते हैं। वहाँ भक्ति-लताका प्रेम फल क्रमशः पुष्ट होकर पक जाता है। जीव उस प्रेम फलका आस्वादन कर कृतार्थ हो जाता है। किन्तु हाय ऐसे भगवन्नाममें भी जीवोंकी रुचि नहीं होती।

✪✪✪

ग्रंथ समीक्षा

श्रीमद्भागवतीय वेणुगीत

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, जवाहर हाट, मथुरा, उ0 प्र0 द्वारा प्रकाशित सत्साहित्य एवं रसग्रंथोंकी उन्नत परम्परामें श्रीमद्भागवतीय वेणुगीतके आद्योपान्त अध्ययन पर ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वेणुके स्वररन्ध्रोंसे रसकी फुहारें कृष्ण प्रेमी भक्तोंको रससिक्त कर रही हैं।

वैसे तो श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण रसमय ग्रंथ है। इसपर प्रकारान्तर भेदसे अनेक भाषाओंमें टीकाएँ उपलब्ध हैं। परन्तु उन टीकाओंमें पाण्डित्य प्रदर्शन अधिक दीख पड़ता है। इसीलिए रसमय ग्रंथकी वे टीकाएँ रसीली कम और बोझिल अधिक हो गयी हैं। जिस उमंगके साथ पाठक उन्हें पढ़ता है वह उमंग उदासीनतामें बदल जाता है क्योंकि जब तक टीकाकार स्वयं रसिकहृदय नहीं होगा तब तक उसमें हृदय पक्ष नहीं उभरेगा।

ॐ विष्णुपाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराजजी द्वारा जिस शैलीमें वेणु गीतकी व्याख्या की गयी है वह उनके रससिद्ध होनेका दर्पण है। उनकी प्रत्येक अभिव्यक्ति जैसे रसमें नहाकर उभरी हो। आनन्दवृन्दावन चम्पू, गोपाल चम्पू, श्रीकृष्णभावनामृत, श्रीचैतन्यचरितामृतके उदाहरण मणियोंकी भाँति देदीप्यमान होकर रसको परम रसमें डुबो रहे हैं। आखिर परमहंसोंके रचित ग्रंथोंके भाव सिद्ध अनुभव हैं। नायिका भेद, स्थायी भाव, संचारी भाव (व्यभिचारी भाव) की लीला–सन्दर्भमें व्याख्या अभिव्यक्तिमें गव्यात्मकता लाती है, उसमें ठहराव नहीं आता। गव्यात्मकतामें व्याख्या रससिद्ध होकर उसकी सुगस श्रीराधा माधवकी लीलाओंके दृश्य बाँध कर चलती है जिसमें पाठक भाव समाधिमें चला जाता है जब कि ठहरावमें दुर्गन्ध बोध होता है, जो भाव विच्छेद कर जुगुप्तसा उत्पन्न करती है।

वेणुगीत भागवतका रस स्वर होकर जड़ चेतन प्राणियोंमें प्राण संचार कर देता है, नहीं यह भावमयी व्याख्या पाठकोंको श्रीकृष्णके प्रेम सरोवरमें डुबकियाँ लगाते–लगाते स्थायी भावकी मरण (मूर्च्छा) चरम अवस्था तक पहुँचा देती है अर्थात् पाठक रसमयी व्याख्या पढते–पढते भाव समाधिमें पहुँच जाता है, यही प्रेभाभक्तिकी प्रयोजनीय निधि है।

प्रकाशिका कुमारी राधा प्रियाका सत्प्रयास सराहनीय है। यदि भागवतके अन्य चार गीत यथा भ्रमरगीत, गोपीगीत आदिको भी महाराजश्रीकी रससिक्त व्याख्या सहित प्रकाशित कर दिया जाय तो हिन्दी जगतमें रससिद्ध ग्रंथोके अभावका अभाव हो जाता है ।

डा0 सत्यपाल गोयल
खण्डेलवाल इलैक्ट्रिक स्टोर
जनरल गंज ग्वालियर
म0 प्र0–474001

✪✪✪

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४२ } श्रीगौराब्द ५१२
विक्रम संवत् २०५५–५६ आषाढ़ मास, सन् १९९८, ११ जून—९ जुलाई { संख्या ४

चातुर्मास्य–व्रतम्

अतःपरं प्रवक्ष्यामि शयनोत्सवमुत्तमम्।
आषाढ़ीमवधिं कृत्वा हरेः स्वापस्तु कर्कटे।।१।।
वार्षिकांश्चतुरो मासान् यावत्स्यात् कार्त्तिकी द्विजाः।
अयं पुण्यतमः कालो हरेराराधनं प्रति।।२।।

जैमिनिने कहा—द्विजगण! अब मैं भगवान् श्रीहरिके अत्युत्तम शयनोत्सवके सम्बन्धमें बतला रहा हूँ, आप लोग श्रद्धापूर्वक श्रवण करें। सूर्यके कर्कट राशिके ऊपर पहुँचने पर प्रतिवर्ष आषाढ़ माहकी एकादशीसे लेकर कार्तिक माहकी एकादशी तक चार मास भगवान् श्रीहरि शयन करते हैं। ये चारों महीने भगवदाराधनाके लिए अत्यन्त पुण्यतम काल हैं।।१–२।।

चातुर्मास्ये निवसति क्षेत्रे श्रीपुरुषोत्तमे।
साक्षाद्दृष्टिर्भगवतस्तन्मयं भक्तिसाधनम्।।७।।
भोगिभोगासने सप्तश्चातुर्मास्येषु वै विभुः।
सर्वक्षेत्रेषु सान्निध्यं न करोति जगद्गुरुः।।९।।

मुनिगण! अधिक क्या कहूँ, पुरुषोत्तम क्षेत्रमें (पुरीधाममें) वासकर जो मनुष्य चातुर्मास्य–व्रतका पालन करता है, उसके प्रति भगवान्‌की साक्षात् दृष्टि पड़ती है। क्योंकि भगवान्‌की भक्तिका साधन तो भगवान्‌का ही स्वरूप है।।७।। सर्वनियन्ता जगद्गुरु भगवान् श्रीहरि उक्त चार महीनों तक शेष–शय्याके ऊपर निद्रित रहते हैं। इसीलिए इन दिनोंमें समस्त पुण्यक्षेत्रोंको भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त नहीं रहता है।।९।।

मुक्तिदश्चक्षुषा दृष्टश्चातुर्मास्ये विशेषतः।।११।।
चातुर्मास्यमथैकं यः कुर्याद्वै पापकृत्तमः।
विहाय सर्वपापानि वहिरन्तश्च निर्म्मलः।
नरसिंह–प्रसादेन वैकुण्ठ–भवनं व्रजेत्।।१६।।

दूसरे–दूसरे समयोंकी अपेक्षा उक्त चातुर्मास्य कालमें वे (भगवान्) आँखोंद्वारा देखे जानेपर विशेष रूपमें मुक्तिपद हुआ करते हैं।।११।। जो उक्त क्षेत्रमें अर्थात् पुरीधाममें एक वर्ष भी चातुर्मास्य–व्रतका पालन करता है, वह अतिशय पापी होनेपर भी समस्त पापोंसे छुटकारा प्राप्तकर बाह्य और अन्तः शुद्धि लाभकर भगवान् नृसिंहदेवकी कृपासे वैकुण्ठ लाभ करता है।।१६।।

तस्मान्नरः सर्वभावैर्विष्णोः शयन–पावितान्।
वार्षिकांश्चतुरो मासान्निवसेत् पुरुषोत्तमे।।१७।।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्याज्जन्मसाफल्यमृच्छति।
आषाढ़ शुक्लैकादश्यां कुर्यात् स्वाप–महोत्सवम्।।१८।।
—उत्कलखण्डम् षट्त्रिंशोऽध्याये

इसीलिए मैं कहता हूँ कि भगवान् अपने शयन द्वारा जिन चार मासोंको पवित्रता प्रदान किया करते हैं, उन चार मासोंतक पुरी धाममें वास करना ही सब प्रकारसे श्रेष्ठ कर्त्तव्य है।।१७।। हे तपोधन! जो व्यक्ति इस मनुष्य जन्मको सफल बनाना चाहता है, वह चाहे कोई भी दूसरा सत्कर्म करे अथवा न करे, उसके लिए पुरी धाममें वासकर आषाढ़ मासकी शुक्ला एकादशीके दिन भगवान्‌का शयन–महोत्सव अवश्य करना चाहिए।।८।।

—उत्कलखण्ड ३६ वें अध्यायसे

सदा कर्त्तुं न शक्नोति व्रतानि यदि मानवः।
चातुर्मास्यमनुप्राप्य तदा कुर्यात् प्रयत्नतः।।८०।।
भू–शय्या–ब्रह्मचर्यञ्च कश्चित् भक्ष्य–निषेधनम्।
एक–भक्तादि–नियमो नित्यदानं स्वशक्तितः।।८१।।
पुराण–श्रवणञ्चैव तदर्थाचरणं पुनः।
अखण्ड–दीपोद्बोधश्च महापूजेष्टदैवते।।८२।।

यदि कोई मनुष्य समस्त व्रतोंका पालन करनेमें असमर्थ है, तो उसे यत्नपूर्वक चातुर्मास्य व्रतका पालन करना चाहिए।।८०।। चतुर्मास्य व्रतका पालन करनेवाले व्यक्तियोंको जमीन पर सोना चाहिए, ब्रह्मचर्य–व्रतका पालन करना चाहिए, अल्प आहार करना चाहिए अथवा एकभक्तादि–नियमका पालन करना (नित्यप्रति एक वैष्णवको भोजन कराकर स्वयं भोजन करना) चाहिए और प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार दान देना चाहिए।।८१।। व्रतधारण करनेवाले व्यक्तिको पुराण–श्रवण करना चाहिए और

उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। अखण्ड-दीप दान करना चाहिए तथा इष्ट-देवकी विधिवत् पूजा करनी चाहिए।।८२।।

प्रभूतांकुर-बीजाढ्ये देशे चापि गतागतम्।
यत्नेन वर्जयेद्धीमान् महाधर्म विवृद्धये।।८३।।

उनको धर्मकी वृद्धिके लिए अंकुर और बीजयुक्त स्थानोंमें आना-जाना यत्नपूर्वक बन्द करना चाहिए।।८३।। चातुर्मास्य व्रतका पालन करनेवाले व्यक्ति उस व्यक्तिके साथ कभी भी बातचीत न करेंगे, जो संभाषण करनेके अयोग्य हैं। वे सर्वदा मौन रहेंगे तथा सत्य वचन बोलेंगे।।८४।।

असम्भाष्य न सम्भाष्याश्चातुर्मास्य-व्रतस्थितैः।
मौनञ्चापि सदा कार्यं तथ्यं वक्तव्यमेव वा।।८४।।

निष्पावांश्च मसूरांश्च काद्रवान् वर्जयेद्व्रती।
सदा शुचिभिरास्थेयं स्प्रष्टव्यो नाव्रती जनः।।८५।।
दन्त-केशाम्बरादीनि नित्यं शोध्यानि यत्नतः।
अनिष्ट-चिन्ता नो कार्या व्रतिना हृद्यपि क्वचित्।।८६।।

वे सर्वदा पवित्र रहेंगे, व्रतका आचरण न करनेवाले व्यक्तियोंका स्पर्श न करेंगे। वे निष्पाव (एक प्रकारका धान) एवं मसूर और कोदोका अन्न त्याग करेंगे।।८५।। प्रतिदिन यत्नपूर्वक अपने दाँतोंको, बालोंको तथा कपड़ोंको साफ करना चाहिए। हृदयमें किसीके अनिष्टकी कोई भी कामना नहीं करनी चाहिए।।८६।।

द्वादशेस्वपि मासेषु व्रतिनो यत् फलं भवेत्।
चातुर्मास्य-व्रतभृतां तत्फलं स्यादखण्डितम्।।८७।।

बारह महीनों तक अन्यान्य व्रतोंका आचरण करनेवाले व्यक्तिको जो फल प्राप्त होता है, चातुर्मास्य-व्रतका आचरण करनेवाला भी ठीक वही फल प्राप्त करता है।।८७।।

—काशीखंड ६०वें अध्यायसे

✪✪✪

गुरुदास

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'

गुरुदासके लक्षण

ऊँचे घरानेमें जन्म ग्रहण करनेवाला, विनयी, प्रियदर्शन, सत्य बोलनेवाला, शुद्ध आचरणयुक्त, महाबुद्धिमान, दम्भहीन, काम-क्रोधशून्य, गुरु-भक्तियुक्त, सर्वदा तन, मन और वचनसे भगवानकी सेवामें तत्पर रहनेवाला, निरोग, निष्पाप, श्रद्धायुक्त, हरि और गुरुकी पूजामें अनुरक्त, जितेन्द्रिय और दयालु युवक ही गुरुका दास होनेके योग्य होता है। अभिमान-शून्य, ईर्ष्या-द्वेषरहित, आलस्यहीन, जड़-विषयोंमें ममता-शून्य, गुरुदेवसे दृढ़ मित्रतायुक्त, वत्सरवासी अर्थात् गुरुदेवके गृहमें एक वर्ष तक वास करनेवाला, गुरुकी सेवा करनेवाला, अचञ्चल, तत्त्वकी जिज्ञासा करनेवाला, गुणी व्यक्तियोंमें दोषोंको न देखनेवाला और मितभाषी व्यक्ति ही गुरुका दास हो सकता है।

गुरुदासकी अयोग्यताके लक्षण

आलसी, मलिन, वृथा कष्ट करनेवाला, अहंकारी, कृपण, दरिद्र, रोगी, क्रोधी, विषयोंमें

आसक्त, लोभी, परछिद्रान्वेषी, मत्सर, वञ्चक, कठोर वचन बोलनेवाला, अन्यायरूपसे अर्थोपार्जक, पराई स्त्रीमें आसक्त, भक्तद्वेषी, अपनेको पण्डित समझकर अहंकार करनेवाला, दूसरोंका दोष प्रकाश करनेवाला, निर्दयी, दुरात्मा, निन्दित, पापिष्ठ, नराधम, कुकार्यमें निरत और गुरुदेवके शासनको सुननेमें असमर्थ व्यक्तिको श्रीगुरुदेव अपनी सेवा न देंगे। जैमिनी, सुगत, नास्तिक, नग्न, कपिल, गौतम—ये छः हेतुवादियोंके मतका आश्रय ग्रहण करेनवाले व्यक्ति गुरुदास नहीं हो सकते।

साक्षात्–गुरुसेवाके सम्बन्धमें गुरुदासका कर्त्तव्य

गुरुदासके बहुतसे कर्त्तव्य होनेपर भी साधारणतः गुरुदेवकी साक्षात् सेवाके सम्बन्धमें संक्षेपमें यहाँ वर्णन किया जा रहा है—

(क) प्रतिदिन गुरुदेवके लिए जल लाना, कुश, पुष्प, यज्ञीय काष्ठ संग्रह करना, गुरुका शरीर मार्जन, चन्दन लेपन, घर साफ करना, कपड़े साफ करना तथा उनके प्रिय और हितकर कर्मोंका अनुष्ठान करना, गुरुके गुरु (परमगुरु) के साथ गुरुकी तरह व्यवहार करना चाहिए। गुरुकी आज्ञा लेकर पिता–माताके साथ बोलना चाहिए। सदा गुरुका दर्शन करते ही भूमिष्ठ होकर दण्डवत् प्रणाम करना चाहिए। तन, मन, वचन, प्राण और धनके द्वारा गुरुके प्रिय कार्योंको करना चाहिए। श्रीकृष्णके चरणकमलोंका आश्रय करनेके लिए अप्राकृत दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। गुरुदेवको भगवत् बुद्धिसे प्रणाम करना चाहिए। अपनी सब सम्पत्ति यहाँ तक कि अपनी देह तक दक्षिणाके रूपमें गुरुदेवको समर्पण कर देना चाहिए। सेव्य भगवान् कृष्णको गुरुके शरीरमें अवस्थित जानना चाहिए। एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी, फाल्गुनी पूर्णिमा (महाप्रभुका जन्म दिवस) आदि हरिवासरोंमें उपवास करना चाहिए।

गुरुदेवकी साक्षात् सेवाके समय न करने योग्य कार्य

(ख) गुरुके निकट पैर पसारना, उनकी आज्ञा बिना कहीं जाना, लम्बी–चौड़ी बातें बनाना, अहंकारयुक्त और उच्च वचन, गुरुका नाम उच्चारण, गुरुके गमन (चाल), वचन और क्रियाका अनुकरण करना मना है। गुरुके वचन, आसन, सवारी, पादुका, वस्त्र और छायाको लांघना नहीं चाहिए। गुरुके निकट पृथक् पूजा नहीं करनी चाहिए। गुरुदेव भी हमारे जैसे हैं—ऐसा अहंभाव प्रकाश नहीं करना चाहिए। गुरुदेवको न तो कभी कोई आज्ञा देनी चाहिए और न उनकी किसी आज्ञाका उल्लंघन ही करना चाहिए। गुरुको अर्पण किए बिना कोई चीज ग्रहण नहीं करनी चाहिए। गुरुके लिए रखी हुई किसी चीजको खाना नहीं चाहिए। उनके आगमन करनेपर उठकर खड़ा हो जाना चाहिए, तथा उनके जानेके समय उनका अनुगमन करना चाहिए। उनके बिछौनेपर बैठना नहीं चाहिए। गुरुके डाँट–डपट और भर्त्सना करनेपर उनका तिरस्कार करना अथवा उनके प्रति कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए। गुरुकी सेवा किए बिना कभी भी मन्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिए। गुरुकी निन्दा करनेवालोंका संग नहीं करना चाहिए, उनके साथ बोलना भी नहीं चाहिए। मांस, मछली, सुअर, कच्छप आदिका भक्षण नहीं करना चाहिए। पादुका लेकर देवता वा गुरुके घरमें नहीं जाना चाहिए।

गुरु और शास्त्रके वचनके अनुसार गुरुदासोंके पालनीय कर्त्तव्य

(१) ब्राह्ममुहूर्त्तमें हरिकीर्तन करते–करते शय्या त्याग करना (२) भगवत्प्रबोधन अर्थात् वाद्य और स्तुतिपाठसे भगवानको उठाना (३) बाजेके साथ मंगल आरती करना (४) प्रातः स्नान (५) नए और साफ वस्त्र धारण (६) अपने अभीष्ट देवका अर्चन (७) पुण्ड्र (तिलक) धारण (८) शंख चक्रादिधारण (९) चरणामृत पान (१०) तुलसी माला आदि धारण (११) निर्माल्यको उतार देना (१२) निर्माल्य–चन्दन शरीरमें लेपन (१३) शालग्राम और मूर्त्ति पूजा (१४) निर्माल्य तुलसीका समादर अर्थात् अपने मस्तकपर धारण (१५) तुलसी चयन (१६) तान्त्रिकी सन्ध्या (१७) शिखा–बन्धन (१८) चरणामृतसे पितृ–तर्पण (१९) भक्तिके अनुकूल

नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान (२०) महा उपचारके साथ भगवानकी सेवा (२१) भूतशुद्धि और न्यास (२२) नये-नये फूल और फल दान (२३) तुलसी पूजा (२४) भक्ति ग्रन्थोंकी पूजा (२५) त्रैकालिक हरिपूजन (२६) पुराण श्रवण (२७) निवेदित् वस्त्र धारण (२८) भगवानकी आज्ञा समझकर सत्-अनुष्ठानोंका करना (२९) गुरुकी आज्ञाका पालन (३०) गुरुके वचनोंमें विश्वास (३१) मन्त्र और देवताओंके अनुसार आहवान आदि मुद्राओंकी रचना (३२) भजनके उद्देश्यसे नृत्य गीतादि (३३) शंख ध्वनि (३४) लीला अनुकरण (३५) होम (३६) नैवद्य अर्पण (३७) साधुका आदर (३८) साधु-पूजा (३९) नैवेद्य भोजन (४०) ताम्बूलका अवशेष ग्रहण (४१) वैष्णव सेवा (४२) विशिष्ट धर्मकी जिज्ञासा (४३) दशमी आदि तीन दिन नियमद्वारा स्वास्थ्य रक्षा और सन्तोष (४४) जन्माष्टमी आदि महोत्सव पालन (४५) देव-मन्दिरोंमें गमन (४६) अष्टमहाद्वादशी पालन (४७) सब ऋतुओंमें महोपचारके साथ हरि-पूजन (४८) वैष्णव व्रत पालन (४९) गुरुमें ईश्वर बुद्धि (५०) सर्वदा तुलसी संग्रह (५१) शय्या-पाद सम्वाहनादि उपचार प्रदान (५२) रामादि भगवत् अवतारोंका चिन्तन। गुरुदासको इन ५२ प्रकारके अनुष्ठानोंका पालन करना कर्तव्य है।

गुरुदासके लिए ५२ प्रकारके निषेध

गुरुसेवकोंको निम्नलिखित ५२ प्रकारके निषेधोंको अवश्य मानना चाहिए—

(१) दोनों सन्ध्या कालमें सोना (२) मिट्टीके बिना शौच (३) खड़े होकर आचमन (४) गुरुके सामने पैर पसारना (५) गुरुकी छाया लांघना (६) समर्थ होते हुए भी स्नान न करना (७) देवार्चनमें आलस्य (८) देवता और गुरुकी अभ्यर्थना न करना (९) गुरुदेवके आसनपर बैठना (१०) गुरुके सामने पाण्डित्य प्रकाश करना (११) जंघाके ऊपर पैर रखना (१२) विष्णुके नैवेद्यका उल्लंघन करना (१३) मन्त्रहीन तिलक और आचमन (१४) नीला वस्त्र धारण करना (१५) भगवत्-विमुख और वैष्णव-विद्वेषीके साथ मित्रता (१६) असत् शास्त्र पाठ (१७) तुच्छ संगसुखमें आसक्ति (१८) मद्य-मांस सेवन (१९) मादक औषधि सेवन (२०) मसूरी दालके साथ अन्न भोजन (२१) शक, कद्दू (लौकी), बैंगन, प्याज, लहसुन आदि भोजन (२२) अवैष्णवके निकट अन्न ग्रहण (२३) अवैष्णव व्रतका पालन (२४) अवैष्णव मन्त्र ग्रहण करना (२५) मारण, उच्चाटन आदि अनुष्ठान (२६) सामर्थ्य रहनेपर हरिसेवामें कृपणता करना—हीन उपचारसे पूजा करना (२७) शोकके वशीभूत होना (२८) दशमीसे संयुक्त एकादशीका व्रत पालन (२९) शुक्ल और कृष्ण पक्षकी एकादशीमें भेद (३०) जुआ खेलना (३१) समर्थ होनेपर भी व्रत उपवासमें अनुकल्प स्वीकार (३२) एकादशीके दिन श्राद्ध (३३) द्वाद्वशीके दिन सोना (३४) द्वाद्वशीमें विष्णु स्नान (३५) विष्णुके प्रसादके सिवा दूसरी वस्तुओंसे श्राद्ध (३६) वृद्धि-श्राद्धमें अतुलसी (३७) अवैष्णव या राक्षस श्राद्ध (३८) चरणामृत रहते हुए पवित्रताके लिए दूसरे जलसे आचमन करना (३९) काठके आसनपर बैठे हुए पूजा करना (४०) पूजाके समय असत् कथा (४१) गृह-कनेर या आकके फूलसे पूजा (४२) लौह-निर्मित धूप-पात्र व्यवहार (४३) प्रमादवश तिरछा पुण्ड्र धारण (४४) असंस्कृत द्रव्य द्वारा पूजा (४५) चञ्चल चित्तसे अर्चन (४६) एक हाथसे प्रणाम और केवल एकबार प्रदक्षिणा (४७) असमयमें श्रीमूर्ति दर्शन (४८) बासी अन्न निवेदन (४९) असंख्य जप (५०) मन्त्र प्रकाश (५१) मुख्यकाल त्याग और गौणकाल स्वीकार (५२) विष्णु प्रसाद अस्वीकार।

श्रीगुरु और श्रीगुरुदासका तत्त्व

गुरु और गुरुदास—दोनों नित्य हैं अगर कोई गुरुदेवको मन या दृश्य जगतकी (पंचभूत द्वारा रचित) कोई वस्तु समझता है तो वह वास्तवमें नित्य गुरुदास नहीं हो सकता है। गुरुदेवमें मर्त्यबुद्धि करनेसे—मरणशील मानव समझनेसे और गुरुदासके बाहरी शरीरको नश्वर जाननेसे अप्राकृत वस्तुकी

नित्यतामें नाना प्रकारके सन्देह उपस्थित होते हैं। गुरु और शिष्यका सम्बन्ध नित्य और आत्मधर्ममें प्रतिष्ठित होता है। उसमें कोई हेयता नहीं होती। विषयोंके प्रति ममता बुद्धि नहीं होनेसे शिष्य समझ पाता है कि उसका स्वरूप 'कृष्णदास' है। श्रुतिमें लिखे गए 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' मन्त्रको सुनकर शिष्य अपनेको विशुद्ध 'चित्कण' या 'अणु–चित्' जान पाता है। उस समय गुरुदास स्वस्वरूपमें अवस्थित होकर कहता है—

श्रीचैतन्यमनोभीष्टं स्थापितं येन भूतले।
श्रीरूपं हि कदा मह्यं ददाति स्वपदान्तिकम्।।

✪✪✪

निश्चय

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

पाँचवाँ प्रमेय—दो प्रकारके जीव—मुक्त और बद्ध

आम्नायकी शिक्षा है कि अपने लिए सुखकी कामना करनेवाले जीव निकट स्थित मायाका वरण कर सुख–दुःख भोगते हैं। कर्म माया द्वारा रचित एक गोरखधन्धेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिन्होंने मायामें प्रवेश नहीं किया है, उनके साथ कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं। जीव दुर्भाग्यवश मायाके गोरखधन्धेमें फँस कर स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंके द्वारा मायिक जगतका भोग करता है। इस गोरखधन्धेका कोई ओर–छोर नहीं। किन्तु जीव जिस प्रकार अति सहज ही इसमें फँस गया है, उसी प्रकार इससे मुक्त भी अत्यन्त सहज ही हो सकता है।

छठा प्रमेय—नित्य–बद्ध जीव सत्संगके प्रभावसे मुक्ति लाभ करता है

मायाके गोरखधन्धेमें फँसे हुए जीवोंको 'नित्यबद्ध' कहा जा सकता है। 'नित्य'–शब्द मायिक कालके सम्बन्धमें प्रयुक्त है। चित् वस्तुके स्पर्शसे चित् कालके उदय होनेपर उसकी अनित्यता उपलब्धा होती है। साधु संतोंकी कृपासे बद्ध जीव जन्म–जन्मान्तरोंकी अर्जित भक्ति–उन्मुखी सुकृतिके प्रभावसे मायासे मुक्त होता है—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्
जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः।
सत्–सङ्गमो यर्हि तदेव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः।।

(श्रीमद्भा. १०/५१/३४)

सत्संगसे संसार–दुःखका क्षय होता है तथा श्रीकृष्णकी कृपामें दृढ़ विश्वास होता है। उस समय जीव भजनके प्रभावसे तथा भगवत्–कृपासे माया–बन्धनका छेदन कर कृष्ण सेवा लाभ करता है और नित्य मुक्त जीवोंके साथ सालोक्य प्राप्त करता है।

सातवाँ प्रमेय—अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध

कृष्ण और कृष्णेतर वस्तुओंमें परस्पर अचिन्त्य भेदाभद सम्बन्ध है। इसीलिए वेदोंमें कहीं–कहीं अभेदसूचक और कहीं–कहीं भेदसूचक मंत्र देखे जाते हैं। सिद्धान्त दो प्रकारके होते हैं—तात्त्विक और आतात्त्विक। अतात्त्विक–सिद्धान्त सम्पूर्ण वेदका एकदेशीय विचार है और तात्त्विक सिद्धान्त अर्थात् आम्नायसे यह विदित होता है कि श्रीकृष्ण एक अद्वय–तत्त्व और सर्वमय हैं। वे एक ही वस्तु हैं तथा सर्व–शक्तिमान हैं। शक्तिपरिणत जीव और

जगत वर्त्तमान रहनेपर भी वस्तु एक ही है तथा तत्त्वकी दृष्टिसे वस्तु अद्वय अर्थात् नित्य अभेद है; परन्तु शक्तिगत विचारसे शक्तिके परिणाम-स्वरूप कृष्णके अतिरिक्त जो कुछ दीख पड़ता है, वह कृष्णसे नित्य भिन्न है। यह नित्य भेदाभेद स्वभावतः अचिन्त्य होता है। क्योंकि जीवकी मायिक बुद्धि इस भेदाभेदका विवेचन करनेमें असमर्थ होती है। सौभाग्यवश जब जीवका उनमें अप्राकृत बुद्धिका उदय होता है, तभी अचिन्त्य- भेदाभेदयुक्त शुद्ध ज्ञान अनुभूत हो सकता है। आम्नाय-वाक्योंमें दृढ़ विश्वास होनेपर कृष्णकी कृपासे भक्तजन इस अचिन्त्य भेदाभेद ज्ञानको अल्प समयमें ही स्पष्टरूपमें देख पाते हैं। इस विषयमें जड़ तर्क-वितर्क करनेपर मतवाद हो पड़ता है।

उक्त सात प्रमेयोंके ज्ञानको सम्बन्ध-ज्ञान कहते हैं

आत्म-समाधि द्वारा पाये जानेवाले इन सात प्रमेयोंका ज्ञान जब आम्नायके बलसे साधकके हृदयमें उदित हो जाय, तब ऐसा कहा जा सकता है कि उसे सम्बन्ध ज्ञान प्राप्त हो गया है। श्रीसनातन गोस्वामीके प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीमन्महाप्रभुजीने सम्बन्ध-ज्ञान-तत्त्वको विशद रूपमें बतलाया है—सनातन गोस्वामीके प्रश्न ये हैं—'(१) मैं कौन हूँ? (२) ये तीनों ताप मुझे क्यों दग्ध कर रहे हैं? और (३) मेरा कल्याण कैसे हो सकता है?' जो लोग वास्तवमें कल्याण प्राप्त करना चाहते हैं, वे श्रीगुरुदेवसे अवश्य ही इन प्रश्नोंको पूछेंगे। श्रीगुरुदेवके निकट सदुत्तर पाकर उनके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कृष्ण भक्तिके प्रति दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है। तत्त्व-ज्ञानको व्यर्थ समझ कर उसकी शिक्षामें अवहेलना करना उचित नहीं, क्योंकि इससे कृष्ण-भक्ति सुदृढ़ होती है।

उपर्युक्त एक प्रमाण और सात प्रमेयोंका सार

अब देखिये, दस मूलोंमेंसे प्रथम आठ मूलोंमें प्रमाण और सम्बन्ध ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तोंका विवेचन किया गया है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने सनातन गोस्वामीके प्रश्नोंके जो उत्तर दिये हैं, उनमें प्रमाण और प्रमेयका विचार अतीव चमत्कारपूर्ण और स्पष्ट है—

(क) प्रमाण—

वेद ही प्रमाण हैं। वेदमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वका निर्णय किया गया है।

(ख) प्रमेय—

(१) कृष्ण ही परम तत्त्व हैं । अद्वय-ज्ञानतत्त्व स्वयं भगवान् हैं। ये सर्वैश्वर्यपूर्ण हैं। इनका 'नित्य' धाम—गोलोक वृन्दावन है । ये ज्ञान, योग, और भक्ति—इन त्रिविध साधनों द्वारा क्रमशः ब्रह्म, आत्मा और भगवान्के रूपमें प्रकाशित होते हैं।

(२) कृष्ण अनन्त अचिन्त्य शक्तियोंसे युक्त हैं। इन अनन्त शक्तियोंमें चित्-शक्ति, जीव-शक्ति और माया-शक्ति—ये तीन शक्तियाँ प्रधान हैं।

(३) कृष्ण रसस्वरूप हैं।

(४) जीवका स्वरूप नित्य-कृष्णदास है। वह भगवानका विभिन्नांश तत्त्व है। जीवकी तुलना सूर्यके किरण-कण अथवा अग्निके स्फुलिङ्गके साथ की जा सकती है। विभिन्नांश तत्त्व जीव दो प्रकारके होते हैं—नित्यमुक्त और नित्यबद्ध। नित्यमुक्त जीव कृष्णकी नित्यसेवा कर प्रेमानन्दमें विभोर रहते हैं।

(६) नित्यबद्ध जीव कृष्णको भूलनेके कारण अनादिकालसे कृष्ण बहिर्मुख होते हैं। माया इन बहिर्मुख जीवोंको अनादिकालसे ही संसार-दुःखका भोग कराती है।

(७) जीव कृष्णकी तटस्था शक्तिके परिणाम हैं। इनका कृष्णके साथ अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध है।

आठवाँ प्रमेय—कृष्णभक्ति ही अभिधेय है

सम्बन्ध ज्ञानका उदय होनेपर अभिधेय (साधन) आरम्भ होता है। कृष्ण-भक्ति ही अभिधेय है। तात्पर्य यह है कि शास्त्रोंमें जीवोंके चरम कर्त्तव्यका निरूपण किया गया है। उस चरम कर्त्तव्यका नाम ही 'अभिधेय' है। कर्म, योग और ज्ञान—ये अत्यन्त तुच्छ

और गौण साधन हैं। ये भक्तिकी सहायताके बिना स्वतन्त्ररूपमें कोई फल नहीं प्रदान कर सकते हैं। साधन–भक्तिको ही अभिधेय कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागानुगा। वैधी– भक्तिके ६४ अङ्ग हैं। इन ६४ अङ्गोंको पुनः ९ अङ्गोंमें लाया गया है, जिसे नवधा भक्ति कहते हैं—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

(श्रीमद्भा. ७/५/२३)

कर्म और ज्ञानसे भक्तिका भेद

तन, मन और वचनसे श्रीकृष्णके चरणोंमें चित्तको लगानेका नाम ही भक्ति है। कर्म और ज्ञानसे भक्तिका अत्यन्त सूक्ष्म भेद है। कहीं–कहीं कर्म और ज्ञान तथा भक्तिके अंग समूह बिलकुल एक जैसे ही दीख पड़ते हैं। इन अंगोंमें जब भक्तिके अतिरिक्त अन्य कामनाएँ संयुक्त होती हैं, तब उन्हें कर्माङ्ग कहते हैं, जब वे शुष्क–ब्रह्म चिन्तासे युक्त होते हैं, तब उन्हें ज्ञानाङ्ग कहते हैं और जब वे कर्म और ज्ञानसे शून्य होकर केवलमात्र कृष्ण–सेवाके उद्देश्यसे आचरित हों, तब उन्हें भक्तिका अंग कहते हैं। जिस कर्मका फल स्वयं भोग किया जाय, उसे 'कर्म' कहते हैं और जो कर्म सायुज्य मुक्तिको लक्ष्य कर किया जाता है उसे 'ब्रह्म–ज्ञान' कहते हैं। अतएव श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिका लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

वैध साधन–भक्ति और रागानुगा भक्तिके लक्षण

शास्त्रकी विधियोंके अधीन रहकर भक्तिके अंगोंका पालन करनेका नाम 'वैध–साधन भक्ति' है और कृष्णके अनुरागके वशवर्त्ती होकर जो सेवा–कार्य किया जाता है, उसे 'राग–भक्ति' कहते हैं। कृष्णके प्रति व्रजवासियोंकी भक्ति 'रागात्मिका भक्ति' है। भक्तिपर्वमें व्रजवासियोंका अनुकरण ही 'रागानुगा भक्ति' है वैधी भक्ति जब श्रद्धासे आरम्भ कर रति तक पहुँचती है, तब वह रागानुगा भक्तिके साथ एक हो जाती है। रागानुगा भक्ति अत्यन्त बलवान होती है। यही नवम मूल अर्थात् आठवाँ प्रमेय है।

नवम प्रमेय अथवा दसवाँ मूल—कृष्ण–प्रेम ही प्रयोजन है

आम्नाय वाणीके अनुसार प्रेम ही प्रयोजन तत्त्व है। साधन भक्तिसे लेकर प्रेमप्राप्ति तक भिन्न–भिन्न क्रम हैं। जन्म–जन्मान्तरोंकी सुकृतिसे सौभाग्यवश बद्ध जीवोंमें श्रद्धाका उदय होता है। तब श्रद्धालु जीव साधु–संग करता है। सत्संगमें श्रवण–कीर्तन आदि साधन–भक्तिका आचरण करता है। धीरे–धीरे साधनके प्रभावसे उसके सारे अनर्थ दूर हो जाते हैं, तब पूर्व श्रद्धा 'निष्ठा' बन जाती है। निष्ठा दृढ़ होनेपर 'रुचि' होती है। रुचिसे आसक्ति, आसक्तिसे प्रीतिका अंकुर उत्पन्न होता है। यही रति (प्रीति–अंकुर) गाढ़ा होने पर प्रेम होता है। प्रेम ही जीवमात्रका चरम प्रयोजन है।

श्रीमन्महाप्रभुकी इस दसमूल शिक्षाके प्रति जिनको संदेह होता है, उनका भजन–साधन निरर्थक हो जाता है। संशयसे भजन विकृत हो जाता है। भजन विकृत होनेसे जीवका सर्वनाश हो जाता है। अतः जो लोग विशुद्ध रूपसे भजन करना चाहते हैं, उन्हें सुदृढ़ 'निश्चय' के साथ भजन करना चाहिए।

✪✪✪

श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय एवं संन्यास

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण

(५) श्रीमन्महाप्रभुने किसीको संन्यास ग्रहण करेनका उपदेश नहीं दिया है, बल्कि वर्णाश्रम त्यागका ही उपदेश दिया है—

एत सब छाड़ि आर वर्णाश्रम धर्म।
अकिंचन हञा लय कृष्णैकशरण।।
(चै. च. म. २२/९०)

यहाँपर श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीसनातन गोस्वामी जैसे परम विरक्त निष्किंचन अधिकारीको चरम प्रयोजन—कृष्ण-प्रेम प्राप्तिके लिए ऐसे अभिधेय तत्त्वका उपदेश कर रहे हैं। और उस स्थितिके लिए हरिदासश्रेष्ठ उद्धवजीका उदाहरण प्रस्तुत किया है—

विज्ञजनेर हय यदि कृष्णगुण-ज्ञान।
अन्य त्यजि भजे, ताते उद्धव-प्रमाण।।
(चै. च. म. २२/९४)

अतः वैसा उपदेश कनक-कामिनी-प्रतिष्ठा लोलुप, अनर्थग्रस्त अनधिकारी अर्थात् अज्ञ व्यक्तियोंके लिए नहीं है। श्रीकृष्णके नाम-रूप-गुण-लीला आदि तत्त्वविद् विज्ञोंके लिए ही ऐसा उपदेश समझना चाहिए। 'यदि' शब्दके प्रयोगसे ऐसा स्पष्ट होता है। अतएव शब्दको पकड़कर बैठ जाना सुविज्ञ जनोंका ध्येय नहीं होता है, अपितु कब और किससे किन परिस्थितियोंमें कोई विधि-निषेध कहा गया है—यह प्रथम विचारणीय होता है। यथा निम्न प्रसंगोंमें श्रीचैतन्य महाप्रभुने विभिन्न प्रकारके उपदेश दिए हैं—

(क) बालक रघुनाथ दास (गोस्वामी) को—

स्थिर हइञा घरे जाओ ना हओ बातूल।
क्रमे-क्रमे पाय लोक भव-सिन्धु कूल।।
मर्कट वैराग्य ना कर लोक देखाञा।
यथायोग्य विषय भुञ्ज अनासक्त हइञा।।
अन्तरे निष्ठा कर बाह्ये लोक व्यवहार।
अचिराते कृष्ण तोमाय करिबेन उद्धार।।
(चै. च. म. १६/२३७-२३९)

(ख) श्रीरघुनाथ भट्टको—

वृद्ध माता-पितार जाई करह सेवन।
वैष्णव-पास भागवत कर अध्ययन।।
(चै. च. अ. १३/११३)

(ग) श्रीशिवानन्द सेनको—

गृहस्थ हयेन इहों चाहिए संचय।
संचय ना कैले कुटुम्ब भरण ना हय।।
(चै. च. म. १५/९५)

(घ) संन्यास-ग्रहणके पश्चात् शान्तिपुरमें नदियावासियोंके प्रति—

घरे जाइया कर सदा कृष्ण संकीर्तन।
कृष्ण नाम, कृष्ण कथा, कृष्ण आराधन।।
घरे गिया कर सबे कृष्ण संकीर्तन।
पुनरपि आमा संगे हइबे मिलन।।
(चै. च. अ. ३/१९०, २०७)

श्रीराय रामानन्दसे—

किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय।
जेई कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय।।
(चै. च. म. ८/१२७)

(च) श्रीचैतन्य महाप्रभु तो स्वयं यह सङ्कल्प लेकर ही अवतीर्ण हुए हैं कि मैं स्वयं भक्तभाव अंगीकार एवं आचरण कर विश्वमें सर्वत्र ही विशुद्ध भक्तिका प्रचार करूँगा—

आपनि करिमु भक्तिभाव अंगीकारे।
आपनि आचरि भक्ति सिखाइमु सबारे।।
आपने ना कैले धर्म शिखान न जाय।

एइ त सिद्धान्त गीता–भागवते गाय।।

(चै. च. आ. ३/२०–२१)

और

एई मत भक्तभाव करि अङ्गीकार।
आपनि आचरि भक्ति करिल प्रचार।।

(चै. च. आ. ४/४१)

श्रीमन्महाप्रभुके इन विभिन्न उपदेशोंका विश्लेषण करनेपर यह स्पष्ट विदित होता है कि ब्रह्मचारी, गृही, संन्यासी, भेकधारी और वर्णाश्रम–निरपेक्ष परमहंस—ये सभी कृष्ण–भजनके अधिकारी हैं। कृष्ण भजनमें तत्पर रहनेपर ये सभी सम्मान्य हैं। यदि गृहस्थ वैष्णव सम्मानका पात्र है, तो फिर सर्वत्यागी ऐकान्तिक भजनपरायण संन्यासी वैष्णव निन्दाका पात्र, उपेक्षणीय एवं उच्छृंखल कैसे माना जा सकता है?

कृष्णप्रेम पिपासु साधकोंको प्रेम–साधनके लिए गृहस्थाश्रम, संन्यास या वेशाश्रय जो भी अनुकूल जान पड़े, उसीमें रहकर भजन करना चाहिए। जो प्रतिकूल हो, उसका त्याग करना चाहिए। श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीअद्वैताचार्य प्रभुसे अपने संन्यास ग्रहणका कारण बताते हुए कहते हैं—

बिना सर्व त्यागं भवति भजनं न ह्यसुपते–
रिति त्यागोऽस्माभिः कृत इह किमद्वैतकथया।
अयं दण्डो भूयान् प्रबलतरसो मानसपशो–
रितिवाहं दण्डग्रहणमविशेषादकरवम्।।

(चैतन्यचन्द्रोदय नाटक ५/२२)

—"सर्वस्व त्याग किए बिना प्राणनाथका भजन सम्भव नहीं है। इसीलिए मैंने सर्वस्व त्याग किया है। मैं अद्वैतवादी मुक्तिकामी निर्विशेष ज्ञानियोंकी भाँति त्यागी नहीं हूँ। विशेषतः अतिशय चंचल अपने मनरूपी पशुको दण्ड देनेके लिए ही मैंने संन्यासका दण्ड धारण किया है।" अतः किसीकी ऐसे संन्यासमें आपत्तिकी बात ही क्या दीखती है?

वे कहते हैं—'श्रीमहाप्रभुकी संन्यास लीला उनकी स्वरूपानुबन्धिनी लीला मात्र है।' किन्तु उनकी संन्यासलीला जीव शिक्षा एवं जीव कल्याणके लिए भी तो है—*आपनी आचरि धर्म सिखामु सबारे।।*

'नाहं विप्रो' श्लोकमें श्रीमन्महाप्रभुजीने जीवके शुद्ध स्वरूपकी शिक्षा दी है। उसका तात्पर्य यह है कि भक्ति–साधक अपनेको किसी भी स्थूल–सूक्ष्म जड़ीय उपाधियोंमें आबद्ध न रखकर शुद्ध चिन्मय कृष्ण–दास समझे। क्या केवल संन्यासमें ही संन्यासीका अभिमान अनिवार्य है, गृहस्थ और वेशाश्रय करनेवालोंमें अहंकारकी सम्भावना नहीं है? हकीमजीका विचार ऐसा ही प्रतीत होता है। वर्णाश्रममें रहते हुए भी वर्णाश्रमके प्रति अभिमान एवं आसक्ति छोड़नेके लिए ही संन्यासकी व्यवस्था है। अतः बाह्य अभिमानको छोड़कर परात्मनिष्ठा– सम्पन्न होकर कृष्ण–भजन करना ही काम्य है।

(६) श्रीसनातन गोस्वामीने गौड़ीय वैष्णवोंके लिए गैरिक वस्त्र धारण करना निषिद्ध बतलाया है—

'रक्तवस्त्र वैष्णवेर परिते ना जुयाय।'

(चै. च. अ. १३/६१)

यहाँ पाठकोंके समक्ष उक्त प्रसंगको उपस्थित किया जा रहा है, जिससे उक्त विषय स्पष्ट हो जाय। श्रीगौर–परिकर श्रीजगदानन्द पण्डितजी गोकुल दर्शनके लिए श्रीसनातन गोस्वामीकी भजन कुटीमें ठहरे थे। श्रीसनातन गोस्वामी मधुकरी भिक्षासे लौटे। उनके सिरपर गैरिक वस्त्र बँधा था। पण्डितजी उस वस्त्रको देखकर पहले तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस वस्त्रको श्रीमन्महाप्रभुका प्रसादी वस्त्र समझा। परन्तु बाद जब उन्हें यह पता चला कि वह वस्त्र अद्वैतवादी संन्यासीका है, तब बड़े क्रोधित हुए। इस पर भी श्रीसनातन गोस्वामीने बड़ी नम्रतासे कहा—मैंने केवल आपकी इसी गौरनिष्ठाको देखनेकी अभिलाषासे ही इस वस्त्रको धारण किया था। आपकी गौर निष्ठा धन्य है। अब मुझे इसकी कोई

आवश्यकता नहीं है। मैं इसे किसी औरको दे दूँगा—

''रक्त वस्त्र वैष्णवेर परिते ना जुयाय।''

यहाँ पण्डितजीके क्रोधका कारण गैरिक वस्त्र नहीं था। अद्वैतवादी संन्यासीके वस्त्रके धारणसे था। क्योंकि—

'रातुल वस्त्र देखि, पण्डित प्रेमाविष्ट हइला।''

यदि रातुल (गैरिक) वस्त्र मात्रसे ही उनकी चिढ़ होती तो वे श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीपरमानन्द पुरी प्रभृतिके गैरिक वस्त्रको देख कर भी क्रोध करते। परन्तु अन्यत्र कहीं भी ऐसे प्रसंगका उल्लेख नहीं मिलता। श्रीसनातन गोस्वामीने पण्डितजीको शान्त करने तथा महाप्रभुके वेशके प्रति मर्यादा प्रदर्शन हेतु ही रक्त वस्त्र (रक्त या लाल वस्त्र वैष्णवोंके लिए निषिद्ध है) धारण किया था। यदि श्रीसनातन गोस्वामीको गैरिक वस्त्र मात्रका निषेध अभीप्सित होता तो वे बृहद्भागवतामृतकी स्वरचित टीकामें भी संन्यासका निषेध करते। उन्होंने बृहद्भागवतामृत २/७/१४ श्लोककी टीकामें श्रीमद्भागवत ३/५/३९ श्लोककी अवतारणाकर उसकी व्याख्या करते हुए संन्यासके विषयमें श्रीगौड़ीय-वैष्णवोंका दृष्टिकोण उपस्थित किया है—

'अयमर्थः—यतयोऽपि यस्य पदारविन्दस्य मूलं ततं केत आश्रयो येषां तथाभूता एव सन्तः महदपि संसार दुःखमञ्जसा अनायासेनैव बहिरूत्क्षिपन्तीति। यद्वा, ये श्रीभगच्चरणारविन्दाश्रयास्ते यतय एव नोच्यन्ते, किन्तु परमभक्तया एव, सर्वपरित्यागेन तच्चरणारविन्दाश्रयणात्, केवलं गृहादिपरित्यागनिष्ठार्थमेव संन्यास-ग्रहणात्, वेशमात्रेण यतिसादृश्यं तेषाम्। ये तु आत्मानमेव श्रीभगवन्तं श्रीनारायणं मन्वाना आत्मव्यतिरिक्तदृष्टं श्रुतं सर्वमेव मन्मयाकल्पितं मय्येवाध्यस्तमित्यादि मायावादानुसारेणाद्वैत बोधमात्रपरास्त एवाद्वैतपरवेदान्त-सिद्धान्तमते यतयोऽभिधीयते। त एव हि सच्छब्दवाचेभ्यो भक्तेभ्यो भिन्ना अक्षीणपापा विषयरागवासितान्तःकरणा अज्ञा अपि पण्डितमानिनो दैत्यप्रकृतयः। तान् प्रत्येवेमानि वचनानि श्रुयन्ते।'

अर्थात् देवताओंने कहा—"प्रभो! हम आपके श्रीचरणकमलोंकी वन्दना करते हैं। ये अपने शरणमें आए हुए जीवोंका ताप दूर करनेके लिए छत्रके समान हैं तथा इनका आश्रय लेने पर यतिगण अनन्त संसार-दुःखको सुगमतासे ही दूर फेंक देते हैं। संसारी जीव उनका आश्रय नहीं करके ज्ञान लाभके अभावमें त्रिताप भोग करते हैं। भगवन्! हमलोग भी इन श्रीचरणकमलोंकी छायाका आश्रय कर ज्ञान प्राप्त करेंगे। तात्पर्य यह कि यतिजन श्रीभगवानके श्रीचरणकमलोंका आश्रय लेकर अनन्त संसार दुःखको अनायास ही दूर फेंक देते हैं, किन्तु जिन्होंने भगवानके श्रीचरणकमलोंका आश्रय किया है, वे कदापि यति नहीं कहलाते। वे यतिवेश बाह्यतः धारण करेनपर भी भक्त कहलाते हैं। तब यहाँ उन भक्तोंके लिए जो 'यति' शब्दका प्रयोग है, उसका कारण श्रीभगवच्चरणारविन्दोंमें आश्रय हेतु सर्वस्व परित्याग ही है। अर्थात् गृहादि सर्व परित्यागके द्वारा परात्मनिष्ठाकी दृढ़ता सम्पादनार्थ ही संन्यास ग्रहण किया करते हैं। केवल बाहरी वेशमात्र द्वारा यतियोंका सादृश्य धारण किया करते हैं, किन्तु यथार्थतः भक्त हैं। किन्तु जो लोग आत्माको (अपनेको) श्रीभगवान् नारायण मानकर आत्म-व्यतिरिक्त देखे-सुने जानेवाले सभी पदार्थोंको मेरी मायाद्वारा कल्पित मुझमें ही अध्यस्त इत्यादि मायावादी विचारके अनुसार अद्वैत-बोधमात्रमें तत्पर रहते हैं, केवल वे लोग ही अद्वैतपरक वेदान्त-सिद्धान्तमतानुयायी 'यति' कहलाते हैं। और वे ही उक्त श्लोकमें कथित 'सत्' शब्दसे वाच्यसे भिन्न एवं अक्षीरमपाप विषयरागसे युक्त होकर भी अपनेको पण्डितका अभिमान करते हैं, इसीलिए दैत्यस्वभाव-सम्पन्न ऐसे यतियोंके प्रति ही ये वचन सुने जाते हैं।

श्रील सनातन गोस्वामीके इस सिद्धान्तका

श्रीचैतन्यचरितामृत एवं श्रीचैतन्यचन्द्रोयमें भी प्रतिपादन किया गया है और यही श्रीचैतन्य महाप्रभुका हृदगत भाव भी है। अतः श्रीसनातन गोस्वामी कषाय वस्त्रके विरोधी नहीं, समर्थक ही हैं। श्रीहकीमजी गैरिक वस्त्र और रक्तवस्त्रमें अन्तर नहीं कर पाये हैं। गैरिक वस्त्र कृष्ण अनुरागका प्रतीक है जबकि रक्त वस्त्र हिंसाका द्योतक है—यह वैष्णवोंको धारण नहीं करना चाहिए।

(७) साधन भक्तिके चौसठ अंगोंमें कहीं भी संन्यासका उल्लेख नहीं है।

यह युक्ति भी अत्यन्त हास्यास्पद है। साधन भक्तिके अंगोंमें तो गार्हस्थ्य, वेशाश्रय या सफेदवस्त्र–धारणका भी उल्लेख नहीं है। तो क्या हकीमजी इनको भी गौड़ीय वैष्णवोंके लिए निषिद्ध मानेंगे? और तो क्या, छापखाना, किताबकी दुकान आदिका भी साधन भक्तिके ६४ अंगोंमें उल्लेख नहीं रहनेसे श्रीहकीमजी स्वयं भी उच्छृंखल एवं गौड़ीय वैष्णवोंके आनुगत्यसे बाहर हो पड़ेंगे।। बुद्धिके पहाड़ो! गार्हस्थ्य, संन्यास या वेशाश्रय भक्तिके अंग नहीं हैं ये भक्तिसाधनके बाह्य वेश हैं, जो अनुकूल होनेपर ग्रहण किए जा सकते हैं, प्रतिकूल होनेपर छोड़े जा सकते हैं। अतः संन्यासका चौसठ प्रकारके अंगोंमें उल्लेख नहीं रहनेपर भी उसे निषिद्ध नहीं माना जा सकता है। 'रागानुगा' का भी तो वैधीभक्ति–अंगोंमें उल्लेख नहीं, फिर उसे निषिद्ध माना जाएगा? यह केवल अप्रासंगिक एवं शुष्क तर्कमात्र है।

(८) श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीमद्भागवत (११ वें स्कन्धके १८ वें अध्यायके प्रारम्भमें अध्याय–सार कथनमें) 'भक्तस्यानाश्रयमित्वञ्च' द्वारा भक्तोंके लिए किसी भी आश्रमकी अनावश्यकता बतलायी है।'

११/१८/२८ श्लोककी टीकामें जो विस्तारपूर्वक बतलाया है, वह पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जा रहा है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः।।

(श्रीमद्भा. ११/१८/२८)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती टीका—

परिपक्वज्ञानिनो निष्कामस्वभक्तस्य च वर्णाश्रमनियममाभावमाह,—ज्ञाननिष्ठः परिपक्व–ज्ञानवान् अनपेक्षकः प्रतिष्ठापर्यन्तापेक्षारहितः। अत्र सर्वथा नैरपेक्षमजातप्रेम्नो भक्तस्य न सम्मवेदत उत्पन्नप्रेमैव भक्तः सलिङ्गानाश्रमांस्त्यजेत् अनुत्पन्नप्रेमा तु निर्लिङ्गाश्रमधर्मांस्त्यजेदित्यर्थो लभ्यते; स्वधर्मत्यागस्तु ''तावत् कर्माणि कुर्वीतेति'' वाक्यात् भक्तानामारम्भत एवावगम्यते। तयोः शुद्धान्तःकरणत्वादेव पापे प्रवृत्त्यभावात् दुराचारत्वं नाशङ्क्यम्; तेनाविधिगोचरः।'

अर्थात् संसारसे सम्पूर्ण निरपेक्ष भक्त आश्रमोचित चिह्नोंके साथ आश्रमधर्मका परित्यागकर वेद–विधिरहित परमहंसरूपमें विचरण करेंगे। प्रेमी भक्त ही सम्पूर्ण निरपेक्ष होते हैं। जबतक प्रेमका उदय नहीं होता, तबतक सम्पूर्णरूपसे निरपेक्ष नहीं हुआ जा सकता है। इसलिए साधक भक्त प्रेम प्रकट नहीं होनेतक सलिंग आश्रम धर्म परित्याग न कर, निर्लिंग आश्रम धर्मका परित्याग कर अर्थात् आश्रमोचित चिह्न त्रिदण्ड, गैरिक वस्त्र आदिके अतिरिक्त निर्लिंग आश्रमका परित्याग कर हरिभजन करेंगे। क्योंकि निरपेक्ष भक्तके लिए वर्णाश्रमोचित कर्म अनावश्यक हैं। किन्तु सम्पूर्णरूपसे निरपेक्ष अर्थात् प्रेमकी प्राप्ति न होनेतक आश्रमोचित चिह्न त्रिदण्ड एवं गैरिक वसन आदि धारण करते हुए भजन साधनमें तत्पर रहेंगे।

सम्पूर्ण निरपेक्ष जातप्रेम भक्त भी लोक–कल्याणार्थ आश्रमोचित वेशादि धारण करते हैं। साधक भक्त अनासक्त भावसे आश्रमोचित वेशमें रह कर हरिभजन करेंगें। अन्यथा शास्त्र एवं महाजनोंकी आज्ञा–उल्लंघन हेतु अमंगल होगा।

प्राकृत बुद्धिसम्पन्न सहजियाजन त्रिदण्ड एवं गैरिक वसन धारणके विरुद्ध समालोचना द्वारा शास्त्रोंके विषयमें अपनी अनभिज्ञताका ही परिचय देते हैं और व्यर्थ ही वैष्णव अपराधका आवाहन

करते हैं। यदि गैरिक वस्त्र इतना ही अपवित्र अथवा वैष्णवोंके लिए अवैध होता तो रामायण-महाभारत कालके बड़े-बड़े त्रिकालदर्शी ऋषि-महर्षि एवं कलियुगमें श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य जैसे निखिल शास्त्र पारदर्शी, अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न, परम भक्तिमान वैष्णवाचार्यगण उसे क्यों धारण करते? श्रीगोपालचम्पूमें (पूर्वचम्पू ३/६४) में पौर्णमासी देवीके वस्त्र काषाय रंगके बतलाए गए हैं। श्रीरूप गोस्वामीने भी स्वरचित विदग्ध माधव नाटकमें श्रीपौर्णमासी देवीको गैरिक (काषाय) वस्त्रधारी लिखा है—

'वहन्ती काषायम्बरमुरसि सान्दीपनिमुनेः'

(श्रीविदग्धमाधव १/१८)

और भी—

पौर्णमासी भगवती सर्वसिद्धि विधायनी।
काषायवसना गौरी काशकेशीदरायता।।

(श्रीराधाकृष्णगणोद्देशदीपिका ६६ श्लोक)

श्रील जीव गोस्वामीने हरिवंशका श्लोक उद्धृत करते हुए लिखा है कि नरकासुर द्वारा आबद्ध सभी राजकुमारियोंने श्रीकृष्णचरणकमलोंकी प्राप्ति हेतु काषाय वस्त्र एवं व्रत, उपवास धारण किया था—

सर्वाः काषायवासिन्यः सर्वाश्च नियतेन्द्रियाः।
व्रतोपवासतत्त्वज्ञाः काङ्क्षन्त्यः कृष्ण-दर्शनम्।।

(गो. च. उ. १८/५० धृत हरिवंश वाक्य)

श्रीचैतन्य भागवतमें श्रीनित्यानन्द प्रभु और नामाचार्य हरिदास ठाकुरके संन्यास वेशका वर्णन है—

आज्ञा सिरे करि, नित्यानन्द हरिदास।
ततक्षणे चलिलेन पथे आसि हास।।
दोहार संन्यासि वेश-यान जार घरे।
आथेव्यथे आसि भिक्षा निमन्त्रण करे।।

(चै. भा. म. १३/१५-१८)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभु स्वयं संन्यासकी महिमा बतलाते हुए अपने माता-पिताको सान्त्वना दे रहे हैं—

भाल हैल, विश्वरूप संन्यास करिल।
पितृकुल, मातृकुल,—दुई उद्धारिल।।

(चै. च. आदि १५/१३-१४)

'प्रेम-विलास' १९ विलासमें 'श्रीकृष्णमंगल' नामक ग्रन्थके रचयिता श्रीमाधव आचार्यके संन्यासका वर्णन है—

संन्यास करिया तिँह रहि वृन्दावन।
व्रजेर मधुर भावे करये भजन।।
माधव आचार्य श्रीमाधवी सखी हन।
श्रीरूपेर कृपाय तार हैल उद्दीपन।।

(प्रेमविलास १९ विलास)

प्रेमविलासमें वर्णित इस घटनाके द्वारा श्रीरूप गोस्वामी आदि गोस्वामीवर्गका भी संन्यासके प्रति कहीं भी विरोध नहीं देखा जाता। इसके द्वारा श्रीगौड़ीय वैष्णवोंमें संन्यासकी रीति भी देखी जाती है तथा संन्यासीका भी व्रजरीतिके अनुसार भजनमें अधिकार प्रमाणित होता है।

अतः हरिभजन परायण गृहत्यागी साधक भक्तोंके लिए त्रिदण्ड संन्यास एवं गैरिक वस्त्र धारण श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके लिए न तो निषिद्ध है, और न गौड़ीय गोस्वामियोंके आनुगत्यसे बाहर है। बल्कि अनधिकारियोंके लिए निष्किंचन परमहंस-वेशका अनुकरण करना ही अशास्त्रीय एवं अवैध है।

वैष्णव दासानुदास, दीन-हीन अकिंचन
त्रिदण्डिभिक्षु-भक्तिवेदान्त नारायण

✪✪✪

कलियुगमें श्रीकृष्ण नाम जप साधना

—डा0 सत्यपाल गोयल

षष्टम धारा

मन अनन्त कोटि जन्मोंसे विषय सुखका अनुरागी रहा है। यही कारण है कि मानव योनि तो क्या मानवेतर योनियोंमें भी वह विषयोंकी ओर आकर्षित रहता है। स्पर्श सुखकी अनुभूति प्रधान रूपसे सभी योनियोंमें प्रकारान्तर भेदसे व्याप्त रहती है। यह विषय सुख ही जीवको भगवानकी ओरसे हटाकर नर्क पथकी ओर अग्रसर करता है। यदि यह वासना श्रीकृष्णके सुखसे ओत–प्रोत हो जाय तो शुद्ध प्रेमका रूप धारण कर कृष्ण प्रेमको प्रदान करती है और जब यही वासना अपने शरीर सुखका रूप ले लेती है तो काम बनकर जीवको अधोगतिकी ओर ले जाती है।

मनकी गति सदैव एक ओर रहती है जिसका कि वह अभ्यासी रहता है। यही कारण है कि साधन (जप) कालमें मन प्रायः सांसारिक चिंतन में लग जाता है तथा रसनासे नाम उच्चारण होता रहता है। बिना एकाग्रताके साधनामें सफलता नहीं मिलती है। विषय विग्रह श्रीराधाकृष्णके प्रेम, लीला और रसकी अनुभूतिके लिये मनकी एकाग्रता, क्रियात्मकता अत्यावश्यक है। सच तो यह है कि श्रीकृष्ण नाम जपके समय शरीर तथा शरीरके सम्बन्धोंसे ऊपर उठे बिना दिव्य तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती है। देहाध्यास जब तक रहेगा तब तक समझो मन विषयोंमें ही रमण करता रहेगा। सांसारिक भोगोंकी परिकल्पना प्रधान तथा कृष्ण प्रेम गौण बना रहता है। जबकि कृष्ण प्रेमको ही विषय बनाकर निरंतर कृष्णप्रेम, कृष्णनाम, कृष्णरूप, कृष्णलीला कृष्णगुण तथा कृष्णधामका ही चिंतन होना चाहिए। इसीको कहते हैं—जित देखूं तित श्याममयी। निरंतर कृष्ण नामके जप–स्मरणसे साधकका चित्त शरीर तथा शरीरके विषयोंसे ऊपर उठता जाता है तथा उससे दूनी गतिसे साधकका स्वरूप सिद्ध होता जाता है।

यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्णने श्रीभगवद् गीतामें मनको बसमें करनेके लिए अभ्यास (नाम जप) तथा वैराग्य (विषयोंसे विरत) की बात कही है। निरंतर अपने प्रिय प्रेष्ठ या इष्टके नाम, रूप, गुण, लीला और धामका चिंतन, जप–स्मरण करना ही अभ्यास है एवं संसारकी सभी प्रकारकी उपलब्धियों और संग्रहों (धन संग्रह, प्रतिष्ठा संग्रह और परिजन संग्रह) में असारताके दर्शन (भाव) करना—इन दो को अपनानेसे कुछ समयमें ही मन एकाग्र होकर मूल तत्त्व श्रीकृष्णमें लग जाता है। एक बात बता दें—आपने जिस व्यक्ति, वस्तु या स्थानको महत्त्व दे रखा है, मन सदैव उसको प्राप्त करनेके लिए ललचाता रहता है तथा इन्द्रियाँ उसे प्राप्त करनेके लिए सक्रिय बनी रहती हैं। आँख और कानके द्वारा संसारके विषय बहुत शीघ्र ही मनमें प्रवेश करते हैं। यदि इन दोनोंको मनसे बंद कर जीभको नाम जपमें लगा दिया जाय, तो मन बहुत शीघ्र एकान्त हो जाता है। मेरा तात्पर्य आँख और कानसे मात्र भौतिक विषयोंके चिंतनसे ही है। केवल विषय विग्रह श्रीकृष्णको आँख और कानसे अपने चित्तमें घुसाया जाय और रसनासे नाम जप करें—यही प्रेय और श्रेयः है।

वैद्योंका ऐसा कथन है कि चित्त (पाण्डु या पीलिया) रोगमें रोगीको मिश्री कड़वी लगती है क्योंकि शरीरमें आंतरिक उष्णता अधिक बढ़ जानेसे जीवका स्वाद कड़वा हो जाता है। ऐसी स्थितिमें उस रोगीको

सुयोग्य वैद्य मिश्री चूसनेका परामर्श देता है; परन्तु पित्त रोगीको मिश्री कड़वी लगती है। वह मिश्रीको फेंककर उन्हीं खट्टी और तिक्त वस्तुओंका सेवन करना चाहता है, जिससे पित्त रोग निरंतर बढ़ता जाता है। यदि पीलियाका रोगी दृढ़ताके साथ मिश्रीको चूसता रहे, तो उसके पीलिया रोगका शमन हो जाता है तथा मिश्रीके वास्तविक रसमें आसक्ति हो जाती है।

पीलिया रोगियोंकी भाँति ही जीव अनन्त जन्मोंसे विषयोंके रसका सेवन करते करते माया आकर्षण रोगसे ग्रस्त हो गया है जिससे उसे भव (पीलिया) रोग हो गया है। इस भव रोगसे मुक्तिका रास्ता सिद्ध गुरू-वैष्णवजन कृष्णनाम रसायनको ही बताते हैं। परन्तु मायाके विविध आकर्षण जीवको कृष्ण नाममें अरुचि उत्पन्न कराते हैं तथा मन कृष्ण नामको छोड़कर बलात् विषयोंकी ओर दौड़ता है। यदि साधक दृढ़ताके साथ कृष्ण नामरूपी मिश्रीका सेवन अर्थात् निरंतर कृष्ण नामका जप करता हुआ मायाके आकर्षणरूपी मिर्च-मसालोंसे वैराग्य धारण कर ले तो कुछ समयमें ही मन एकाग्र होकर कृष्ण नामसे चिपक जाता है। फिर उसे दूसरे आकर्षण नीरस लगने लगते हैं। इसलिए प्रत्येक साधकको गीताके उक्त श्लोकका परामर्श मानकर निरंतर कृष्णनामका जप करना चाहिए। यही एकमात्र भवरोग निवारणका शुद्ध रसायन है जिसमें कुछ मिलावट नहीं है। इसी नाम रसायनका पानकर करोड़ों साधक सिद्ध देहको प्राप्तकर कृष्ण प्रेम अनुरागी हुए हैं।

संसारकी समस्त प्रणालियोंका अध्ययन—आगमन और निगमन पद्धतियोंसे होता है। आगमन अर्थात् विशेषसे सामान्यकी ओर चलना अर्थात् एक व्यक्तिके साथ ऐसा घटित हुआ है तो दूसरेके साथ भी ऐसा ही होगा। यानी रमेशको सिगरेट पीनेसे केंसर हुआ है तो सुरेशको भी होगा—परन्तु ऐसा सर्वथा संभव नहीं है। निगमन पद्धतिमें विचार सामान्यसे व्यक्ति विशेषकी ओर चलता है अर्थात् सभी लोगोंका देह नाशवान है—यह सिद्धान्त बहुत अनुभवोंपर आधारित है। उसी प्रकार करोड़ों लोगोंने कृष्ण नाम जपकर आत्मस्वरूपको उपलब्धकर कृष्ण प्रेम पाया है, इसलिए गोपीदासको भी कृष्ण नाम जप करनेसे कृष्ण प्रेम प्राप्त होगा—यह सर्वथा सत्य एवं निगमन प्रणालीमें खरा उतरता है। इसलिए साधकोंको चाहिए कि शुद्ध चित्तसे गुरु-वैष्णवोंके चरणोंमें पदाश्रय ग्रहणकर कृष्ण नामका जप बिना किसी तर्क, वितर्क, कुतर्कके इस विश्वासके साथ सतर्क होकर प्रारम्भ कर देना चाहिए कि श्रीकृष्ण कृपामय हैं, उन्होंने करोड़ों साधकोंको अपना प्रेमदान किया है, वे एक दिन मुझपर भी कृपा कर अपना प्रेम प्रदान करेंगे। जबसे यह ज्ञान हो जाय कि कृष्ण भजन ही सार है तब ही से कृष्ण नाम जप प्रारंभ कर देना चाहिए—वृद्धावस्थाकी प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। करोड़ों मानव योनि प्राप्त जीव किशोर अवस्थासे पहले ही काल कवलित हो जाते हैं। उनका मानव जन्म व्यर्थ चला जाता है। अनेक लोगोंकी भ्रांति है कि भजन तो वृद्धावस्थाका कृत्य है, अभी क्या जल्दी है। किन्तु आयु तो कर्मके अधीन है। अतएव जबसे ज्ञान हो जाय तबसे ही भजन करना जीवका कर्तव्य है।

अब अपने मूल विषयका चिंतन करें। वाचिक जपमें कृष्ण नामका जप इतनी जोरसे किया जाता है कि वायु मण्डलमें तरंगित स्वर अन्य प्राणियोंके कानों तक पहुँच सके। इस जपसे साधकका तो कल्याण होगा ही, जिस जिस प्राणीके कानमें कृष्ण नामकी ध्वनि पड़ेगी उनका भी हित साधित होगा। कृष्ण नामका यह स्वभाव है कि इसका जप एवं श्रवण अवहेलापूर्वक करनेपर भी यह जीवका उद्धार करनेमें समर्थ है। वट वृक्षके बीजकी भांति सूक्ष्म होने पर भी उसके अंदर विशाल वृक्ष छुपा रहता

है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके प्राणियोंका उद्धार एक कृष्ण नाम ही करनेमें समर्थ है। अतएव कृष्ण नामका कीर्तन, संकीर्त्तन तथा वाचिक जप प्रत्येक मनुष्य देहधारीको करना चाहिए।

उपाशुं जपमें साधकका नाम जप स्वर इस मंद गतिसे चलता है कि मात्र अधर ही हिलते हुए दीख पड़ते हैं तथा नाम की ध्वनि अधिकतम साधकके कानों तक ही पहुँचती है। दश फुटकी दूरी पर बैठे हुए अन्य व्यक्तिको भी नाम ध्वनि सुनायी नहीं पड़ती है। इस प्रकारका जप मनको एकाग्र करनेकी विधिका अंग है। इस जपमें साधकको नाम ध्वनि पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। कुछ काल तक ऐसा करते रहनेपर मन एकाग्र होनेपर साधकको अपने स्वरूप तथा नामके स्वरूपकी हल्की सी प्रतीति होने लगती है परन्तु धैर्यके साथ नाम जप करना चाहिए। कीर्तनमें भगवानके नामका उच्चारण स्पष्ट तथा शुद्धरूपमें होता है जबकि मानसिक जपमें नामका उच्चारण खास प्रक्रियाके साथ मनमें ही तरंगित होता रहता है तथा साधकका शरीर बोध समाप्त होकर भगवान् कृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलामें स्थित हो जाता है।

मानसिक नाम जपमें श्वास तथा ध्वनिरहित आंतरिक उच्चारणकी गति जितनी ही कम तथा लययुक्त होगी मनकी तल्लीनता उतनी ही अधिक होगी। शनैः शनैः साधकका जो नित्य स्वरूप या भाव होता होता है उसकी जागृति होने लगती है। साधकका निश्चय ही दास्य, सख्य, वात्सल्य या मधुर रसमेंसे कोई एक स्थायी भाव होता है। साधकको इस भावको जागृत करनेकी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। भावके पूर्व अवस्थामें ही उसे वरण करनेसे कृत्रिमताकी सम्भावना अधिक रहती है तथा पतनकी सम्भावनासे मना नहीं किया जा सकता है।

उक्त स्थितिको नाम समाधि या भाव समाधि कहा जाता है। इस भाव समाधिकी योगियोंके योग समाधिसे तुलना नहीं की जा सकती है। योगी समाधि अवस्थामें निर्विशेष ब्रह्मके ज्योति स्वरूपकी अनुभूति करता है। जबकि कृष्ण नाम साधक सविशेष ब्रह्म कृष्णके स्वरूप व उनके गुण, लीला और धामकी अनुभूति करता है। वह अपने स्वरूप व भावके अनुसार स्वयंको भी उस लीला विशेषमें अनुभव करता है। गौड़ीय सम्पद्राय या रूपानुग भजन पद्धतिमें साधकका भाव सरल एवं सहज रहता है। उसमें निर्विशेष ब्रह्मवादियोंकी तरह भगवानमें मिल जाने या सारूप्य, सालोक्य आदिकी भावना नहीं रहती है। जीव परब्रह्मका सजातीय तत्त्व है, वह कभी ब्रह्म नहीं हो सकता।

जप साधनामें साधकके नित्यस्वरूपको सिद्धि होती है तथा साधक निरंतर भगवानके प्रेम रसकी अनुभूति करता है। मानसिक जपमें उठने वाली तरंगें रेडियो तथा टेलीविजनकी तरंगोंसे भी कहीं अधिक सूक्ष्म होती हैं।

वाचिक जप हो, उपांशु जप हो अथवा मानसिक जप हो साधकको सत्संग अवश्य करना चाहिए। साधु संगके (दीक्षा गुरुके साथ–साथ) रूपमें शिक्षा गुरुका नित्य स्पर्श होता रहना चाहिए क्योंकि सत्संगके अभावमें साधक धर्म और आध्यात्मकी घाटियोंमें भटक सकता है। साधक जिस मार्गको अपनाकर भजन करना चाहता है, उस मार्गसे सम्बन्धित संत पुरुषोंके संगसे ही हृदयमें शुद्ध भक्तिका उदय होता है।

बिनु सत्संग विवेक न होई
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई
(श्रीरामचरितमानस)

कहनेका तात्पर्य है कि भक्ति परक विवेक जीवके हृदयमें बिना सत्संगके उदय नहीं होता है। भगवान कृष्ण, श्रीमती राधारानी, सद्गुरु, सिद्ध

वैष्णवजनोंकी कृपासे ही जीवको शुद्ध भाव सम्पन्न साधु-गुरु-वैष्णवोंका संग प्राप्त होता है। सही तो यह है कि जीवका शुभ उदय होने पर ही वह कृष्ण भक्तिकी ओर आकर्षित होता है। इसलिए साधकको सदैव भगवानसे प्रार्थना करनी चाहिए कि उसे शुद्ध भाव सम्पन्न सद्गुरु तथा शुद्ध वैष्णवजनोंका पदाश्रय प्राप्त हो, उनका नित्य सत्संग प्राप्त हो। सत्संग गंगामें ही हृदय शुद्ध होता है। उसे भजन करनेकी प्रेरणा मिलती है तथा मायाका आकर्षण कम होकर शुद्ध भजनका मार्ग प्रशस्त होता है।

जिस प्रकार राजनीति तथा समाज सुधारक संस्थाओंमें भ्रष्ट लोगोंका प्राचुर्य हो गया है उसी प्रकार आजकल धार्मिक जगतमें भी इतने धूर्त, कपटी, ढोंगियोंका प्रवेश हो गया है कि यह पहचान पाना कठिन है कि हम शुद्ध सत्संग कर रहे हैं या धूर्तोंके चक्करमें पड़कर निरंतर भगवानसे दूर हो रहे हैं। अतएव परम सुहृद भक्ति रस तत्वज्ञ वैष्णव जनोंके संगके अभावमें सद्ग्रथोंका पठन-पाठन व उनके अनुसार आचरण एवं साधन भजन करना ही आजके उच्छृंखल युगमें अधिक उपयुक्त है। इसपर भी शुद्ध चरित्र संतोंका अभाव नहीं है। वे भगवान श्रीकृष्णकी कृपासे अवश्य मिलते हैं, निरंतर प्रार्थना तथा नाम जप करते रहनेसे शुद्ध संतोंका सत्संग अवश्य प्राप्त होता है।

(क्रमशः)

✪✪✪

गीताकी वाणी

—श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें कर्म, ज्ञान, योग और भक्तिके विषयोंका वर्णन किया है। किन्तु उनमेंसे प्रत्येक ही उनका समर्थित साधन नहीं है। केवल भक्ति ही गीताका चरम पतिपाद्य विषय है। जहाँ कर्म-ज्ञानादिका उल्लेख है—वहाँ तुलनामूलक विचार दिखलाकर भक्तिका उत्कर्ष प्रदर्शनके लिए है; प्रत्येक साधनका मुख्य तात्पर्य भक्तिमें पर्यवसित है। नीचे एक तालिका दी जा रही है। इसकी निरपेक्ष आलोचना करनेसे इस विषयमे स्थिर निश्चय किया जा सकता है।

(१) कर्म—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः।।८।।
(३/८)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।
(२/४७-४८)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।
(२/५०-५१)

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।
(३/७,९)

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।
(३/१७,२५,३०)

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।
(४/१६–१९)

(२) ज्ञान

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।
(२/४९)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।
(२/४०)

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।
(२/५६–५७)

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।
(२/६०–६१)

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।
तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।
(२/६७–६९)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।
(४/१९)

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।
(४/३३–३४)

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।
(७/१९)

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।। ८।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।। ९।।
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।१०।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।११।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।१२।।
(१३/८–१२)

(३) योग—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः।।१४।।
(६/१, ३–४, ७–८, १०–१४)

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते।।३१।।
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।
(६/३०–३१, ४६–४७)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।
(८/१४)

उपर्युक्त श्लोकोंकी आलोचना करनेसे जान पड़ता है कि भगवत्–कर्म करनेके लिए ही कर्मका मुख्य उपदेश दिया गया है; ज्ञानवान् होकर श्रीगवान्का आश्रय करने वाला ही वास्तविक ज्ञानी है; और समस्त योगियोंमें जो श्रद्धालु होकर भगवान्का भजन करते हैं, वे ही श्रेष्ठ योगी हैं। अतएव कर्म, ज्ञान और योग—ये तीन साधनाङ्ग भी भक्तिमें ही पर्यवसित हैं। भक्तिके बिना उनकी क्रिया निष्फल है। यहाँ स्वयं भगवान् श्रीचैतन्यदेव संक्षेपमें गीताकी चरम मीमांसा करते हुए कह रहे हैं—

पूर्व आज्ञा,—वेद–धर्म, कर्म, योग, ज्ञान।
सब साधि अवशेष–आज्ञा—बलवान्।।
(चैतन्यचरितामृत मध्य 22/५९)

अर्थात गीताके अनेक स्थलोंमें गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम, गुह्याद्गुह्यतर प्रभृति ज्ञानोंका उपदेश दिया गया है। किन्तु अठारहवें अध्यायका चरम उपदेश है—

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।
(१८/६४–६६)

यहाँ कर्म, ज्ञान, योग और विभिन्न देव–देवियों–की पूजा आदि सभी रद्द हो गये हैं। केवल भक्ति ही मुख्य अंग है। भक्तिका आश्रय ग्रहण करनेसे उसका नाश नही होता—यह भी "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" (९–३१) श्लोकमें परिस्फुट है। और गीताके अंतमें गीताशास्त्रमें किसका अधिकार है—इस विषयमें कह रहे हैं—

इदं ते नातपस्काय <u>नाभक्ताय</u> कदाचन।
न चाशुश्रुषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।
(गीता १८/६७)

अर्थात् "अभक्तको कभी नहीं कहना चाहिए" कहनेका तात्पर्य यह है कि भक्तके सिवा गीता–पाठका अधिकारी कोई नहीं है। अभक्त गीताका पाठ कर विभिन्न धारणाओंके वशवर्ती होकर इसका वास्तविक उद्देश्य धारणा करनेमें असमर्थ होता है। श्रीचैतन्यदेवने श्रीरंगक्षेत्रमें ठहरनेके समय गीता पाठ करनेवाले किसी विप्रको गीता अध्ययन करते देखकर पूछा था—

महाप्रभु पुछिल तारे, शुन, महाशय।

कौन अर्थ जानि तोमार एत सुख हय।।
विप्र कहे मूर्ख आमि, शब्दार्थ ना जानि।
शुद्धाशुद्ध गीता पड़ि, गुरु–आज्ञा मानि।।
अर्जुनेर रथे कृष्ण हय रज्जुधर।
वसियाछेन ताते,—येन श्यामलसुन्दर।।
अर्जुनेरे कहिलेन हित उपदेश ।
ताँरे देखि, हय मोर आन्नद–आवेश।।
यावत् पड़ों, तावत् पाऊँ तार दरशन।
एई लागि' गीता–पाठ न छोड़े मोर मन।।
प्रभु कहे,—गीता–पाठे तोमारई अधिकार ।
तुमिसे जानह एई गीतार अर्थ सार।।
(चैतन्यचरितामृत मध्य ९/९७–१०२)

अर्थात् महाप्रभुने उस गीतापाठकसे पूछा कि गीता पढ़नेमें उसे इतना आनन्द क्यों होता है? उसके हृदयमें कौनसा अपूर्व अर्थ उदित होता है ? विप्रने उत्तर दिया कि वह एक मुर्ख व्यक्ति है। उसके लिए गीताके श्लोकोंका अर्थ जानना तो दूरकी बात है, वह साधारण शब्दोंका भी अर्थ नहीं जानता। वह केवल अपने गुरुकी आज्ञा मानकर शुद्धाशुद्ध गीताका पाठ करता है। गीता पाठ करनेके समय उसे मालूम होता है कि मानो श्यामसुन्दर कृष्ण अर्जुनके रथपर सारथीके रूपमें बैठे हैं और अर्जुनको हितोपदेश दे रहे हैं—यह देखकर उसे अतिशय आनन्द होता है। जब तक वह गीताका पाठ करता है तब तक वह उनका दर्शन पाता है। इसलिये उसका मन गीता–पाठ छोड़ना नहीं चाहता। इसे सुनकर महाप्रभुने सन्तुष्ट होकर ब्राह्मणकी प्रशंसा करते हुए कहा कि गीता–पाठमें उसीका अधिकार है और उसीने सम्पूर्ण गीताका सारार्थ समझा है। अतएव गीताका पाठ कर भक्तिके प्रभावसे भगवान्का दर्शन होनेसे ही गीता–पाठ करनेकी सार्थकता सिद्ध होती है।

✪✪✪

विदेश प्रचार प्रसंग

अपनी पाँचवी विदेश यात्राके समय परमाराध्यम श्रीभक्तिवेदान्त नारायण महाराज हालैंण्ड एवं फ्राँसके कई प्रमुख शहरोंमें प्रचारकर अब इंग्लैण्डमें पहुँचे हैं। २२ अप्रैल १९९८ को नई दिल्लीसे आरम्भकर इस अभियानके प्रथम चरणमें श्रीलमहाराजजीने हालैण्डके विश्वविख्यात शहर एमस्टरडममें पदार्पण किया। यहाँ श्रील महाराजजीने एक प्रमुख विद्यापीठ 'प्लाटो स्कूल आँफ फिलासफीमें' बहुत सुन्दर एवं तत्त्वपूर्ण भाषण दिया। प्रवचनमें श्रील महाराजजीने मनुष्य जीवनकी सार्थकता तथा आत्मोन्नतिके लिए सनातन धर्मके पालन पर विशेष बल दिया। प्राचीन भारतीय संस्कृति विशेषकर दैव वर्णाश्रम धर्मके विभिन्न पहलुओंको हमारे दैनिक जीवनमें किस प्रकार पालन करना चाहिए, इस विषयका श्रील महाराजने कुछ रोचक एवं शिक्षाप्रद कथाओंके द्वारा साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया। विद्यापीठके शिक्षकगण एवं छात्रगण प्रवचनसे बहुत ही प्रभावित हुए एवं उन्होंने श्रीलमहाराजीसे विभिन्न प्रकारके प्रश्न भी किए। दो वर्ष पूर्व १९९६ की विदेशयात्राके समय भी श्रीलमहाराजजीने यहाँ प्रवचन दिया था। तबसे इस विद्यापीठके शिक्षकगण श्रीलमहाराजजीसे इतने प्रभावित हुए है कि उन्होंने श्रीलमहाराजीका चित्र ही अपने सभाकक्षमें रख लिया था। सभीने पुनः श्रीलमहाराजजीसे विनम्र अनुरोध किया कि वे इसी प्रकार भविष्यमें भी अनुग्रह पूर्वक इस विद्यापीठमें आकर भारतीय दर्शनके सम्बन्धमें प्रवचन करें। इसके पश्चात् श्रीलमहाराजने हालैण्डके कुछ और नगरों जैसे राटरडैम, राईजवाईक, बोडाग्रावन,

केकडावन और विशेषकर 'द हेग', (The Heg) जहाँ कि विश्व अदालत भी है, में भक्तों एवं जनसाधारणको गीता एवं श्रीमद्भागवतमें उक्त सनातन धर्मके विषयमें बताया। इस प्रकार हालैण्ड देशमें पाँच दिनों तक तुमुल प्रचारके पश्चात श्रीलमहाराजने विदेश प्रचारके दूसरे चरणमें फ्राँसमें पदार्पण किया। फ्राँस देशमें पेरिस एवं दक्षिणी फ्राँसके टूलुज, विलासावारी, मोलेनडीर आदि प्रमुख नगरोंमें श्रीलमहाराजने सात दिनों तक सनातन धर्म विशेषकर श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा आचरित एवं प्रचारित विमल प्रेम धर्मका विपुल रूपमें प्रचार किया। यहाँ भी श्रीलमहाराजजीके प्रवचनोंको श्रवण करनेके लिए इटली, स्पेन स्लोवेनिया, आयरलैण्ड, ब्राजील-सीरिया आस्ट्रिया, बेल्जियम हालैण्ड, इंग्लैण्ड, अमेरिका एवं आस्ट्रेलिया आदि देशोंसे प्रायः ३०० भक्तजन एकत्रित हुए थे। सभीने श्रीलमहाराजजीके शुभ आगमनको एक भव्य उत्सवके रूपमें मनाया। सभी भक्त श्रीलमहाराजके तत्त्वज्ञान और भक्तिसे परिपूर्ण एवं हृदयस्पर्शी प्रवचनोंको श्रवण कर अपने भाग्यकी सराहना करने लगे। विदेशोंमें प्रचार करने आनेके लिए सभीने श्रीलमहाराजजीको विशेष धन्यवाद दिया एवं श्रीलमहाराजीकी भूरी-भूरी प्रशंसा की। इटली और स्लोवेनियाके भक्तोंने तो श्रीलमहाराजजीको इसी समय उनके देशोंमें आनेके लिए विशेष रूपमें आमन्त्रित किया, किन्तु समय अभावके कारण इस वर्ष वहाँ जाना समयपर नहीं हो सका। श्रीलमहाराजजी जहाँ भी प्रचारके लिए जाते हैं, उनके साथमें सब समय २५-३० भक्तोंका समूह साथमें चलता है। प्रवचनोंकी इस सुन्दर शृंखलामेंसे फ्राँसमें दिए एक प्रवचनका संक्षिप्त अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

श्रीचैतन्य चरितामृतमें ऐसा वर्णन किया गया है कि गोदावरीके तट पर श्रीचैतन्य महाप्रभु और राम रामानन्द प्रभुके बीचमें साध्य और साधन तत्त्वके विषयमें एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वार्तालाप हुआ था। वार्तालापके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुजीके पूछने पर राय रामानन्द प्रभुने साध्य तत्त्वका निरूपण करते हुए "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" श्लोकको सर्वसाध्यसार बतलाया। इस पर श्रीमहाप्रभुजीने कहा—यह बाह्य है, आगे कहो। यहाँ पर एक प्रश्न उठता है, कि क्यों महाप्रभुजीने इसे बाहरी बतलाया? विचार करने पर यह पता चलता है कि संसारके लोग साधरण रूपसे यह धारणा रखते हैं कि अर्जुनने भगवान श्रीकृष्णकी शरण इसलिए ग्रहण की थी क्योंकि ऐसा करनेसे अर्जुन युद्धमें पितामह और गुरुजनों आदिकी हत्यासे होनेवाले पापोंसे मुक्त हो जाएगा। केवल सांसारिक भयादिसे रक्षा प्राप्त करनेके लिए ही भगवानकी शरण ली गई है। इसलिए महाप्रभुजीने कहा कि इस श्लोकमें कहीं भी आत्मधर्मकी बात नहीं की गई है। अन्यत्र गीतामें ही श्रीकृष्णने कहा है—"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी माम् नमस्कुरु"। इस श्लोकमें गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम और सर्वगुह्यतम भावोंके रहस्यमय तत्त्वोंको प्रकाशित किया गया है। गुह्य क्या है? आत्म तथा अनात्म तत्त्वका विवेक ज्ञान ही गुह्य ज्ञान है। अर्थात् मैं शरीर नहीं हूँ। मैं सच्चिदानन्दमय श्रीकृष्णका विभिन्नांश तत्त्व हूँ। अतएव नित्य दास हूँ। इस आत्म तत्त्वके ज्ञान द्वारा परमात्माका ध्यान करनेसे वह ज्ञान "गुह्यतर ज्ञान" होता है। इस प्रकार पहले गुह्य ब्रह्म-तत्त्व (अर्थात् आत्म अनात्म तत्त्वका विवेक ज्ञान) निरूपण किया। परमात्माका ज्ञान ब्रह्मसे श्रेष्ठ तत्त्व है। सभी जीवोंके हृदयमें साक्षीके रूपमें तथा अंगुष्ठ परिमाणमें परमात्मा स्थित हैं। परमात्मामें आकार एवं ज्ञान रूप भाव दानों ही विद्यमान है। ब्रह्ममें ज्ञान एवं भाव दानों ही नहीं हैं। परमात्मामें कुछ अप्राकृत गुण विद्यमान हैं। जैसे "शान्ताकारं भुजगशयनं" योगी लोग इनका ध्यान कर सकते हैं। इसीलिए आत्म-तत्त्व तथा परमात्माका ज्ञान मिलकर गुह्यतर ज्ञान होता है। इससे श्रेष्ठ है—भगवत्-तत्त्व। कृष्ण स्वयं भगवान हैं। इन्हींका

भजन करना और सेवा करना गुह्यतम ज्ञान है। इससे भी अधिक गुह्यतम ज्ञान है—ब्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरकी सेवा करना, विशेषकर गोपियोंके आनुगत्यमें। यह 'मन्मना भव' का उच्चतम उदाहरण है। यदि कोई ऐसा न कर पाये, तब उसके लिए 'मद्भक्तो' कहा है। मेरे भक्त बनकर नवधा भक्तिका आचरण करो। तब अर्जुनने इसके लिए भी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि विशेषतः सेवामें बहुत अन्तर है। अर्चनमें पूर्ण रूपसे पारंगत होनेके पश्चात् ही किसी उन्नत भक्तकी कृपासे मानसी सेवामें अधिकार प्राप्त होता है। वह सेवा सिद्ध शरीरके द्वारा ही सम्भव है। यह भी कर पानेमें असमर्थ हो तब 'नमस्कुरु'। अर्थात् मुझे प्रणाम करो। इस प्रकार एक बार भी मुझे प्रणाम करनेसे तुम जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिए मुक्त हो जाओगे। इस प्रकार अपने अधिकारानुसार हमें ये

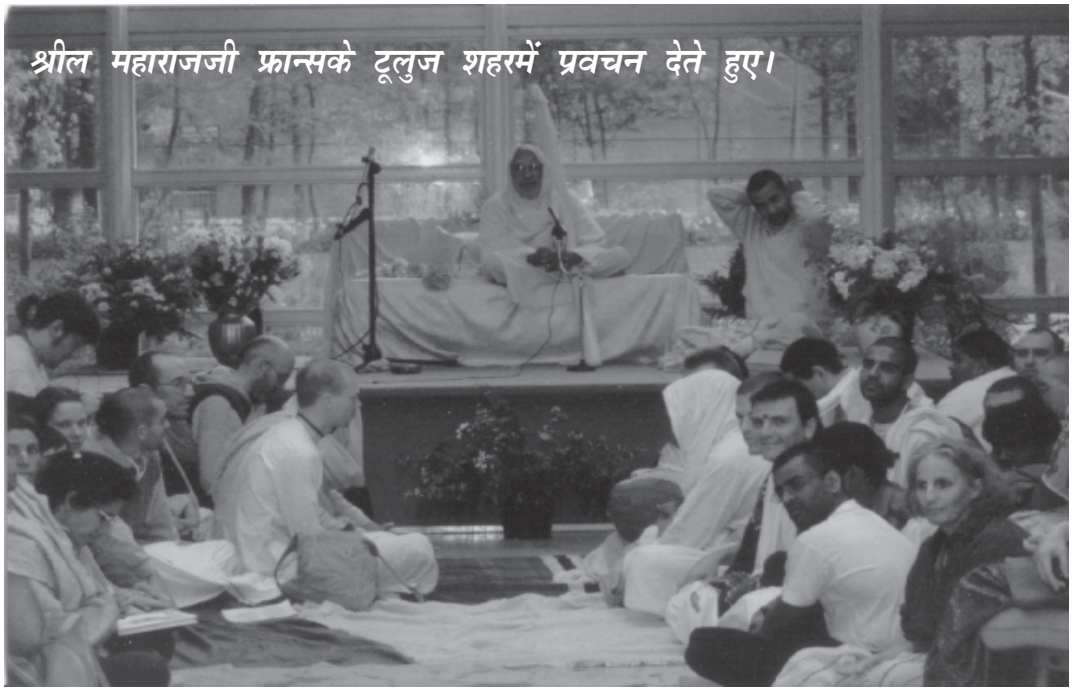

श्रील महाराजजी फ्रान्सके टूलुज शहरमें प्रवचन देते हुए।

इस रण क्षेत्रमें मेरे लिए ऐसा कर पाना असम्भव है। पुनः श्रीकृष्णने कहा 'मद्याजि' अर्थात् मेरा अर्चन इत्यादि करो। यदि तुम 'मन' नहीं दे सकते विशेषकर हृदय नहीं दे सकते तब बाह्यरूपसे दीप आदि देकर फूलोंकी माला गूंथकर मेरे लिए अर्पण करो। यह आसान है, क्योंकि हम रघुनाथ दास गोस्वामीकी तरह हृदयसे तो सेवा कर नहीं सकते। यहाँ यह भलीभाँति समझना चाहिए कि अर्चन और मानसी सब प्रयास करने चाहिए।

इसके अतिरिक्त एक और बात विचारणीय है 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' श्लोकमें किस धर्मको लक्ष्य किया गया है? प्रथम अर्थमें संसार धर्मकी बात की गई है। इसके पश्चात् मुक्तिकी पिपासाको भी त्याग करनेके लिए कहा है। इसके पश्चात् लक्ष्मीपति नारायणकी सेवा तथा द्वारकाधीशकी स्वकीया भावसे सेवाको भी अतिक्रमण कर ब्रजमें श्यामसुन्दर

गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णकी दास्य रससे सेवाको ही श्रेष्ठ बतलाया। यह सर्वसाध्यसार होने पर भी श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने कहा—आगे कह आर। तब राय रामानन्द प्रभुने सख्य रसकी सेवाका वर्णन किया। किन्तु इससे भी श्रीकृष्ण पूरी तरहसे वशीभूत नहीं होते। इसके पश्चात् रायरामानन्द प्रभुने वात्सल्य रसकी सेवाका वर्णन किया। इस पर भी श्रीमहाप्रभुजीने कहा—आगे कह आर। इसके पश्चात् रायरामानन्द प्रभुने गोपियोंके भावोंका वर्णन किया। गोपियोंके भावोंको श्रवण कर महाप्रभुजी सन्तुष्ट तो हुए किन्तु पुनः पूछा इससे भी ऊपर और कुछ हो तो कहो। इस पर रायरामानन्द प्रभुने कहा—आजतक किसीने भी ऐसा प्रश्न नहीं किया केवल आपने ही ऐसा प्रश्न किया है और रायरामानन्द प्रभुने श्रीमती राधिकाके सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक गुह्यतम भावोंका वर्णन किया। इसी भावको आस्वादन करनेके लिए तथा इसका एक कण जगतमें वितरण करनेके लिए श्रीचैतन्य महाप्रभुजी इस जगतीतलमें आविर्भूत हुए थे। यहाँ पर यदि 'यदा यदा ही धर्मस्य' श्लोककी चर्चा की जाय तो इस श्लोकमें किस धर्मकी स्थापनाके लिए श्रीभगवान अवतरित हुए। प्रथम अर्थमें युगधर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म। वर्णाश्रम धर्मका प्रथम सोपान है—आत्म और अनात्म तत्त्वका विवेक (ब्रह्मनाम)। इस आत्म विवेकके बिना माता-पिता, देश देशवासियों आदिकी सेवा कुछ मूल्य नहीं रखती। सम्पूर्ण महाभारतका युद्ध ही इसीलिए हुआ था कि आत्म धर्मकी पुनः स्थापना की जा सके। पुनः यदि विचार करें कि आत्मधर्म क्या है, तब रायरामानन्द संवादके अन्तर्गत श्रीमती राधिकाकी प्रेमसेवा ही उच्चतम धर्मका निर्देशक है।

एक और विचार हम लोगोंको समझना चाहिए। वह यह कि वसुदेव और नन्दबाबाने कृष्णको साधारण लौकिक रीतिसे जन्म नहीं दिया था। वसुदेवने देवकीके कानमें मंत्र दिया था। मंत्र और कृष्णमें कोई अंतर नहीं है। बीजके रूपमें मंत्र देवकीके गर्भमें प्रवेश कर गया। इसी प्रकार नन्दबाबाने भी यशोदासे कहा आज एक बहुत ही सुन्दर बालक मेरे हृदयमें प्रकट हुआ और उसे मैने तुमको दे दिया और तुमने उस बालकको अपने हृदयमें धारण कर लिया। इधर श्रीमती यशोदाने भी ऐसा ही अनुभव किया। इस प्रकार कृष्ण का जन्म साधारण बालकके जैसे नहीं हुआ था। गीतामें भी कहा गया है 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' अर्थात् श्रीकृष्णका

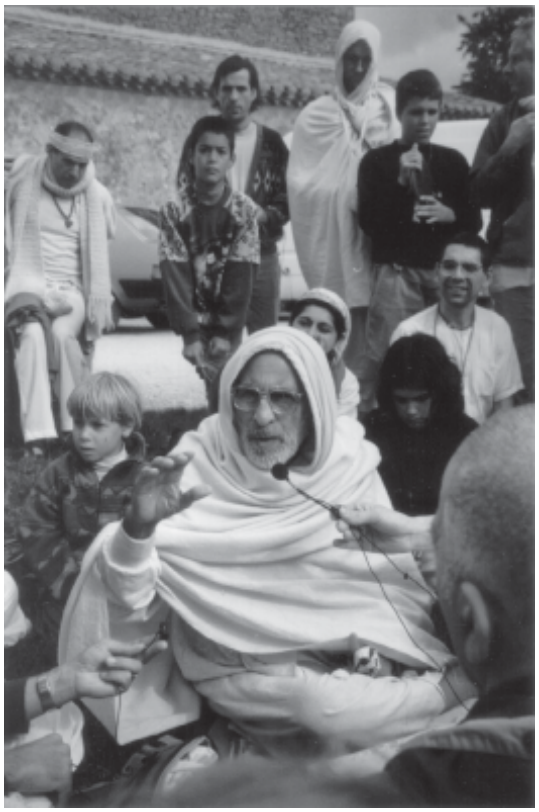

जन्म और कर्म (लीला) सभी अलौकिक एवं अप्राकृत हैं। इसी प्रकार भक्तिको भी हमें किसी साधनके द्वारा जन्म नहीं दे सकते। भक्ति देवी स्वयं कृपा कर हृदयमें आविर्भूत होती है। भक्ति स्वरूपशक्तिकी एक वृत्ति है। विशेषकर ह्लादिनी

और सम्वितका सार। इसलिए भक्ति स्वरूपशक्तिसे अभिन्न है। 'स्वभक्ति श्रियम्' अर्थात कृष्णकी अपनी अन्तरंङ्गा शक्ति श्रीमती राधिका ही भक्ति स्वरूपिणी हैं। इन्हींकी ह्लादिनी और सम्वितका सार तत्त्व प्रेम कहलाता हैं। श्रियम् अर्थात् श्रीमती राधिकाके उन्नत उज्वल भावकी शोभा—'श्री' (रूपमञ्जरी आदिके भावों) का वितरण करनेके लिए ही कृष्णस्वरूप महाप्रभुका आविर्भाव हुआ था। भक्तिदेवी तभी हृदयमें आएगी जब वह देखेगी कि हृदय पूर्णतः शुद्ध हो चुका है। मलिन हृदयमें भक्ति देवी प्रवेश नहीं करती। कृष्णने सबसे पहले पूतनाका उद्धार किया। 'पूत+ना' अर्थात् वे सब वस्तुएँ जो पवित्र नहीं हैं। प्रथमावस्थामें साधकको बड़ी सावधानीसे इन सबसे बचना चाहिए। कृष्णने पूतनाके बाह्य शरीरको हटाकर उसके अन्तःकरणको शुद्ध कर दिया और माता–जैसी गति दे दी। यहाँ इस बातको हमें भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि कृष्णने पूतनाके समस्त अनर्थोंको दूर कर दिया था। कृष्ण सर्वसमर्थ हैं। उन्हें कोई भी दोष व्याप्त नहीं कर सकता। कई लोग महाप्रभुजीके लिए भी ऐसा ही समझते हैं। जगाई–माधाईका उद्धारकर उनके पापोंको स्वयं महाप्रभुजीने ग्रहण कर लिया था। इसके प्रमाणस्वरूप वे श्रीचैतन्यभागवतको उद्धृत करते हैं। पर हमें यह समझना चाहिए कि प्रारम्भिक अवस्थाके साधकोंमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिए ही श्रीचैतन्य महाप्रभुने ऐसा भाव दिखलाया था। कृष्णनामके आभासमात्रसे ही समस्त पापराशि सम्पूर्ण रूपसे जल कर भस्म हो जाती है, तब स्वयं कृष्ण अथवा महाप्रभुजीकी महिमा तो अपार है उन्हें दूसरेके पापोंका फल क्यों भोगना पड़ेगा?

✪✪✪

वैष्णव व्रत तालिका

५ आषाढ़	२० जून	शनिवार	योगिनी एकादशी व्रत, अगले दिन ९–२३ से पहले पारण।
९ आषाढ़	२४ जून	बुधवार	अमावस्या, श्रीगदाधर पण्डित गोस्वामी एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीका तिरोभाव।
१० आषाढ़	२५ जून	बृहस्पति.	श्रीगुण्डिचा मन्दिर मार्जन।
११ आषाढ़	२६ जून	शुक्रवार	श्रीजगन्नाथजीकी रथयात्रा, श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामीजीका तिरोभाव।
१५ आषाढ़	३० जून	मंगलवार	हेरा पञ्चमी।
१९ आषाढ़	४ जुलाई	शनिवार	श्रीजगन्नाथजीकी पुनः रथयात्रा।
२० आषाढ़	५ जुलाई	रविवार	शयन एकादशी व्रत, अगले दिन ९–२७ से पहले पारण।
२४ आषाढ़	९ जुलाई	गुरुवार	श्रीगुरुपूर्णिमा, श्रीव्यासपूजा, श्रीसनातन गोस्वामी तिरोभाव, पौर्णमासीवालोंके लिए चातुर्मास्य व्रत प्रारम्भ, श्रावणमें शाक (हरा पत्ता), भादोमें दही, आश्विनमें (कुँवार) दूध, कार्तिकमें मांस जातीय वस्तुओं एवं सरसों तेलका वर्जन।

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४२ } श्रीगौराब्द ५१२
विक्रम संवत् २०५५–५६ श्रावण मास, सन् १९९८, १० जुलाई — ८ अगस्त { संख्या ५

श्रीश्रीजगन्मोहनाष्टकम्

(श्रील–विश्वनाथ–चक्रवर्त्ति–ठक्कुर–विचितम्)

गुंजावली विष्टित–चित्रपुष्प–

चूड़ा–वलन्–मञ्जुज–नव्य–पिच्छम्।
गोरोचना–चारु–तमालपत्रं
वन्दे
जगन्मोहनमिष्टदेवम्।।१।।

जिनके मस्तकपर गुञ्जामालासे परिवेष्टित चित्र–विचित्र पुष्पोंके बने हुए मुकुटके बीचों–बीच सुन्दर

भ्रू–वल्गनोन्मादित–गोपनारी–
कटाक्ष–बाणावलि–विद्धनेत्रम्।
नासाग्र राजन्– मणि– चारु–मुक्तं
वन्दे
जगन्मोहनमिष्टदेवम्।।२।।

आलोल– वकालक– कान्ति– चुम्बि
गण्डस्थल– प्रोन्नत– चारु–हास्यम्।
वाम– प्रगण्डोच्चल– कुण्डलान्तं
व = द
जगन्मोहनमिष्टदेवम्।।३।।

बन्धूक–बिम्ब–द्यूति–निन्दि–कुञ्चत्–
प्रान्ताधर–भ्राजित–वेणु–बक्त्रम्।
किञ्चत्तिरश्चीन– शिरोधिभातं
व = द
जगन्मोहनमिष्टदेवम्।।४।।

अकुण्ठ– रेखात्रय– राजि– कण्ठ–
खेलत्– स्वरालि–श्रुतिराग– राजिम्।
वक्षः स्फुरत्– कौस्तुभमुन्नतांसं
व = द
जगन्मोहनमिष्टदेवम्।।५।।

आजानु– राजद्वलयाङ्गदाञ्चि–
स्मरार्गलाकार– सुवृत्त– बाहुम्।
अनर्घ– मुक्ता– मणि– पुष्पमालं
वन्दे जगन्मोहनमिष्टदेवम्।।६।।

ष्वासैजदश्वत्थ– दलाभ– तुन्द–
मध्यस्थ– रोमावलि– रम्य– रेखम्।
पीताम्बरं मञ्जुल– किङ्किणीकं

नवीन मयूरपिच्छ लहराता है तथा जिनके ललाट आदि सब अङ्गोंपर गोरोचना द्वारा मनोहर तिलक शोभित हो रहा है, उन अपने इष्टदेव जगन्मोहन श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ।।१।।

भ्रूचालन मात्रसे उन्मादित हुई गोपाङ्गनाओंके कटाक्षबाणोंसे जिनके नेत्र सदा विद्ध रहते हैं और जिनकी नासिकाके अग्रभागमें मणिजटित सुन्दर मुक्ताफल सुशोभित रहता है, उन अपने इष्टदेव विश्वमोहनको मैं प्रणाम करता हूँ।।२।।

लहराते हुए घुँघराले बालोंकी कान्तिको चूमनेवाले जिनके नील कपोलोंपर मञ्जुल एवं उद्दाम हास्य खेलता रहता है तथा जिनके बाँये कन्धेपर मकराकृत कुण्डलोंका निम्न भाग झूलता रहता है, उन अपने इष्टदेव त्रिभुवनमोहन कृष्णको मैं नमस्कार करता हूँ।।३।।

बन्धूक पुष्प एवं पक्व बिम्बफलकी शोभाको मात करनेवाले जिनके कुञ्चित अधरप्रान्तोंमें मुरलीका अग्रभाग सुशोभित है तथा जिनका मस्तक किंचित् झुका हुआ है, उन अपने इष्टदेव त्रैलोक्यमोहन श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा प्रणाम है।।४।।

अत्यन्त स्पष्टरूपसे रेखात्रयसे सुशोभित जिनके श्रीकण्ठमें विविध स्वरोंसे विभूषित मूर्च्छनाएँ तथा राग–रागिनियाँ खेलती रहती हैं, जिनके वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि देदीप्यमान रहती है और जिनके कन्धे कुछ उभरे हुए हैं, उन अपने सेव्य त्रिभुवनमोहन श्रीकृष्णको बार–बार प्रणाम है।।५।।

घुटनोंपर्यन्त लटकती हुई तथा केयूर–कंकण आदि विविध भूषणोंसे विभूषित जिनकी गोल–गोल भुजाएँ कामदेवका तिरस्कार करनेवाली अर्गलाओंके समान सुशोभित हैं और जो अपने उरःस्थलपर अमूल्य मुक्तामणि एवं पुष्पमाला धारण किये हुए हैं, उन अपने आराध्यदेव जगन्मोहनके चरणोंमें मेरी प्रणति स्वीकार हो।।६।।

श्वास–प्रश्वासके कारण काँपते हुए, पीपलके पत्तोंके समान आकारवाले जिनके उदरके बीचो–बीच रोमराजि सुरम्य रेखाके रूपमें विद्यमान

जगन्मोहनमिष्टदेवम्।।७।।

है, जो पीताम्बर धारण किये हुए हैं, और जिनके कटिप्रदेशमें क्षुद्र घण्टिकाओंका मधुर शब्द हो रहा है, उन अपने परमाराध्य जगन्मोहन श्रीकृष्णके चरणोंमें मेरा मस्तक नत है।।७।।

व्यत्यस्तपादं मणिनूपुराढ्यं
श्यामं त्रिभङ्गं सुर– शाखि– मूले।
श्रीराधया सार्द्धमुदार–लीलं
वन्दे जगन्मोहनमिष्टदेवम्।।८।।

कल्पवृक्षके नीचे जो बायें चरणको दाहिनीओर एवं दाहिने चरणको बाँयी ओर रखे हुए ललित त्रिभंगीसे खड़े रहकर श्रीवृषभानु किशोरीके साथ अत्यंत मनोहर लीला कर रहे हैं, जिनके चरणोंमें मणिमय नूपुर सुशोभित है, उन अपने आराध्यदेव जगन्मोहन श्यामसुन्दरके चरणोंमें हम सिर नवाते हैं।।

श्रीमज्जगन्मोहन–देवमेतत्–
पद्याष्टकेन स्मरतो जनस्य।
प्रेमा भवेद् येन तदङ्घ्रि– साक्षात्–
सेवामृतेनैव निमज्जनं स्यात्।।९।।

जो कोई उपर्युक्त आठ पद्योंके द्वारा श्रीकृष्णका स्मरण करेगा, उसे निश्चय ही प्रेमभक्ति प्राप्त होगी, जिसके द्वारा वह उन्हीं जगन्मोहन श्यामसुन्दरके चरणोंकी साक्षात् सेवारूप अमृत–सरोवरमें निमज्जित हो जायेगा।।९।।

✪✪✪

श्रीगुरुका स्वरूप

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'

हरियाणा बाबूका पत्र

नोयाखली विजयनगरसे परमभागवत श्रीयुत–हरिचरणपालने श्रीप्रभुपादको लिखा है—'श्रीश्रीगुरुतत्त्वके सम्बन्धमें यहाँ पर कुछ दिन पहले कुछ तर्क–वितर्क उठे थे। मैंने उन तर्कोंकी मीमांसाके लिए आपके श्रीचरणोंमें निवेदन किया था। उसके उत्तरमें आपने हमें 'श्रीचैतन्यचरितामृत' का आदि खण्ड अवलोकन करनेका आदेश दिया था। किन्तु उक्त ग्रन्थसे मेरी आशा–आकांक्षा तृप्त न हो सकी। इसलिए आज पुनः इस दीन–हीन भजन–विहीन, नितान्त मूर्ख दासने बड़ी विपत्तिमें पड़कर आपके चरणोंका आश्रय लिया है। आप बड़े ही दयालु, अनाथोंके नाथ और दीन–हीन पतितोंके बन्धु हैं। यदि आप दया कर इस नराधम और घोर पापिष्ठका उद्धार करना चाहते हैं, तो आप अपने अमूल्य कार्यक्रमसे कुछ समय निकाल कर निम्नलिखित प्रश्नका विस्तारसे उत्तर प्रदान करनेकी कृपा करेंगे। श्रीश्रीभक्तिविनोद ठाकुरके अप्रकटके पश्चात् हमलोगोंने आपके उपदेशों, आदेशों तथा विवादास्पद समस्याओंकी मीमांसाओंको सिर झुकाकर मान लेनेका निश्चय कर लिया है। अतएव हम आपसे इस प्रश्नकी विशद मीमांसा जाननेके लिए बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रहे हैं। आप अवश्य कृपा करेंगे।

संशय

हमारे देशमें गुरु–तत्त्वके सम्बन्धमें दो प्रकारकी विचार–धाराएँ चलती हैं। इन्हें अवलोकन कर हमारे जैसे अज्ञ व्याक्ति बड़ी ही उलझनमें फँस जाते

हैं। इनमें कौनसा मार्ग सत्य है, अतः किस मार्गका अवलम्बन करना उचित है—समझ नहीं आता। धर्म-ग्रन्थके व्याख्याकारोंके भाव भी समझमें नहीं आते। कोई एक प्रकारसे व्याख्या करता है, तो कोई दूसरा उसीकी व्याख्या अन्य प्रकारसे करता है। अब हमलोग किधर जाँय? किनकी बातोंका विश्वास करें?

कोई कहता है—श्रीगुरुदेव साक्षात् भगवान् हैं, अतएव एकमात्र उनका भजन करनेसे ही सारी मनोकामनाएँ सिद्ध होंगी। दूसरा कहता है—गुरुदेवको साक्षात् भगवान माननेसे अपराध होता है। उनको भगवत-पार्षद अथवा प्रियतम भक्त मानकर उनका भजन करना ही विधि है।

उपर्युक्त दोनों पक्षोंके लोग अपने-अपने मतोंकी पुष्टिके लिए विभिन्न शास्त्रोंके प्रमाण पेश करते हैं। अबतक मैं व्यक्तिगतरूपसे अन्तिम मार्गका ही अबलम्बन करता आ रहा हूँ। किन्तु विपक्षके प्रतिवादोंको सम्पूर्ण रूपमें खण्डन करनेमें समर्थ नहीं हो पा रहा हूँ।

ऐसी अवस्थामें आपके श्रीचरणोंमें कातर-प्रार्थना है कि आप कृपाकर शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ-साथ अपना विशुद्ध-विचार पत्र द्वारा भेजेंगे। शास्त्रीय प्रमाणोंकी आवश्यकता केवल विरुद्धवादियोंके वितर्कोंका उत्तर देनेके लिए है। 'श्रीचैतन्यचरितामृत' के आधार पर विरुद्धवादियोंके वितर्कोंका खण्डन कर उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पाता।

इसलिए इस बार कृपया कोई ग्रन्थ देखनेका आदेश न करेंगे। बल्कि स्वयं विस्तारसे उक्त शंकाका समाधान कर देनेसे बहुतसे मूर्खों और संदिग्ध व्यक्तियोंका अत्यन्त कल्याण होगा।

यहाँ बहुतसे व्यक्ति इस पत्रके उत्तरकी बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतएव कृपा करनेमें देर न हो—यही हमारी पुनः पुनः प्रार्थना है।

श्रीलप्रभुपादका सदुत्तर—

शास्त्र तीन भागोंमें विभक्त है। कर्म, ज्ञान और भक्ति। इन भिन्न-भिन्न त्रिविध दृष्टिकोणोंसे विचार करने पर शास्त्रोंका अर्थ भिन्न-भिन्न रूपमें गृहीत होता है। जो एक अद्वितीय ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य जीवादिका अधिष्ठान या अनुभूति स्वीकार नहीं करते, उनके मतमें सब कुछ एक ब्रह्म ही है, किसी भी द्वितीय वस्तुकी सत्ता स्वीकृत नहीं है। ये निर्भेद ब्रह्मज्ञानीजन प्रत्येक वस्तुको ही ब्रह्म मानते हैं। ये लोग गुरुदेवको ब्रह्मसे पृथक नहीं मानते तथा उपासना या भक्तिमार्गको स्वीकार नहीं करते। किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने भक्तिमार्गको ही शास्त्रोंका प्रकृत और चरम उद्देश्य बतलाया है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके मतानुसार तत्त्व—अचिन्त्यद्वैताद्वैत है अर्थात् सारी वस्तुएँ ब्रह्मके अतिरिक्त होकर भी ब्रह्ममें ही अवस्थित हैं। ब्रह्मके अतिरिक्त द्वितीय वस्तु नहीं है, किन्तु शक्तिगत वैचित्र्यके कारण एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न शक्तियोंके प्रकाशानुसार परस्पर भिन्न-भिन्न धर्म-विशिष्ट है। तत्त्वके सम्बन्धमें मायावादियोंकी धारणाको निर्विशेष ज्ञान कहते हैं और श्रीचैतन्यदेव द्वारा प्रवर्तित तत्त्व-ज्ञानको सविशेष तत्त्व-ज्ञान कहते हैं। श्रीकृष्णचैतन्य एक वस्तु होकर भी छः भिन्न-भिन्न तत्त्वोंमें प्रकाशित हैं—(१) गुरु तत्त्व, (२) श्रीवास आदि भक्त-तत्त्व (३) अंशावतार अद्वैत-तत्त्व, (४) स्वरूप-प्रकाश नित्यानन्द-तत्त्व, (५) गदाधर आदि शक्ति-तत्त्व, (६) स्वयं भगवत्तत्त्व श्रीकृष्ण चैतन्य। ये छःहों तत्त्व एकमात्र श्रीकृष्ण चैतन्य ही हैं। ऐसी अवस्थामें गुरु-तत्त्व भी श्रीकृष्ण चैतन्य है। अचिन्त्य-भेदाभेद स्वीकृत होनेपर ये छःहो तत्त्व भगवान् ही हैं, किन्तु परस्पर भिन्न हैं। श्रीवासादि भक्त, श्रीगदाधरादि शक्ति, अद्वैत अंशावतार, नित्यानन्द स्वरूप-प्रकाश और गुरुदेव—ये पाँचो तत्त्व श्रीकृष्णचैतन्यसे अभिन्न होनेपर भी नित्य पृथक् हैं तथा उनके सेवक हैं।

श्रीगुरुदेव भगवान्के प्रकाश और प्रियतम भक्त हैं, अतएव भगवान्से भी बड़े हैं।

श्रीचैतन्यदेवके दास होनेपर भी श्रीगुरुदेव

भगवान्‌के प्रकाश स्वरूप हैं, भगवान् ही गुरुदेव हैं। गुरुदेव साक्षात्-प्रकाश होनेपर भी कृष्ण चैतन्यदेवके प्रियतम दास हैं। गुरुदेव मरणशील या अनित्य नहीं हैं। वे कृष्णके सेवकरूपमें कृष्णसे भिन्न होनेपर भी कृष्णसे अभिन्न वस्तु हैं। वे भक्त हैं, अतएव कृष्णसे भी बड़े हैं। उनकी कृष्णके बराबर धारणा करने पर भी उनकी लघुता ही प्रकाशित होती है।

कृष्ण साम्ये नहे ताँर माधुर्य-आस्वादन।
कृष्णेर समता हइते बड़ भक्त पद।
भक्त-अभिमान मूल श्रीबलरामे।
सेई भावे अनुगत ताँर अंशगणे
नाना-भक्तभावे करेन स्वमाधुर्य पान।
आपनाके करेन ताँर दास अभिमान।।
सेई अभिमान सुखे आपना पाशरे।।
कृष्णदास अभिमाने ये आनन्दसिन्धु।
कोटी ब्रह्मानन्द नहे तार एक बिन्दु।।
मुइ जे चैतन्यदास आर नित्यानन्द।
दास भाव सम नहे अन्यत्र आनन्द।।
सेई कृष्ण अवतीर्ण—चैतन्य ईश्वर।
अतएव आर सब,—ताँहार किङ्कर।।

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

भावार्थ यह कि भक्तका पद कृष्णकी समतासे भी ऊँचा है। बलराम भी अपनेमें दास्य भाव रखते हैं। कृष्णदास्यकी भावनामें आनन्दका एक ऐसा सागर उमड़ता रहता है कि ब्रह्मानन्द जिसकी तुलनामें एक बिन्दुके समान भी नहीं है। कृष्ण अथवा श्रीचैतन्यदेव ही एकमात्र भगवान् हैं और उनके अतिरिक्त और सभी उनके किङ्कर हैं।

उपरोक्त पद्य-समूह श्रीकृष्ण और गुरुदेवके सम्बन्धमें भी लागू हैं।

गुरुतत्त्वके सम्बन्धमें श्रीजीवगोस्वामीके विचार

भक्त, कृष्ण और गुरुदेव एकमात्र अभिन्न होनेसे भक्तिमार्गके अस्तित्वका ही लोप हो जाता है। जो लोग इन तीनोंको केवल अभिन्न ही मानने हैं, उन्हें निर्विशेषवादी कहते हैं। चारों-वैष्णव-सम्प्रदायोंमें गुरुदेवको मरणशील नहीं, बल्कि नित्य चिन्मय वस्तु माना गया है, उनमें भगवान् बुद्धि रखने पर भी उनको भगवान्‌का सेवक भक्त माना गया है। कर्मी, ज्ञानी और भक्तजन सभीलोग गुरुदेवमें भगवद् बुद्धि रखते हैं। कोई भी उनमें प्राकृत-बुद्धिका आरोप नहीं करते। किन्तु शुद्धभक्तजन गुरुमें भगवद् बुद्धि रखने पर भी उनको कृष्णका प्रियतम सेवक ही मानते हैं। श्रीरूपानुग आचार्यवर श्रीजीव गोस्वामीने अजात रुचिवाले वैधमार्गीय भक्तके कल्याणार्थ भक्ति-सन्दर्भमें लिखा है—"शुद्धभक्तः श्रीगुरोः श्रीशिवस्य च भगवता सह अभेद दृष्टिं तत् प्रियतमत्वेनैव मन्यते।" अर्थात् शुद्धभक्तजन श्रीगुरुदेव और श्रीशिवको भगवानसे अति प्रियतमत्वके कारण ही अभिन्न मानते हैं। प्रमाणस्वरूप उन्होंने श्रीमद्भागवतका निम्नलिखित श्लोक ३०/२९/८ उद्धृत किया है—

वयन्तु साक्षाद् भगवन् भवस्य,
प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेन।
सुदुश्चिकित्स्यस्य भवस्य मृत्यो-
र्भिषक्तमं त्वाद्यगतिं गताः स्म।।

श्रीजीव गोस्वामीकी टीका—

तव यः प्रियः सखा तस्य भवस्य। अत्यन्तमचिकित्स्यस्य भवस्य जन्मनो मृत्योश्च भिषक्तमं सद्वैद्यं त्वां गतिं प्राप्ता इत्येषा। श्रीशिवो ह्येषां वक्तृणां गुरुः। श्रीप्रचेतसः श्रीमदष्टभुजं पुरुषम्।।

—भक्तिसन्दर्भ—२१३

प्राचीनबर्हिके पुत्र प्रचेतागण श्रीशिवजीके शिष्य थे। प्रचेताओंने रुद्रगीत द्वारा भगवान् अष्टभुजका दर्शन प्राप्त कर उनका स्तव किया था। उसी स्तवसे उपर्युक्त श्लोककी अवतारणा की गयी है। प्रचेताओंने कहा--"भगवन्! आपके प्रिय सखा श्रीशङ्करजीके क्षणभरके संगके प्रभावसे ही आज हमें आपका साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ है। आप जन्म-मरण रूप दुःसाध्य रोगके श्रेष्ठतम वैद्य हैं। अतः अब हमने आपका ही आश्रय लिया है।"

उक्त श्लोकमें प्रचेताओंने अपने गुरुदेव शिवको कृष्णका प्रिय सखा माना है।

श्रीरघुनाथदास गोस्वामीके विचार।

आचार्यवर श्रीरघुनाथदास गोस्वामी श्रीरूपानुग भक्तोंके रागानुगमार्गीय प्रधान आचार्य हैं। उनकी शिक्षा यह है—

न धर्मं नाधर्मं श्रुतिगणनिरुक्तं किल कुरु
ब्रजे राधाकृष्ण प्रचुर–परिचर्यामिह तनु।
शचीसूनुं नन्दीश्वर–पतिसुतत्वे गुरुवरं
मुकन्दप्रेष्ठत्वे स्मर परमजस्त्रं ननु मनः।।

(मनः शिक्षा–२)

––हे मन! तुम वेदोक्त धर्मसमूह अथवा वेद–निषिद्ध अधर्मादि कुछ भी न करो, बल्कि ब्रजमें राधाकृष्णकी प्रचुर सेवा करो, शचीनन्दन श्रीगौरहरिको ब्रजेन्द्रनन्दन जानो तथा श्रीगुरुदेवको कृष्णका अतिशय प्रिय जानकर उनका सर्वदा स्मरण करो।

श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीका सिद्धांत

श्रीपाद कृष्णदास कविराज गोस्वामीने लिखा है—

यद्यपि आमार गुरु चैतन्येर दास।
तथापि जानिये आमि ताँहार प्रकाश।।

(चैतन्यचरितामृत १।१।४४)

अर्थात् मेरे गुरुदेव यद्यपि श्रीचैतन्यदेवके दास हैं; तथापि मैं उनको श्रीचैतन्यदेवका प्रकाश ही जानता हूँ।

यहाँ पर श्रीगुरुदेव श्रीचैतन्यदेव नहीं होनेपर भी श्रीचैतन्यदेवके प्रकाश हैं। शुद्ध भक्त जगत्के गुरु और श्रीचैतन्यदेवके प्रकाश हैं। नित्यानन्द प्रभु विष्णु–तत्त्वके मूलाधार होनेपर भी दस प्रकारका शरीर धारण कर श्रीकृष्णकी निरन्तर सेवा करते हैं।

श्रीनरोत्तम ठाकुर महाशयका सिद्धांत

श्रीपाद नरोत्तम ठाकुर अपनी रचित 'प्रार्थना' में लिखते हैं––

सुवर्णेर झारी करि, राधाकुण्डे जल पुरि,
दोहाकार अग्रेते राखिव।
गुरु रूपा सखी वामे, त्रिभङ्ग भङ्गिम ठामे,
चामरेर वातास करिव।।

अहो! वह दिन कब होगा, जब मैं सोनेकी झारियोंमें श्रीराधाकुण्डका सुस्निग्ध और शीतल जल भर भर कर अपने प्रियतम श्रीश्रीराधाकृष्णके सामने रखा करूँगी तथा वहाँ गुरुरूपा सखीकी बाँयीं ओर त्रिभङ्ग भङ्गीसे खड़ी होकर धीरे–धीरे चाँमर डुलाया करूँगी?

और भी अन्यत्र कहते हैं—

हेन निताई बिने भाई, राधाकृष्ण पाइते नाई,
दृढ़करि धर निताई पाय।
से सम्बन्ध नाहि जार, वृथा जन्म गेल तार,
सेई पशु बड़ दुराचार।।

इस प्रकार इन नित्यानन्द प्रभुकी कृपाके बिना श्रीश्रीराधाकृष्णकी किसी भी हालतमें प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव यदि श्रीश्रीराधाकृष्णको प्राप्त करनेकी नितान्त अभिलाषा है, तो श्रीनित्यानन्द प्रभुके चरणकमलोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ो। जिनका करुणावरुणालय श्रीनित्यानन्द प्रभुके चरणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, उनका जन्म वृथा ही चला गया। वह अत्यन्त दुराचारी और पशु है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरकी शिक्षा

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर लिखते हैं—

साक्षाद्धरित्वेन समस्त शास्त्रै–
रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।
किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्।।

—निखिल शास्त्रोंने जिनका साक्षात् हरिके अभिन्न विग्रहरूपसे गान किया है एवं साधुजन भी जिनकी उसी प्रकारसे भावना करते हैं, तथापि जो प्रभु भगवान्के एकान्त प्रिय हैं, उन्हीं (भगवान्के अचिन्त्यभेदाभेद–प्रकाश–विग्रह) श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ।

श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामीकी शिक्षा

श्रीगौर-पार्षद वक्रेश्वर पंडितके शिष्य श्रीगोपाल-गुरु थे। उनके शिष्य श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामीने शुद्ध भक्तोंद्वारा परमादृत अपने पद्धति-ग्रन्थमें लिखा है—"श्रीमहाप्रभुशेष-निर्माल्येन श्रीवासादिपार्षदान् पूजयेत् तथैव तद्भक्तान् श्रीगुर्व्वादीन् भक्तितः।" अर्थात् भगवान् श्रीगौरचन्द्रके निर्माल्य द्वारा श्रीवास आदि भक्तोंकी पूजा करनी चाहिए। इसी प्रकार गौर-प्रसाद द्वारा श्रीगुरुदेव आदि भक्त-जनोंकी भी भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिए।

श्रीभक्ति विनोद ठाकुरने "हरिनाम चिन्तामणि" ग्रन्थमें लिखा है—

गुरुके सामान्य जीव ना जानिवे कभु।
गुरु, कृष्ण-शक्ति, कृष्ण-प्रेष्ठ, नित्यप्रभु।।

अर्थात् गुरुदेव साधारण जीव नहीं हैं। वे कृष्णकी शक्ति हैं—कृष्णके परम प्रियतम हैं तथा जीवोंके नित्य आराध्य देव हैं। गुरुदेवको कृष्ण समझना मायावाद है। यह शुद्ध वैष्णव-मत नहीं है। साधक-भक्त इस विषयमें सावधान रहेंगे। साधक-क्रियामें मायावादरूप विष थोड़ासा भी प्रवेश करने पर वह समस्त साधनको ही दूषित कर डालता है।

श्रील प्रभुपादके निजस्व उपदेश

इस विषयमें १३१० बंगाब्दमें प्रकाशित एक लेख यहाँ पर उद्धृत किया जा रहा है—

श्रीधाम वृन्दावनसे प्रकाशित "श्रीवैष्णव सन्दर्भ" नामक मासिक पत्रकी द्वितीय संख्या हमें मिली है। इस पत्रके सम्बन्धमें एक जगह विज्ञापनमें लिखा है—'पूर्व-पूर्व आचार्यों द्वारा अप्रकाशित अभिनव मासिक सन्दर्भ।' मैं उक्त पत्रिकाके अभिनव मतकी आलोचना कर रहा हूँ। कतिपय शुद्ध वैष्णवोंने अत्यन्त व्यथित होकर मुझे 'गुरुनिष्ठा' प्रबन्धको पढ़कर सुनाया है। वास्तवमें हमारे पूर्वाचार्य गोस्वामीगण इन अर्वाचीन सिद्धान्तोंको जानते नहीं थे। उक्त लेखकी चरम मीमांसा यह है—'साक्षात् भगवान् श्रीचैतन्यदेवने हमें क्या शिक्षा दी है? उनकी शिक्षा यह है कि गुरुदेव ही ईश्वर हैं, परम स्वतन्त्र वस्तु हैं।' किन्तु कार्याध्यक्ष महाशयकी आश्वास वाणीको निष्फल होते देखकर हम बड़े ही दुःखित हुए हैं। भक्ति-विरोधी मंत्रजीवियोंके वागाडम्बरसे अनेक साधाकोंका परमार्थ नष्ट हो जाता है; वे वंचित होते हैं—यह सोचकर हमें खेद होता है—

श्रीकृष्णचैतन्यदेवने सिखलाया है—

किवा विप्र किवा न्यासी शूद्र केने नय
येई कृष्ण तत्त्व वेत्ता सेई गुरु हय।।

(चैतन्यचरितामृत)

अतएव वस्तुतः ईश्वर न होनेपर भी ईश्वरके दासगण कृष्णतत्त्वके पारंगत होनेपर गुरु हैं—यह जाना गया।

पारमार्थिक गुरु तीन प्रकारके हैं

शास्त्रोंमें गुरु तीन प्रकारके बतलाए गए हैं श्रवण-गुरु, भजन या शिक्षागुरु और मंत्रदाता गुरु। वर्त्म-प्रदर्शक गुरु या श्रवणगुरु बहुधा भजन शिक्षागुरु ही होते हैं। शिक्षागुरु अनेक होनेपर भी आगम मंत्रशास्त्रोंमें पारंगत गुरुके निकट ही मंत्र ग्रहण करना चाहिए। मंत्र गुरु यदि अवैष्णव हुए, तब उन्हें परित्याग कर भगवद्भक्त गुरुका आश्रय करना चाहिये। श्रीगुरुदेवके प्रति अपने इष्टदेवसे भी बढकर भक्ति रखनी चाहिये। तत्त्ववादीगण मायावादियोंकी तरह चिद्वस्तुको निर्विशेष नहीं मानते। श्रीजीव गोस्वामी भक्तिसन्दर्भमें लिखते हैं—

"तिस्मंश्चिन्मात्रेऽपि वस्तुनि या विशेषाः स्वरूपभूत-शक्तिसिद्धा भगवत्तादिरूपा वर्त्तन्ते तांस्ते विवेक्तुं न क्षमन्ते यथा रजनी खण्डिनि ज्योतिषि ज्योतिर्मात्रत्वेपि ये मण्डलान्तर्बहिश्च दिव्यविमानादि परस्परपृथग् भूतरश्मिपरमाणुरूपा विशेषास्तांश्चर्मचक्षुषी न क्षमन्ते इत्यन्वयस्तद्वत्। पूर्ववच्च यदि महत् कृपा-विशेषेण दिव्यदृष्टिता भवति तदा विशेषोपलब्धिश्च भवेत्।"

मायावादके दृष्टिकोणसे दर्शन करने पर श्रीगुरुदेवको ईश्वरके रूपमें कल्पना करनी पड़ती है। किन्तु वास्तवमें (गुरुकी कृपासे) महतोंकी

कृपासे दिव्यज्ञान प्राप्त होनेपर ईश्वर–वस्तुमें एक विशेष धर्मकी उपलब्धि होती है। तब वे भगवान्‌से अभिन्न गुरुदेवको भगवान्‌से नित्य भिन्न दर्शन कर "वन्दे गुरून्' द्वारा उनकी वन्दना कर उनसे श्रीकृष्णचैतन्यकी भक्ति प्रार्थना करते है।

कृष्ण गुरुद्वय भक्तावतार प्रकाश।
शक्ति—एई छय रूपे करेन विलास।।

(श्रीचैतन्यचरितामृत आदि १।३२)

इस महावाक्यसे यह विदित होता है कि शक्तिगत भेद नित्य है। इस भेदको भाषाके विकाश कौशलसे ढका नहीं जा सकता। कविराज गोस्वामीने गुरु तत्त्वको परिस्फुट करनेके लिए लिखा है—

यद्यपि आमार गुरु—चैतन्येर दास।
तथापि जानिये आमि ताँहार प्रकाश।।

(चैतन्यचरितामृत)

अतः अतिशय मूढ़ और निपुण दोनों प्रकारके पाठक सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि वास्तवमें गुरु ईश्वर नहीं—बल्कि भगवद्दास हैं। उनके प्रति प्राकृत व्यवहार करनेसे कृष्णकी कृपा कदापि नहीं पायी जा सकती। श्रीगुरुदेवके प्रति सर्वदा चिन्मय–बुद्धि रखनी चाहिए।

असद् गुरुके परित्यागकी विधि

किसी व्यक्तिको सद्‌गुरु जानकर उससे मंत्र लेनेके पश्चात् यदि बादमें यह पता लगे कि गुरु दुर्नैतिक, अर्थलोभी, भुक्तिमुक्तिकामी, स्त्रीसंगी, कृष्णाभक्त, कपटी, हिंसापरायण, लाभपूजाप्रतिष्ठाकामी, मंत्रव्यवसायी तथा अवैष्णव हैं, तो ऐसे अयोग्य और कपटी गुरुका सम्पूर्णरूपसे परित्याग कर देना चाहिए तथा कृष्ण तत्त्वविद् अमर्त्य अप्राकृत गुरुका आश्रय ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि उपरोक्त प्रकारके कपटी गुरुके आश्रयसे कृष्णभक्ति कदापि लाभ नहीं हो सकती। चतुर्दश भुवनके परम बंदनीय, श्रीभगवान्‌के श्रेष्ठतम पार्षद आचार्य श्रीरघुनाथदास गोस्वामी श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजीके आश्रित वर्तमान और भावी उन्नततम वैष्णवोंके भी परम आराध्य हैं। उन्होंने स्वरूप दामोदर और श्रीरूप गोस्वामीके आनुगत्यमें अपने रचित 'मनःशिक्षा' नामक पद्यमें श्रीगुरुदेवका तत्त्व अति प्राञ्जल रूपमें व्यक्त किया है। उनके सिद्धान्तके विरुद्ध किसी भी काल्पनिक कुसिद्धान्तकी गगन–भेदी आवाज कोई सुफल उत्पन्न नहीं कर सकती। उन्होंने बतलाया है कि श्रीगुरुदेव भगवान् मुकुन्दके प्रेष्ठ—परम प्रिय हैं, मुकुन्द नहीं हैं।

आचार्यवर्गोंके मतोंकी पुनरावृत्ति

श्रीनरोत्तम ठाकुरने अपनी प्रार्थनामें "निताइ पद कमल" आदि गीतों द्वारा गुरुतत्त्वके सम्बन्धमें विशेष शिक्षा दी है। उससे प्रत्येक तात्त्विक वैष्णव यह समझ समता है कि गुरुदेव सन्धिनी, ह्लादिनी और सम्वित् शक्तियोंकी जड़में नित्य विराजमान है। केवल सम्वित् शक्तिको ही उनके सिर पर थोपनेसे मायावाद अथवा सहजिया मत हो पड़ता है। यतीन्द्र श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामीने विशुद्ध वैष्णवोंके व्यवहारोंको अपनी पद्धति–ग्रन्थमें निरूपण किया है। श्रीगौड़ीय वैष्णव–समाजमें इस ग्रन्थका बड़ा आदर है। हम उससे निम्नलिखित अंश उद्धृत करते हैं—

"श्रीमहाप्रभु–शेष–निर्माल्येन श्रीवासादिपार्षदान् पूजयेत्। तथैव तद्भक्तान् श्रीगुर्वादीन् भक्तितः।" इस पर विचार करनेसे पता चलता है कि स्वार्थान्ध होकर श्रीगुरुके सम्बन्धमें किसी नये मतका प्रचार करनेसे केवल एक उपसम्प्रदायकी ही भित्तिमात्र स्थापित होती है। ऐसे–ऐसे उपसम्प्रदायोंका अभाव नहीं है। अंतमें हम यह प्रार्थना करते हैं कि श्रीगुरुदेव कृपाकर उपरोक्त स्वार्थान्ध व्यक्तियोंको अपना स्वरूप प्रदर्शन करें।

✪✪✪

धैर्य

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

भजनमें धैर्यकी आवश्यकता

भजनमें लगे हुए व्यक्तियोंके लिए धैर्यकी नितान्त आवश्यकता है। जिसमें धैर्य गुण होता है, वे धीर कहलाते हैं। धैर्यके अभावमें मनुष्य चञ्चल हो उठता है। जो अधीर होते हैं, वे कोई भी कार्य नहीं कर पाते। धैर्य गुणके द्वारा साधक अपने आपको वशमें करके अन्तमें जगत्को अपने वश कर लेता है।

छः प्रकारके वेगोंको धारण करना ही धैर्य है

'उपदेशामृत' के प्रथम श्लोकमें धैर्यगुणका उल्लेख आया है। यथा—

वाचो वेगं मनसः क्रोध–वेगं,

जिह्वा–वेगमुदरोपस्थ–वेगं।

एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः,

सर्वामपीमां पृथ्वी स शिष्यात्।।

छः वेग ये हैं—वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, जिह्वाका वेग, उदरका वेग, उपस्थका वेग,।

वाणीका वेग और उसके दमनका उपाय

जब अधिक बातें बोलनेकी इच्छा होती है, तब मनुष्य वाचाल हो पड़ता है। जब मनुष्य अपनी वाणीको नियमित करनेमें असमर्थ होता है, तब परचर्चा होने लगती है। परचर्चा द्वारा बहुतोंके साथ शत्रुता हो जाती है। अनावश्यक वचन बोलना नितान्त मूर्खताका कार्य है। किन्तु संसारी मनुष्य सर्वदा ही अनावश्यक वाक्योंका प्रयोग कर समय नष्ट करता है। फलस्वरूप अनेक दुःख पाता है। धार्मिक मनुष्य इस उत्पातसे बचनेके लिए मौनव्रतका अवलम्बन किया करते हैं। हमारे ऋषियोंने सभी अच्छे–अच्छे व्रतोंके साथ मौनव्रत धारण करनेकी व्यवस्था दी है। भजन–पिपासु व्यक्तियोंके अनावश्यक बातें नहीं बोलनी चाहिए। यदि अनावश्यक बात बोलनी ही पड़ रही हो, तो अवश्य मौन धारण कर लेना चाहिए। भगवत्कथाके अतिरिक्त अन्य सभी कथाएँ (बातें) अनावश्यक हैं। परन्तु जो विषय–कथाएँ हरिभक्तिके अनुकूल रूपमें बोली जाती हैं, वे कभी भी अनावश्यक नहीं हैं। अतएव भक्तोंको हरि–कथा और हरि–कथाके अनुकूल कथाएँ ही बोलनी चाहिए। इनके अतिरिक्त सभी कथाएँ वाणीके वेगमें परिणित होंगी। इस वाणी–वेगको सहनेमें जो समर्थ होते हैं, वे ही धीर पुरुष हैं।

मनका वेग और उसके दमनका उपाय

मनका वेग सहना भी धीर व्यक्तिका धर्म है। जब तक मनके वेगको धारण करनेका अभ्यास नहीं होता, तब तक मन लगाकर भजन कैसे हो सकता है? संसारी लोगोंके मनमें सर्वदा आशारूपी वेगका उदय होता रहता है। सोनेके समयके अतिरिक्त सब समय संसारी मनुष्य नाना प्रकारके मनोरथों पर आरूढ़ होकर नाना प्रकारकी चिन्ताओंकी उधेड़–बुनमें व्यस्त रहता है। इस कार्यसे उसे कभी अवकाश नहीं मिलता। निद्राकालमें भी उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती,—दुःस्वप्न, और सुस्वप्न रूप चिन्ताएँ उसका पीछा नहीं छोड़तीं। ऋषियोंने मन–वेगको नियमित करनेके लिए ही अष्टाङ्ग–योग और राजयोगकी कल्पनाकी है। परन्तु परमेश्वरका नियम यह है कि मनको

थोड़ा उच्च रसका आस्वादन कराकर उसे क्षुद्र प्राकृत रससे दूर कर नियमित करना होता है। जिनकी भक्ति-पथमें रुचि है, वे अति सहज ही मनको नियमित कर सकते हैं। मन वेगके बिना रहना नहीं चाहता। उसे अप्राकृत विषयोंमें वेगवान करनेसे वह बड़े वेगसे अप्राकृत विषयोंमें ही रम जाता है। अप्राकृत विषयोंका रसास्वादन कर लेने पर मन तुच्छ प्राकृत-विषयोंके प्रति वेगवान् नहीं होता।

मनको दमन करनेके लिए योगकी अपेक्षा शुद्ध भक्ति ही सर्वोत्तम उपाय है

बहुतेरे ऐसा सोचते हैं कि अष्टाङ्ग योगके बिना मनको नियमित करनेका और कोई उपाय नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। मनको भक्ति द्वारा जितना सहज रूपमें नियमित किया जा सकता है उतना योगसे नहीं किया जा सकता। पतञ्जलि मुनिने भी इसे स्वीकार किया है। वे ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् भक्ति योगको भी अष्टाङ्ग योगकी तरह मनको नियमित करनेका उपाय स्वीकार करते हैं। पतञ्जलिका ईश्वर-प्रणिधान शुद्धाभक्ति नहीं है, बल्कि काम्य भक्ति मात्र है। जिस भक्तिका प्रधान उद्देश्य मनको नियमित करना है, वह कदापि अन्याभिलाषिता-शून्य निर्मल भक्ति नहीं हो सकती है। आनुकूल्यपूर्वक कृष्णनुशीलन अर्थात् कृष्णकी सेवा ही एक मात्र शुद्ध भक्ति है। अतएव जब शुद्ध भक्तिका अनुष्ठान होने लगता है, तब चित्त अपने आप प्रसन्न हो उठता है। 'येन केन प्रकारेण मनः कृष्णे नियोजयेत्' (श्रीमद्भा. ७/१/३२) इस उपदेशका पालन करने से तथा मनको श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें लगानेसे मन सहज ही नियमित हो जाता है, तब वह किसी दूसरे विषयोंकी तरफ नहीं दौड़ता। इस प्रकार शुद्ध कृष्णभक्ति द्वारा साधकका मनोवेग नियमित हो जाता है। इस विषयको भली-भाँति धारण करनेसे योग और भक्तिका स्वाभाविक भेद समझा जा सकता है।

क्रोध-वेग और उसके दमनका उपाय

भक्ति-पिपासुओंके लिये क्रोध-वेगको दमन करना नितान्त कर्तव्य है। काम-भोगमें बाधा पड़नेसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है। क्रोधसे क्रमशः विनाश तक भी हो जाता है। चैतन्यचरितामृत (मध्य १९/१४९) में कहते हैं—"कृष्ण भक्त निष्काम अतएव शान्त।" जो शुद्धाभक्तिका आस्वादन करते हैं, उनके चित्तमें किसी प्रकारका तुच्छ काम नहीं रहता। अतएव कामके अभावमें उनके मनमें क्रोध उत्पन्न होनेकी तनिक भी संभावना नहीं रहती। काम्य-भक्ति द्वारा क्रोधका दमन नहीं किया जा सकता। केवल विवेक द्वारा भी उसका दमन नहीं किया जा सकता है। विवेक द्वारा जीता हुआ क्रोध स्थायीरूपमें नियमित नहीं होता, बल्कि अस्थिर होता है। विषय-राग विवेकको थोड़े ही समयमें हरा कर अपने राज्यमें क्रोधको पुनः स्थान दे देता है।

श्रीमद्भागवतमें (११वें स्कन्धके २३ वें अध्यायमें) एक त्रिदण्डिभिक्षुककी कथा है। उज्जैनीमें एक धनी विप्र रहता था। वह बड़ा ही लोभी, कृपण और क्रोधी था। उसकी कृपणता और बुरे-स्वभावसे उसका सारा परिवार उसका शत्रु बन गया था। समयके फेरसे कुछ ही दिनोंमें उसका सर्वस्व नष्ट हो गया। इससे उसके मनमें संसारके प्रति उत्कट वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह त्रिदण्डिभिक्षुकका धर्म लेकर भक्ति-योगका साधन करने लगा। भक्ति-योगके प्रभावसे थोड़े ही दिनोंमें वह क्रोधका दमन करनेमें वह समर्थ हो गया। यथा—

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः।

दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बहवीभिः परिभूतिभिः।।
कोचित् त्रिबेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुं।
पीठञ्चैकेऽक्षसूत्रञ्च कन्थां चीराणि केचन।
प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्यददुर्मनेः।।
अन्नञ्च भैक्ष सम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे।
मुत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्टीवन्त्यस्य च मुर्द्धनि।।
क्षिपन्त्येकेऽवजान्त एष धर्मध्वजः शठः।।
एवं स भौतिकं दुःख दैविकं दैहिकञ्च यत्।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यते।।

—वह उज्जैन निवासी ब्राह्मण हृदयकी ग्रन्थि 'मैं' और 'मेरे' की गांठ खोलकर शान्त-भिक्षु हो गया। उस बूढ़े और मलिन ब्राह्मणको देखते ही दुष्ट व्यक्ति टूट पड़ते और तरह-तरहसे उसका तिरस्कार करके उसे तंग करते। कोई उसका त्रिदण्ड छीन लेता, तो कोई भिक्षापात्र ही झटक लेता। कोई कमण्डलु उठा ले जाता। कोई तो आसन, माला और कन्था ही ले कर भाग जाता। कोई तो उसकी लँगोटी और वस्त्रको ही इधर-उधर डाल देते। कोई-कोई वे वस्तुएँ देकर और कोई-कोई दिखला-दिखला कर पुनः छीन लेते। जब वह अवधूत मधुकरी माँगकर लाता और बाहर नदी तटपर भोजन करने बैठता, तो पापी लोग कभी उसके सिरपर मूत देते, तो कभी थूक देते। कोई-कोई उसका तिरस्कार करके इस प्रकार ताना कसते कि देखो-देखो, अब इस दुष्टने धर्मका ढोंग रचा है। धन-सम्पत्ति जाती रही, स्त्री-पुत्रोंने घरसे निकाल दिया, तब भीख माँगनेका रोजगार कर लिया है। किन्तु इस प्रकार अपमानित हो कर भी वह सब कुछ चुपचाप सह लेता। उसे कभी ज्वर आदिके कारण दैहिक पीड़ा सहनी पड़ती, कभी गर्मी-सर्दी आदिसे दैवी कष्ट उठाना पड़ता और कभी दुर्जन लोग अपमान आदिके द्वारा उसे भौतिक पीड़ा पहुँचाते, परन्तु भिक्षुकके मनमें इससे कोई विकार न होता। वह समझता था कि यह मेरे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है और इसे मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा।

गृहस्थ और संन्यासी सबके लिए त्रिदण्डि भिक्षुककी शिक्षा ग्रहणीय है

तब उस भिक्षुकने ऐसा उद्‌गार प्रकट किया—

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा—
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव।।

(श्रीमद्‌भा. ११/२३/५७)

मैं आत्मा अर्थात् क्षुद्र जीव हूँ। कृष्ण परात्मा हैं। वहिर्मुख जीव संसार-निष्ठ होकर भौतिक, दैहिक और दैविक कष्टोंको भोग कर रहा है। कृष्णसेवा ही जीवका नित्यधर्म है। इस संसारमें मैं संसार-निष्ठाका परित्यागकर परात्म-निष्ठारूप कृष्णभजन करूँगा। मन, वाणी, और क्रोध आदिको वशीभूत कर भक्तिके अनूकूल जीवनके साथ परात्म-निष्ठाका अवलम्बन करूँगा। बड़े-बड़े प्राचीन ऋषियोंने इस परात्म-निष्ठाका आश्रय करके इस संसार-समुद्रको पार किया है। यह परात्म-निष्ठा कहीं-कहीं गृहस्थ-धर्ममें जनकादिकी तरह लक्षित होती है, तो कहीं-कहीं पर भिक्षु-धर्ममें सनक-सनातन आदिकी तरह परिलक्षित होती है। वास्तवमें उभय अवस्थाओंकी परात्म-निष्ठा एक ही चीज है। परात्म-निष्ठाके बिना इस दुरन्त-पार तमोमय संसार-सागरको पार नहीं किया जा सकता है। मुकुन्द-सेवन ही हमारा एक मात्र आश्रय है। मैं भगवान मुकुन्दके चरणकमलोंकी सेवा द्वारा ही उसे पार करूँगा।—इस भिक्षु गीतसे हम स्पष्ट ही देख रहे हैं कि योगादि चेष्टा द्वारा संसार-सागरको

पार करना असम्भव है। श्रीकृष्णकी भक्ति–निष्ठा द्वारा सब–कुछ प्राप्त किया जा सकता है। जो भक्तिका आश्रय कर उसके द्वारा मन, वाणी और क्रोधके वेगोंका दमन करते हैं, वे ही धीर हैं।

जिह्वाका वेग और उसके दमनका उपाय

जिह्वा–वेगको दमन करना भी नितान्त कर्तव्य है। मधुर, लवण, तिक्त, कटु, कषाय, और अम्ल—इन छः प्रकारके रसोंका आस्वादन करनेके लिये संसारी मनुष्य सर्वदा व्यस्त रहता है। आज खीर खाऊँगा, आज मोहनभोग खाऊँगा, आज उत्तम पेय पान करूँगा—ऐसी–ऐसी लालसाएँ विषयी लागोंको चैनसे बैठने नहीं देतीं। जिह्वा जितना ही भोजन करती है, उतनी ही भोग लालसा बढ़ती जाती है। जो लोग जिह्वाकी लालसासे इधर–उधर दौड़ते रहते हैं, उन लोगोंके लिए कृष्ण–प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने कहा है—

जिह्वार लालसे येइ इति–उति धाय।
शिश्नोदर–परायण कृष्ण नाहि पाय।।
वैरागी हइया करे जिह्वार लालस।
परमार्थ जाय, आर हय रसेर वश।।
वैरागीर कृत्य–सदा नाम–संकीर्तन ।
शाक–पत्र–फल–मूले उदर भरण।।

(चै. च. अ. ६।२२७, २२४, २२६)

अर्थात् जिह्वाकी लालसाको पूर्ण करनेके लिए जो लोग इधर–उधर दौड़ते रहते हैं, वे शिश्नोदर परायण व्यक्ति कृष्णको नहीं पा सकते। जो वैरागी होकर जिह्वाकी लालसा करता है, उसका परमार्थ तो नष्ट होता ही है, अधिकन्तु रसोंके वशमें होकर वह अपना लौकिक अर्थ भी गँवा डालता है। वैरागीको सर्वदा नाम–संकीर्त्तन करना चाहिए तथा शाक, पत्ता, फल, मूल आदि भोजन कर उदरकी पूर्त्ति करनी चाहिए।

जो भोज्य पदार्थ अनायास उपलब्ध हों, उसीके द्वारा उदर भरण कर लेना उचित है। कृष्णको सात्त्विक–द्रव्य निवेदन कर उनका प्रसाद सेवन करने से जिह्वाकी लालसा दूर होती है तथा साथ–ही–साथ कृष्णका अनुशीलन भी हुआ करता है। यदि बिना परिश्रमके ही सुखाद्य भगवत्प्रसाद मिल जाय तो उससे जिह्वाकी लालसा बढ़ती नहीं, प्रत्युत् धीरे–धीरे दूर हो जाती है।

उदर–वेग और उसके दमनका उपाय

उदर–वेग एक बड़ा उत्पात है। जिस आहारसे क्षुधा मिट जाय और शरीरकी रक्षा हो, वही आहार उदरके लिये आवश्यक है। भक्ति–पिपासु व्यक्ति युक्त आहार द्वारा शरीरकी रक्षा करेंगे। जो लोग ऐसा न कर आवश्यकतासे अधिक भोजन करते हैं, वे पेटू हैं। 'मितभुक् अर्थात् परिमित रूपमें भोजन करनेवाला'—इसे भक्तोंका एक लक्षण माना गया है। लघु आहार करनेसे शरीर हल्का रहता है तथा भजनमें बाधा नहीं पड़ती। जो उदर–वेगको सहनेमें समर्थ नहीं होते, वे आहार–लोलुप होते हैं। भगवत् प्रसादके अतिरिक्त काई भी पदार्थ भोजन नहीं करूँगा—जो ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेते हैं, वे उदर–वेगको सहनेमें समर्थ होते हें। व्रतोंमें उपवास करना उदर–वेगको दमन करनेका शिक्षा–स्थल है।

उपस्थ–वेग और उसका दमन

उपस्थ–वेग बड़ा ही भयानक होता है। 'लोके व्यवायामिष–मद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना'—श्रीमद्भागवत (११/५/११) के इस श्लोकका तात्पर्य अतिशय गूढ़ है। जो रक्त–मांस द्वारा गठित शरीरमें निवास करते हैं, उनके लिये स्त्री–संग एक प्रकारसे निसर्ग–जनित धर्म हो पड़ा है। इस निसर्गको (विकृत स्वभावको) संकुचित करनेके लिए ही

विवाहकी विधि दी गयी है। जो लोग विवाह-विधि से मुक्त होकर उच्छृंखल होना चाहते हैं, वे प्रायः पशुवत्-क्रियाओंमें प्रवृत्त रहते हैं और जो लोग सत्संगमें रहकर भजनके प्रभावसे नैसर्गिक विधिको अतिक्रम कर अप्राकृत विषयमें रुचि प्राप्त कर चुके हैं, उनके लिए स्त्री-पुरुष संग अत्यन्त तुच्छ है। जो विषय-रोगसे पूर्ण हैं—विषय-भोगकी वासानाएँ जिनमें भरपूर हैं, वे उपस्थ-वेगको सहनेमें असमर्थ होते हैं, अतः सर्वदा अवैध कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं। इस विषयमें साधक भक्त दो प्रकारके होते हैं। सत्संगके प्रभावसे जिनकी रति (भगवत्-भाव) शुद्ध हो चुँकी है, वे सम्पूर्ण रूपसे स्त्रीसंगका परित्याग कर भजन करते है। ये लोग गृहत्यागी वैष्णव होते हैं। दूसरे वे हैं, जिनकी स्त्रीसंगकी प्रवृत्ति दूर नहीं हुई है। ये लोग विधिपूर्वक विवाह कर गृहस्थ धर्मका पालान करते हुए भगवान्का भजन करते हैं। वैध-स्त्रीसंगको ही उपस्थ-वेग-धारण कहते हैं।

षड्वेग दमनका सर्वोतम उपाय

पूर्वोक्त छः वेगोंका विधिपूर्वक दमन करनेसे भजनमें सहायता मिलती है। किन्तु ये वेग प्रबल रहने पर भजनके प्रतिकूल हो पड़ते हैं। उक्त छः प्रकारके वेगोंको दमन करनेका नाम ही धैर्य है। जब तक शरीर रहता है, तब तक ये प्रवृत्तियाँ सम्पूर्णरूपसे दूर नहीं होतीं, परन्तु इनको यथायोग्य विषयोंमें नियुक्त कर सकने पर ये दोषजनक नहीं होतीं। सारांश यह कि वेगोंको उनके विषयोंसे हटाकर भक्तिके अनुकूल करना ही बुद्धिमानीका काम है। जैसे कामको सासांरिक विषयोंसे हटाकर कृष्णसेवामें, क्रोधको भक्त-द्वेषीके प्रति, लोभको सत्संगमें हरिकथामें, मदको कृष्णगुणगानमें तथा इसी प्रकार समस्त वेगोंको भगवद् विषयोंमें नियुक्त कर लेने पर ये बाधक नही होते, बल्कि सहायक होते हैं। परन्तु ऐसा तभी हो सकता है, जब कि धैर्यगुण हो।

प्रत्येक साधकमें धैर्य-गुण रहना आवश्यक है

'धैर्य'—शब्दको प्रयोग करनेका एक और भी तात्पर्य है। जो लोग साधन कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, वे लोग कुछ फल प्राप्त करनेकी कामना रखते है।

कर्मी कर्मकाण्डसे स्वर्ग-सुखकी आशा करता है। ज्ञानी ज्ञानकाण्डसे मुक्तिकी आशा करता है। और भक्त भक्ति-साधनसे कृष्णकी प्रसन्नता लाभ करनेकी आशा करता है। कुछ साधक ऐसे होते हैं, जो साधन करते-करते फल प्राप्त करनेमें देर होनेपर अधीर होकर परमार्थसे विच्युत हो पड़ते हैं। अतएव फलकी आशा कर जो भजन-प्रयासी व्यक्ति धैर्य अवलम्बन करते हैं, केवल वे ही फल प्राप्त करते हैं। आज हो, कल हो या सौ वर्ष बाद हो अथवा दस जन्मके बाद ही क्यों न हो, कभी-न-कभी कृष्ण मुझपर अवश्य ही दया करेंगे, मैं दृढ़तापूर्वक उनके चरणकमलोंका आश्रय करूँगा—उन्हें कभी नहीं छोड़ूँगा—भक्तिसाधकके लिये ऐसा धैर्य नितान्त वांछनीय है।

✪✪✪

विदेश प्रचार प्रसंग

श्रीभागवत पत्रिकाके पाठकोंको यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता होगी कि श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके सह–सभापति एवं साधारण सम्पादक परमाध्यतम त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजने अपनी पाँचवी विदेश यात्रा सफलतापूर्वक पूर्णकर सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा करते हुए ५–७–९८ को भारतवर्षकी राजधानी दिल्लीमें शुभ पदार्पण किया। २०–४–९८ को इस विश्व परिक्रमा प्रचार यात्राको श्रीमथुरा धामसे आरम्भकर नई दिल्ली तदनन्तर यूरोपके इंग्लैण्ड, हॉलैण्ड, फ्रान्स आदि विभिन्न देशोंसे होते हुए संयुक्त राज्य अमेरिकाकी राजधानी वाशिंगटन, न्यूयार्क, पेनसलवेनिया, पश्चात् ह्युस्टन, लासएन्जिल्स, सनफ्रान्सिस्को, बेजर, हवाई आदि अमेरिकाके प्रमुख महानगरोंसे जापानके टोकियो महानगरसे होते हुए दिल्ली और दिल्लीसे श्रीमथुरा धाममें कुल ७६ दिनोंमें श्रीशचीनन्दन गौरहरिकी विमल प्रेमवाणीका प्रचार करते हुए पूरा किया।

श्रीभागवत पत्रिकाके विगत अंकमें इस विश्व प्रचार यात्राके प्रारम्भिक भागका विवरण प्रकाशित किया जा चुका है। आगेका विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

मई मासके दूसरे सप्ताहमें श्रील महाराजजी इंग्लैण्डके वेल्स महानगरमें पहुँचे। यहाँ प्रायः तीन सौ भक्तोंका समूह ३–४ मृदंगोंके साथ उत्कंठापूर्वक कीर्तन करते हुए श्रील महाराजीके स्वागतके लिए प्रतीक्षा कर रहा था। श्रील महाराजजीके पावन दर्शन करते ही सभी भक्त उत्साहसे हरि बोल! हरि बोल! कर उच्च स्वरसे कीर्तन करने लगे। वेल्समें श्रील महाराजजीने वर्णाश्रम धर्मकी सामान्य शिक्षाओंसे लेकर विशुद्ध व्रज भक्तिके उच्चतम रसपूर्ण विचारोंको सुन्दर, सरल, सहज, बोधगम्य भाषामें श्रद्धालु भक्तोंके लिए परिवेशन किया। यहीं पर भक्तोंने श्रील महाराजके आनुगत्यमें श्रीश्रीनृसिंह चतुर्दशीके पावन व्रतका अनुष्ठान किया। दिनभर भक्त प्रवर प्रह्लाद महाराज एवं उनके आराध्य श्रीनृसिंहदेवके अप्राकृत चरित्रका अनुशीलन किया गया। श्रीप्रह्लाद महाराजकी निष्कपट एवं निस्वार्थ भगवत्–निष्ठा और जीवोंके प्रति उनकी करुणाका वर्णन करते हुए श्रील

महाराजजीने दिनमें तीन बार प्रवचन दिया। सन्ध्यामें श्रीनृसिंहदेवके शुभाविर्भावके उपलक्ष्यमें महाभिषेक एवं भक्तिपूर्ण कीर्तन सहित उत्सव मनाया गया। भक्तोंके अतिरिक्त कई विदेशी अतिथि भी इस शुभ अवसरपर उपस्थित थे। सभी भक्तोंने श्रद्धासहित भवबन्धनका नाश कर देनेवाले परम दिव्य कथारस एवं प्रसादका सेवन किया। वेल्समें भक्तोंके प्रसाद एवं रहने आदिकी व्यवस्थाके लिए श्रीश्यामसुन्दर दासाधिकारी, श्रीज्ञानदास दासाधिकारी, श्रीराधारमण दासाधिकारी, रघुनाथभट्ट दासाधिकारी, श्रीमती विशाखा देवी दासी, श्रीमती आनन्दिनी देवी दासी, श्रीमती अनंग देवी दासी आदिकी सेवा विशेष सराहणीय है।

वेल्सके बाद श्रील महाराज बर्मिंघममें दो दिन रुके। यहाँ एक विशाल धर्मसभाका आयोजन किया गया। इस धर्मसभामें कुछ विदेशी भक्तोंने भी गौड़ीय वैष्णव धर्मके सम्बन्धमें सुन्दर विचारोंको प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् श्रील महाराजजीने वैदिक संस्कृतिकी शिक्षाओंको क्रोड़ीभूत करते हुए तत्त्वपूर्ण भाषण दिया। सभामें आए कई अतिथियोंने श्रील महाराजजीसे विभिन्न प्रश्न भी किए। वर्तमान समयमें सम्भावी विश्व युद्धको लेकर अधिकांश जनसमुदाय विशेषकर पाश्चात्य देशोंमें बहुत ही भयभीत है। इस भयका निवारण करते हुए श्रील महाराजजीने कहा कि इस विदेश यात्रामें सर्वत्र ही मैं सुन रहा हूँ कि एक भयंकर युद्ध होनेवाला है, सभी लोग मारे हो जायेंगे। अब क्या किया जाय? कहाँ जाकर शरण ली जाय? लोग अपनी सम्पत्ति बेचकर दूर-दूर स्थानोंपर जाना चाहते हैं, जहाँ कि युद्धका असर न हो। इस प्रकार सभी लोग भयभीत हो रहे हैं। हम लोगोंको इन सब समस्याओंसे भयभीत नहीं होना चाहिए। सृष्टिके प्रारम्भसे ही ये समस्याएँ वर्तमान हैं। हम सभी सब समय सुखी रहना चाहते हैं और चाहते हैं कि किसी भी प्रकारकी समस्याओंका हमें सामना न करना पड़े। पर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे देखते हैं कि हम स्वयं इन समस्याओंको आमन्त्रित करते हैं। भगवान इन समस्याओंको नहीं बनाते। आजका मानव अत्यन्त स्वार्थी हो गया है। वे चाहते हैं कि हम विनाशकारी हथियार बनाएँ, किन्तु अन्य कोई हथियार न बनाए। मैं झूठ बोलूँ, किन्तु और सभी सत्य बोलें; मैं अत्याचार करूँ किन्तु और सब दयावान बने। विज्ञानके चमत्कारसे संसार एक मुट्ठीमें आ गया है। किन्तु सुविधाओंके साथ-साथ विज्ञानकी उन्नतिने अभिशापका भी रूप लिया है। आपसी प्रेम और सद्भावना समाप्त हो चुकी है। पड़ोसमें कहीं चिता जल रही है, तो साथ ही में विवाहकी शहनाईयाँ बज रही हैं। पति-पत्नीमें विश्वास नहीं रहा। विनाशकारी हथियार बनाए किसने? उन्हीं लोगोंने जो आज बैठकर शान्तिकी बातें करना चाहते हैं। इसलिए समस्याएँ हम लोग स्वयं ही पैदा करते हैं। अतएव इन सब समस्याओंसे बचनेका केवल एक ही उपाय है। और वह है 'भगवद्भक्ति'। हमें भगवानमें विश्वास करना ही होगा। प्राणीमात्रको भगवानका अंश जानकर सबके प्रति प्रीतिकी भावना रखनी होगी। आज गाय एवं अन्य पशुओंका वध क्यों किया जा रहा है? इन सब कुकर्मोंका कुफल भी तो होगा। युद्ध क्यों नहीं होंगे? इससे वे लोग ही प्रभावित होंगे जो इस प्रकारके शास्त्र-विरूद्ध कर्म कर रहे हैं। और जो लोग भगवानके पावन नामका कीर्तन एवं स्मरण करेंगे, उन्हें किसी प्रकारका भय व्याप्त नहीं करेगा। हम सभी इस संसारमें बहुत कम समयके लिए आये हैं। मृत्यु अवश्यम्भावी है। आज नहीं तो कल मरना ही है। तब इन बातोंसे क्या डरना? कोई अस्त्र-शस्त्र आत्माको स्पर्श नहीं कर सकता। आत्मा नित्य, अजर-अमर है। इसलिए धैर्यपूर्वक हमें भगवद्

स्मरण करना चाहिए। इतिहासमें कितनी बार विध्वंसकारी युद्ध हुए हैं और तत्पश्चात् पुनः सृष्टि हुई है। एक भी आत्मा इससे प्रभावित नहीं हुई। इसलिए सभीको 'हरे कृष्ण' महामन्त्रका जप करना चाहिए। यह मन्त्र अत्यन्त शक्तिशाली है। लाखों हाइड्रोजन बम भी उस व्यक्तिका कुछ नहीं बिगाड़ सकते जो हरिनाम करता है। और इसके विपरीत दुष्ट आचरण करनेवाले सब समय भयभीत रहते हैं। इस प्रकार श्रील महाराजजीके दिव्य शक्ति सम्पन्न भाषणको श्रवण कर सभी उत्साह एवं आनन्दसे कीर्तन करने लगे।

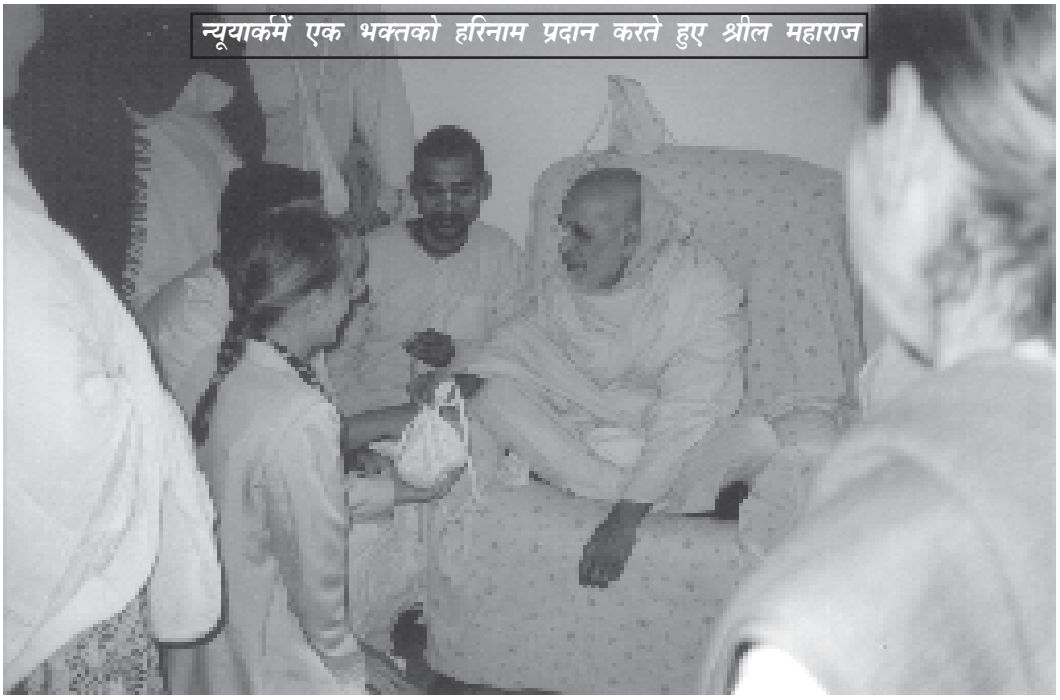

न्यूयार्कमें एक भक्तको हरिनाम प्रदान करते हुए श्रील महाराज

बर्मिंघममें रहनेवाले भक्तोंने श्रील महाराजजीसे वहाँ एक स्थायी प्रचार केन्द्र स्थापित करनेके लिए विनम्रतापूर्वक निवेदन किया। श्रील महाराजजीने बतलाया कि पिछले वर्ष श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके अन्तर्गत यहाँ 'श्रीगौर–गोविन्द गौड़ीय मठ' की स्थापना की जा चुकी है। यह सुनकर उपस्थित भक्तों एवं लोगोंने उत्साहके साथ घोषणा की कि वे मठके प्रचार कार्योंमें पूर्णरूपसे सहयोग देंगे और वहाँ समितिके अपने एक नए स्थानमें श्रीमन्दिर, नाट्यमन्दिर तथा सेवक खण्डका निर्माण करेंगे। यहाँ प्रचार सेवामें समस्त व्यवस्थाके लिए श्रीगोविन्दभक्त ब्रह्मचारी और श्रीपटेल परिवारका सहयोग विशेष रूपसे सराहनीय है। इस प्रकार बर्मिंघममें सफलतापूर्वक प्रचार करके श्रील महाराजजी अमेरिकाकी राजधानी वाशिंगटनके लिए प्रस्थान किए। ३४००० हजार फीटकी ऊँचाईपर उड़ती हुई नार्थ वेस्ट एअरलाईन्सकी एमस्टर्डमसे वाशिंगटनकी उडानमें श्रील महाराजजीने विमानमें ही एक विमान परिचारिकाको हरिनाम भी दिया। महाराजजीके साथ छह–सात भक्त इस विमानमें यात्रा कर रहे थे। भक्तोंकी वेशभूषा देखकर सभी

यात्री चकित हो रहे थे। इसी क्रममें वह विमान परिचारिका अपनी उत्कंठाको रोक न सकी और जिज्ञासा करनेपर एक भक्तने हमारा परिचय देते हुए विशुद्ध सनातन धर्म एवं श्रील महाराजजीके सम्बन्धमें उसे बतलाया। हरिकथा एवं श्रील महाराजजीके अप्राकृत चरित्रका श्रवण कर बेबेटा नामकी वह विमान परिचारिका अत्यन्त प्रभावित हुई और उसने श्रील महाराजजीके चरणोंमें निवेदन किया कि वह भी इस विमल प्रेम धर्मका पालन करना चाहती है। उसने यह भी बतलया कि वह शाकाहारी है और किसी मादक द्रव्यका सेवन भी नहीं करती। इसपर श्रील महाराजजीने उसे कृपापूर्वक हरिनाम एवं कण्ठी माला प्रदान की।

वाशिंगटन हवाई अड्डेपर श्रील महाराजजीके पदार्पण करते ही वहाँ उत्कंठासे प्रतीक्षा कर रहे भक्तोंमें आनन्दकी लहर दौड़ गई। सभी उच्च स्वरसे श्रील महाराजजीका जयगान करते हुए नृत्य-कीर्तन करने लगे। कीर्तनकी ध्वनिसे सारा वातावरण गुंजायमान होने लगा एवं उपस्थित यात्रीगण उत्सुकतापूर्वक श्रील महाराजजीकी ओर निहारने लगे। वाशिंगटनमें एक सप्ताह तक श्रील महाराजजीने श्रीमद्भागवत एवं श्रीचैतन्यचरितामृत आदि शुद्ध भक्तिग्रन्थोंसे भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थासे लेकर क्रमशः उच्चतम घनीभूत अवस्थाओंका वर्णन किया। भक्तिके ऐसे सूक्ष्म विचारोंको श्रवणकर सभी भक्त चकित हो गए। यहाँ एक दिन भक्तोंने प्रसिद्ध व्हाईट हाऊसके निकट नगर संकीर्तन भी किया। भक्त बालक-बालिकाओंने कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किए, जिसमें हरिदास ठाकुर आदिके अप्राकृत एवं दिव्य चरित्रोंको दर्शाया गया।

२० मईको श्रील महाराजजी भक्तोंके साथ पेनसलवेनिया पहुँचे। प्रायः तीन घंटेकी यह यात्रा श्रील महाराजजीने मोबाईल हाऊसमें तय की। बसके आकारके इस गाड़ीको भक्तोंने इस प्रकार बनाया है कि मानो घरको उठाकर पहियोंके ऊपर रख दिया हो। गाड़ीके भीतर ही सोनेके लिए पलंग, रसोई घर, शौचालय, स्नानागार, फ्रीज एवं बैठक आदिकी व्यवस्था भी है। इसी प्रचार वाहनके द्वारा गीता नगरी नामक अगले गतव्य स्थानमें पहुँचा गया। गीता नगरीमें श्रील महाराजजीने श्रीउपदेशामृत एवं श्रीचैतन्यचरितामृतमेंसे राय रामानन्द संवाद पर प्रवचन किया।

२४ मईको श्रील महाराजजी न्यूर्यार्कमें पहुँचे। न्यूयार्क महानगरके बीचों-बीच स्थित सबसे घनी आबादीवाले क्षेत्र मैनहटनमें पूज्यपाद भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीके शिष्य स्वामी कीर्तनानन्दके आश्रममें श्रील महाराजजीको आमन्त्रित किया गया। यहाँ निकट ही में टामकिन्स स्केअर पार्क है, जहाँ पूज्यपाद भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीने पञ्चतत्त्वका कीर्तनकर सर्वप्रथम प्रचार आरम्भ किया था। एक दिन समस्त भक्तोंके साथ संकीर्तन करते हुए श्रील महाराजजीने इस पार्कमें जाकर उस वृक्षको प्रणाम कर श्रीभक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीके प्रति अपनी श्रद्धा पुष्पाञ्जलि अर्पित की, जिसके नीचे वे कीर्तन करते थे। वाशिंगटन, पेनसेल्वेनिया और न्यूयार्कमें प्रचार सेवामें श्रीअतुलकृष्ण दासाधिकारी, श्रीमुकुन्द दासाधिकारी, श्रीतरुणकृष्ण दासाधिकारी, श्रीपुरुदास दासाधिकारी, श्रीमती प्रह्लादानन्द देवी दासी, श्रीकीर्तनानन्द स्वामी, आदि भक्तोंका सहयोग स्मरणीय है।

२७ मईको श्रील महाराजजी न्यूयार्कसे ह्युस्टन पहुँचे। यहाँ भी हवाई अड्डेपर भव्य स्वागतके पश्चात् श्रील महाराजजीको मसूरी शहरमें ले जाया गया, जहाँकी उनके ठहरनेकी व्यवस्था की गई थी। ह्युस्टनमें श्रील महाराजजी एक सप्ताहतक रुके। यहाँ चार दिन श्रील महाराजजीने 'हिन्दु वर्शिप सोसाईटी' में श्रीमद्भागवतपर प्रवचन किया।

बीच–बीचमें भक्तोंके घरमें पाठ–कीर्तनका अनुष्ठान होता था। ह्युस्टन यात्रामें विशेष बात यह थी कि यहाँ श्रील महाराजजीने हिन्दी भाषामें ही प्रवचन दिए। ह्युस्टनमें पचास हजार भारतीय हैं। प्रवचनोंमें श्रील महाराजजीने सभी भारतीयोंको अपनी गौरवपूर्ण भारतीय संस्कृतिको बनाए रखनेपर बल दिया। उन्होंने कहा कि बच्चोंमें भी छोटी उम्रसे ही वैदिक संस्कारोंको डालना चाहिए। श्रील महाराजजीने दो–चार नवजात शिशुओंका वैदिक रीतिसे 'अन्नप्राशन' संस्कार भी कराया। कुछ भारतीयोंने श्रील महाराजजीसे हरिनाम एवं दीक्षा भी ग्रहण की। यहाँ प्रचार सेवाके समस्त व्यवस्थाके लिए श्रीविष्णुदास दासाधिकारी, श्रीसुरेश अग्रवाल, श्रीमती आरति देवी दासी, श्रीमती विमला देवी दासी, श्रीमती विनोदिनी वर्मा आदि भक्तोंका सहयोग सराहनीय है।

३ जूनको श्रील महाराजजी ह्युस्टनसे कैलिफोर्निया स्थित लासएन्जिल्स महानगरीमें पहुँचे। यहाँ पर प्रायः २५–३० भक्त श्रील महाराजजीकी अगवानीके लिए हवाई अड्डेपर संकीर्तन करते हुए प्रतीक्षा कर रहे थे। श्रील महाराजजीके दर्शन करते ही सभी उत्साहसे हरि बोल! हरि बोल! करते हुए नृत्य करने लगे। यहाँ श्रील महाराजजी समुद्र तटके निकट 'मरीना डेलरे' में रुके। यहाँ प्रवचनके लिए भक्तोंने बोट हाऊसकी व्यवस्था की थी। बन्दरगाह पर जलमें बने इस बोट हाऊसमें पाठ–कीर्तनके लिए एक बड़ा हॉल है। इसमें प्रायः ३०० भक्त लोग आरामसे बैठ सकते थे। यहाँ भी लगभग तीन–चार हजार कि. मी. तक की दूरी तय कर भक्त लोग श्रील महाराजजीके प्रवचनोंका लाभ उठानेके लिए एकत्र हुए। कई भक्त यूरोपके विभिन्न देशों, कनाडा, आस्ट्रेलिया, फिजी एवं दक्षिण अमेरिकासे आये थे।

यद्यपि इस्कॉनके व्यवस्थापकगण सर्वत्र ही श्रील महाराजजीके प्रचारका खुला विरोध कर रहे है, श्रील महाराजजीने निर्णय लिया कि वे अवश्य ही मन्दिरमें जाकर पूज्यपाद स्वामी महाराजके प्रति अपनी श्रद्धा पुष्पाञ्जलि अर्पित करेंगे। पूज्यपाद स्वामी महाराजजीके अधिकांश शिष्य एवं अनुयायी श्रील महाराजजीकी प्रभावी हरिकथाको श्रवणकर आकर्षित हुए हैं और हो रहे हैं। इस्कॉनके व्यवस्थापक इस बातसे बहुत ही घबराए हुए हैं। इस्कॉनने इसीलिए खुली घोषणा कर दी है कि "यदि इस्कॉन अथवा इस्कॉनसे सम्बन्धित कोई व्यक्ति श्रील नारायण महाराजकी हरिकथा श्रवण करने जायेगा तो उसे सदाके लिए इस्कॉनसे बहिष्कृत कर दिया जायेगा। इस्कॉनके प्रचार केन्द्रोंमें भी उन्हें आनेकी अनुमति नहीं दी जायेगी। इस्कॉनके इस विपरित आचरणको देखते हुए श्रील महाराजजीने मन्दिरके बाहरसे श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीको अपनी श्रद्धा पुष्पाञ्जलि अर्पित की। लासएन्जिल्समें एक दिन श्रील महाराजजीने श्रीराधारमण वैदिक मन्दिरमें हिन्दी भाषामें प्रवचन किया। इस सभामें प्रायः ५०० से अधिक भारतीय, विदेशी भक्त एवं श्रद्धालुजन एकत्रित हुए। यहाँ प्रचार व्यवस्थाके लिए श्रीऋषभदेव दासाधिकारी, कुमारी गौरांगी देवी दासी आदिकी सेवा विशेषरूपसे सराहनीय है।

१० जूनको परमाध्यतम श्रील महाराजजी कैलिफोर्निया स्थित लासएन्जिल्ससे सनफ्रान्सिस्को पहुँचे। सनफ्रान्सिस्को हवाई अड्डेपर भक्तोंका विशाल समूह श्रील महाराजजीकी उत्कंठासे प्रतीक्षा कर रहा था। श्रील महाराजजीनके दर्शन पाते ही सभी भक्त आनन्दसे उच्चस्वरमें कीर्तन एवं नृत्य करने लगे। कुछ भक्तोंकी आँखोंमें आनन्दके अश्रु भी उमड़ आए। इस समूहमें नित्यलीलाप्रविष्ट श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीके कई वरिष्ठ शिष्य भी सम्मिलित थे। सभीने फूल

मालाओंसे श्रील महाराजजीके मुखारविन्दको ढक दिया। सनफ्रान्सिस्को हवाई अड्डेसे प्रायः ४० कि. मी. कार द्वारा यात्रा कर 'सनफ्रान्सिस्को बे' पार कर 'ओकलैण्ड' पहुँचा गया। यहीं पर श्रील महाराजजीके लिए एक सप्ताहका कार्यक्रम आयोजित किया गया था। सुन्दर पहाड़ोंसे घिरे हुए इस स्थानके बीचमें एक क्रिश्चन मोनेस्टरीमें भक्तोंने पाठ-कीर्तन एवं श्रील महाराजजीके

ओकलैण्डमें भक्त मण्डलीके साथ श्रील महाराज

निवासकी व्यवस्था की थी। सम्पूर्ण अमेरिका एवं यूरोप आदि देशोंसे प्रायः ३०० भक्तोंका समूह यहाँ एकत्र हुआ।

एक सप्ताहके इस कार्यक्रममें श्रील महाराजजीने प्रातःकालके प्रवचनोंमें श्रील भक्तिविनोद ठाकुरकृत 'भक्तितत्त्वविवेक' ग्रन्थका पाठ किया। शुद्धभक्तिका स्वरूप जानकर यथार्थरूपमें साधन करनेसे अनायास ही भवसागरको पार करके चरम प्रयोजन रूप कृष्णप्रेमको प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु शुद्ध भक्तिका स्वरूप न जाननेके कारण कनक, कामिनी और प्रतिष्ठाके फेरेमें पड़कर व्यक्ति भक्तिके आभास या प्रतिबिम्बको भक्ति मानकर भक्तिके यथार्थ फलसे वंचित हो जाते हैं। श्रील महाराजने इसी सन्दर्भमें छल भक्ति, आभास भक्ति, प्रतिबिम्ब भक्ति, कर्ममिश्रा भक्ति, ज्ञानमिश्रा भक्ति, आरोप सिद्धा भक्ति, संगसिद्धा भक्ति और स्वरूपसिद्धा भक्ति आदिकी विशदरूपसे विवेचना की। भक्तिके ऐसे सूक्ष्म विचारोंको श्रवणकर सभी भक्त अपनेको अत्यन्त कृतार्थ अनुभव करने लगे। सन्ध्याके प्रवचनोंमें श्रीमद्भागवतका प्रारम्भसे पाठ हुआ। क्रमशः शुक-परीक्षित, व्यास-नारद आदि संवादोंके माध्यमसे श्रील महाराजजीने गुरु-तत्त्व, भक्ति-तत्त्व,

माया-तत्त्व, जीव-तत्त्व, रस-तत्त्व, साध्य एवं साधन तत्त्व, कृष्ण-तत्त्व आदिकी व्याख्या करते हुए ब्रजवासियोंकी कृष्णके प्रति अनुरागजनित विमल प्रीतिका वर्णन किया। समस्त वेद एवं अन्य शास्त्र समूहमें सर्वत्र ही देखा जाता है कि भक्त भगवानकी सेवा-पूजा करते हैं। किन्तु श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है कि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण भक्तोंकी सेवा-पूजा करते हैं। ब्रजगोपियों विशेषकर कृष्णकान्ता शिरोमणि श्रीमती राधिकाके अपूर्व प्रगाढ़ महाभाव आदिके सामने तो स्वयं कृष्ण अपनेको पराजित अनुभव कर कह उठते हैं 'न पारयेऽहं निरवद्य संयुज्या' इस प्रकार व्रजगोपियोंकी अद्वितीय कीर्तिका गान कर ग्रन्थराज श्रीमद्भागवत सर्वश्रेष्ठ पुराणके रूपमें सम्मानित हुए हैं। यहाँ प्रचार सेवामें श्रीराधाकान्त दासाधिकारी, श्रीजनार्दन दासाधिकारी, श्रीजयदेव ब्रह्मचारी, श्रीमति रतिकला देवी दासी आदि भक्तोंका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

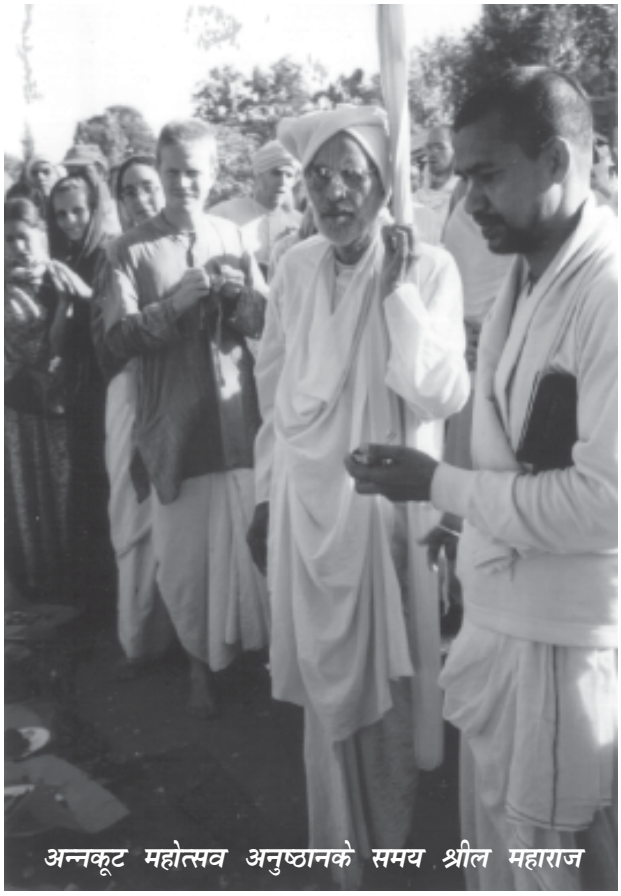

अन्नकूट महोत्सव अनुष्ठानके समय श्रील महाराज

१७ जूनको परमाराध्यतम श्रील महाराजजी ओकलैण्डसे बेजर पहुँचे। चारों ओर पहाड़ोंसे घीरे इस स्थानको भक्तोंने विभिन्न प्रकारके फल एवं फूलोंके वृक्षोंसे सजा रखा है। निकट ही घाटीमें एक नदी भी बहती है। गत वर्ष श्रील महाराजजीने श्रीगिरिराजजीकी स्थापना कर इस स्थानका नाम न्यु ब्रज रखा था। सभी भक्तोंने श्रील महाराजजीके आगमनपर विशेष स्वागत समारोहका आयोजन किया। बहुत दूरसे ही कीर्तन करते हुए भक्तोंकी टोलीके बीचमें श्रील महाराजजीकी गाड़ीको सभा मण्डपकी ओर लाया गया। कीर्तन ध्वनिसे मानो आकाश गुंजायमान हो रहा था। गाड़ीसे बाहर निकलते ही श्रील महाराजजी पर पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी। उच्चस्वरसे सभी भक्त श्रील महाराजजीका जयगान करने लगे। सभा मण्डपमें पहुँचकर श्रील महाराजजीके आसन ग्रहण करनेके उपरान्त विधिवत् गुरुपूजा एवं श्रीचरण अभिषेक किया गया। इसके पश्चात् मुख्य-मुख्य वक्तोओंने श्रील महाराजके शुभागमनसे प्राप्त आनन्द और श्रील महाराजजीकी अनुपस्थितिमें किस प्रकार सभी भक्त लोग विरहसे कातर होकर श्रील महाराजकी प्रतीक्षा कर रहे थे, आदि भावोंको खुशी और दुःखसे मिश्रित अश्रूपूर्ण नेत्रोंसे अन्त्यन्त मार्मिक शब्दोंमें वर्णन किया। भक्तोंकी ऐसी ममतापूर्ण भावनाओंकी

अभिव्यक्तिको श्रवणकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो अब इनके जीवनका और कुछ उद्देश्य नहीं रह गया, केवल श्रील महाराजजीकी अनुपस्थितिमें उनके आनेकी प्रतीक्षा और श्रील महाराजजीके आनेपर परमहर्षके साथ यह चिन्ता कि शीघ्र ही श्रील महाराजजी चले जायेंगे। अन्तमें श्रील महाराजजीने अमृतमयी वाणीके द्वारा सभी भक्तोंमें एक नए उत्साहका संचार किया और एक सप्ताहके इस भक्ति अधिवेशनसे पूर्णतम लाभ उठानेको कहा। न्यू व्रजमें सात दिनके कार्यक्रममें पाठ-कीर्तनके साथ-साथ एक दिन श्रील महाराजजीके आनुगत्यमें श्रीगिरिराजजीके अन्नकूट महामहोत्सवका विधिवत् अनुष्ठान हुआ। प्रायः ३०० प्रकारके समस्त व्यंजनोंका भोग श्रीगिरिराजजीको निवेदन किया गया। इससे पूर्व गो पूजा भी की गई। यह अनुष्ठान श्रील महाराजजीने स्वयं अपने हाथोंसे सम्पन्न किया। श्रीअन्नकूट महोत्सवके अतिरिक्त वैदिक रीतिसे श्रीविग्रह-प्रतिष्ठा, यज्ञोपवीत आदि संस्कार भी सम्पन्न हुए। प्रतिदिन भक्त बालक-बालिकाओंके द्वारा श्रीमन्महाप्रभु और श्रीराधा-कृष्णकी लीलाओंको अभिनयके माध्यमसे प्रस्तुत किया जाता था। श्रीमन्महाप्रभुकी संन्यास ग्रहण लीला और श्रीकृष्ण-विरहणी गोपियोंसे उद्धवजीका वार्तालाप आदिके प्रसंगने तो सभीके हृदयको स्पर्श कर लिया। श्रील महाराजजीने सभी भक्तोंको विशेष आशीर्वाद दिया और इन लीलाओंके निगूढ़ भावोंको हृदयंगम करनेके लिए कहा। न्यू ब्रजमें श्रील महाराजजीने श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी कृत 'मनःशिक्षा' और ग्रन्थराज 'श्रीमद्भागवत' का पाठ किया। प्रह्लाद महाराज, अम्बरीष महाराज, चित्रकेतु उपाख्यान आदिके पश्चात् दशम स्कन्धसे श्रीकृष्णकी मधुर बाल लीलाओंका और कैशोर लीलाओंका वर्णन किया। इस वर्ष न्यू व्रजमें कुछ नए भक्त भी आए हुए थे। इनमेंसे कुछ श्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीके पुराने शिष्य थे जो कि साधु-संगके अभावमें भक्तिपथसे अलग-थलग हो गए थे। श्रील महाराजजीकी वीर्यवती हरिकथा और प्रभावशाली संगसे सभीमें नवजीवनका संचार हुआ। सभीने पुनः नवीन उत्साहके साथ भक्तिके नियमोंको पालन करनेका प्रण लिया। अन्तिम दिन सभी भक्तोंके साथ भेंट करते हुए श्रील महाराजजीने प्रचार कार्यसे सन्तुष्ट होकर सभी भक्तोंको विशेष आशीर्वाद दिया।। श्रीनिर्गुण दासाधिकारी, श्रीनन्दगोपाल दासाधिकारी, श्रीव्रजेन्द्रनन्दन दासाधिकारी, श्रीगोपवृन्दपाल दासाधिकारी उनकी पत्नियोंसहित सहायक भक्तोंको श्रील महाराजजी और प्रायः ३५० भक्तोंके प्रसाद एवं ठहरनेकी सुन्दर व्यवस्था करनेके लिए विशेष धन्यवाद दिया और कहा कि न्यु व्रजको इस रूपमें विकसित किया जाय यह स्थान सम्पूर्ण विश्वमें भक्त समाजके लिए एक आदर्श केन्द्रके रूपमें स्थापित हो। बच्चोंके चर्तुमुखी विकासके लिए भक्तों द्वारा परिचालित विद्यालयकी स्थापना की जाय। सभी भक्त आपसमें मिल-जुलकर इस प्रकार व्यवस्था बनाएँ कि सभीको अपनी योग्यतानुसार भगवत्-सेवाका सुयोग प्राप्त हो। सभी भक्तोंने श्रील महाराजजीके सुझावोंको स्वीकार कर कार्यान्वित करनेकी चेष्टा करनेका आश्वासन दिया। इसके पश्चात् सजल नेत्रोंसे विदाई देते हुए श्रील महाराजजीको विनम्र अनुरोध किया कि अगली बार अधिक समयके लिए न्यु ब्रजमें आवें।

२५ जूनको श्रील महाराज जी न्यु ब्रजसे सनफ्रान्सिस्को पहुँचे। अगले दिन २६ तारीखको सनफ्रान्सिस्कोसे 'हवाई' की यात्रा कर सन्ध्याको होनालुलु हवाई अड्डेपर उतरे। कीर्तन करती हुई भक्त मण्डलीके साथ पत्रकार श्रीइन्दरलाल कपूर श्रील महाराजजीकी प्रतीक्षा कर रह थे। हवाई अड्डेसे श्रीकपूरजी श्रील महाराजजीको अपने

निवासस्थान पर ले गए। श्रीइन्दरलाल कपूर पिछले ३० वर्षोंसे अमेरिकामें ही निवास कर रहे हैं। वे इससे पूर्व पत्रकारके रूपमें पण्डित जवाहरलाल नेहरुके साथ छह वर्ष, श्रीमती इन्दिरा गान्धीके साथ दो वर्ष और भारतमें ही पी.टी.आई. के विशेष संवाददाताके रूपमें दस वर्ष तक कार्यरत रहे। किन्तु अब अध्यात्मकी ओर रुचि बढ़नेके कारण साधु–सन्तोंकी कृपा पानेके लिए लालायित रहते हैं। श्रील महाराजजीके साथ श्रीकपूरजीकी विभिन्न आध्यात्मिक विषयोंको लेकर सुन्दर तत्त्वपूर्ण चर्चाएँ हुईं। भगवान निराकार हैं या साकार? भक्ति और भक्तिरसमें क्या वैशिष्ट्य है? श्रीतुलसीकृत रामायण और श्रीवेदव्यासकृत श्रीमद्भागवतमें क्या समानता है? आदि विषयोंपर श्रील महाराजजीके विचार श्रवणकर श्रीकपूरजी बहुत प्रसन्न हुए। श्रील महाराजजीने उन्हें कुछ शुद्धभक्ति ग्रन्थ भी भेंट किए। अगले दिन श्रील महाराजजी यहाँसे 'ओवहु' द्वीपके दूसरे छोरमें समुद्रतटपर स्थित श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीके शिष्य श्रीवृन्दावनदासके निवास स्थानपर पहुँचे। यहाँ पर हवाई द्वीपके विभिन्न क्षेत्रोंसे प्रायः ५० भक्त श्रील महाराजजीके दर्शन एवं हरिकथा श्रवणके लिए एकत्रित हुए थे। अधिकांश भक्तोंने प्रथम बार श्रील महाराजजीका साक्षात्कार किया। यहाँ श्रील महाराजजीने साध्य और साधन तत्त्वके सम्बन्धमें प्रवचन दिए। 'ओवहु' द्वीपसे अगले दिन प्रायः आधे घण्टेकी हवाईयात्रा कर श्रील महाराजजी 'मावी' द्वीप पहुँचे। मावीमें भक्तोंने समुद्रतटपर वृक्षोंसे घीरे एक स्थानमें पाठ, कीर्तन एवं ठहरनेके लिए सुन्दर व्यवस्था कर रखी थी। मावी हवाई अड्डेपर भव्य कीर्तनके द्वारा श्रील महाराजजीका स्वागत किया गया। फूलोंकी मालाएँ इस विशेष प्रकारसे गुंथी गई थी कि मानो रंग बिरंगे आभूषण हों। मावीमें चार दिनोंका कार्यक्रम रखा गया था। एक दिन उपनयन संस्कार भी हुआ और कुछ भक्तोंको हरिनाम एवं दीक्षा मन्त्र आदि दिए गए। एक दिन श्रीचैतन्यचन्द्रोदय ग्रन्थ पर आधारित एक अभिनय भी प्रस्तुत किया गया। यहाँ प्रायः १०० भक्त एकत्रित हुए। अधिकांश ही श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त स्वामी महाराजजीके शिष्य थे। कई वर्षोंसे साधुसंगके अभावमें अनेक भक्त तो भक्ति पथसे विच्युत हो गए थे। श्रील महाराजजीका संगलाभ कर इनमें भी नया उत्साह उदित हुआ। सभीने श्रील महाराजके प्रति अश्रुपूरित नेत्रोंसे कृतज्ञता व्यक्त की। सभीने पुनः पुनः निवेदन किया कि अगली बार श्रील महाराजजी हवाईमें अवश्य आवें और अधिक दिनके लिए आवें एक भक्तने श्रील महाराजजी प्रति अपनी भावनाएँ व्यक्त करते हुए कहा—"मैं श्रीश्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजीको हृदयसे धन्यवाद देना चाहता हूँ कि उन्होंने यहाँ मावीमें आकर हम सबपर कृपा की। श्रील महाराजजीने वास्तवमें ही हमारे द्वीपोंका बदल दिया है। २५ वर्ष पूर्व मेरे गुरुदेव श्रीश्रीमद्भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपादने एक आध्यात्मिक घरका निर्माण किया था। उन्होंने स्वयं उस घरमें बिजलीकी तारें, पंखे और प्रकाश आदिकी व्यवस्था की थी। श्रील प्रभुपादके अप्रकट होनेके पश्चात् धीरे–धीरे उस घरकी समस्त व्यवस्था बिगड़ने लगी। पंखे बंद हो गए, प्रकाश भी लुप्त हो गया। मेरे अनुरोध करनेपर कई बार कॉन्ट्रेक्टरने बिगड़ी व्यवस्थाको ठीक करानेकी अस्थाई चेष्टाएँ की, किन्तु वह विफल रही। तब एक दिन मुझे फाईलोंके ढेरमें से एक कागज मिला। जिसमें लिखा था। कि इस घरका निर्माण अत्यन्त दक्ष इंजीनियरके द्वारा हुआ है और इस पर जीवन भरकी गारंटी भी दी गई है। इसलिए कोई भी असुविधा होनेपर कंपनीका ही प्रतिनिधी आकर समस्त व्यवस्थाको ठीक करेगा। मैं श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजीको उस कंपनीके सच्चे प्रतिनिधीके रूपमें स्वीकार करता हूँ। उस कंपनीकी स्वामीनी है श्रीमती राधिका। मैं गर्वके साथ श्रील महाराजजीको अपने शिक्षा गुरुके रूपमें वरण करता हूँ और हर्षके

साथ यह घोषणा करता हूँ कि पुनः श्रील महाराजजीकी कृपासे घरके सभी सदस्य घरमें लौट आए हैं और पंखे, प्रकाश आदि सभी सुविधाएँ पुनः सुचारु रूपसे चल रही हैं। मैं इस अवसर पर श्रील महाराजजीके साथ यात्रा कर रहे भक्तोंको भी विशेष धन्यवाद देता हूँ।" गदगद् कण्ठसे इस प्रकार भावपूर्ण अभिव्यक्ति श्रवण कर उपस्थित सभी भक्त उच्च स्वरसे हरि बोल! हरि बोल! करने लगे। 'हवाई' में प्रचारकी व्यवस्थाके करनेके लिए श्रीवृन्दावन दासाधिकारी, श्रीकेदारदास दासाधिकारी, श्रीचिरंजीव दासाधिकारी, श्रीचैतन्यचन्द्र दासाधिकारी, सपत्नीक श्रीइन्दरलाल कपूर, श्रीमती सेवानन्दिनी दासी, श्रीमती निलांचलादेवी दासी, श्रीमती मंजुवासिनी देवी दासी आदि भक्तोंका सहयोग विशेषरूपसे सराहनीय है।

इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिकामें सर्वत्र ही सफलतापूर्वक सभीके हृदयमें व्रजभक्तिके प्रति लोभ जाग्रतकर श्रील महाराजजी ४-७-९८ को जापानकी राजधानी टोक्यो पहुँचे। वहाँसे अगले दिन नई दिल्लीकी यात्रा कर सन्ध्यामें इन्दिरा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हवाई अड्डेपर शुभ पदार्पण किया।

प्रचार सेवामें युरोपमें सुबल सखा ब्रह्मचारी, इंग्लैण्डमें सपत्नीक भूधर दासाधिकारी, सपत्नीक श्रीयशोदानन्दन दासाधिकारी, अमेरिकामें श्रीरामचन्द्र दासाधिकारी और सर्वत्र ही श्रीनवीनकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीपुण्डरीक ब्रह्मचारी, श्रीधीरकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीव्रजनाथ दासाधिकारी, श्रीप्रेमप्रयोजन ब्रह्मचारी, श्रीगोविन्दभक्त ब्रह्मचारी एवं श्रीमती वृन्दादेवी दासी तथा श्रीमती तुंगविद्या देवी दासीका सहयोग सराहनीय है। इस सेवाके द्वारा निश्चित ही ये भक्त समितिके स्नेहके पात्र बने हैं।

✪✪✪

लालू और कालू

एक दुकानदारके लालू एवं कालू नामके दो पुत्र थे। दोनों पुत्रोंको तौलनेका काम आ जाए उसके लिए दुकानदारने एक शिक्षककी व्यवस्था कर दी। दोनों बालक ऐसे दुर्दान्त थे कि अनेक शिक्षक बदल जाने पर भी वे गिनती करना नहीं सीख पाये। अन्तमें दुकानदारने घोषणा की कि जो शिक्षक मेरे दोनों पुत्रोंको गिनतीकी सीखा देगा तो उसे अपनी आमदनीका आधा हिस्सा उसे दे दुँगा।

दुकानदारके ऐसे गुणीधर (१) पुत्रोंने चोरीसे तम्बाकू खानेका अभ्यास कर लिया था। दुकानदारके विज्ञापनसे लुब्ध होकर एक दरिद्र ब्राह्मण लालू-कालूको शिक्षा देनेके लिए आया। लाल-कालूके पिताने कड़ी व्यवस्था कर दी कि हर समय मेरे दोनों पुत्र शिक्षकके पास ही रहें। एक दिन लालू कालूको लेकर शिक्षक घूमनेके लिए बाहर गये। उस समय भागती हुई एक गायको देखा। शिक्षक लालूसे पूछने लगा कि बताओ गायके कितने पैर हैं। तब लालू एक, दो, तीन, कहकर गायके पैर गिनने लगा तभी कालूने बड़े भाईके मुखपर हाथ रखकर कहने लगा—"अरे बड़े भइया! गिनना मत, गिनना मत, यह शिक्षक हमें धोखा देकर गिनती सीखाना चाहता है। ऐसा सुनकर लालू मौन हो गया।

एक दिन लालू-कालू शिक्षकके साथ घरमें विश्राम कर रहे थे। वे दोनों निद्राका बहाना लगाकर जोर जोरसे खराटे भरने लगे। शिक्षकने सोचा कि दोनों बालक सो गये हैं, तो शिक्षक भी सो गये। शिक्षकको सोया हुआ देखकर दोनों उठे और बाहर आकर तम्बाकू खाकर पूर्ववत् छल निद्रामें सो गये। कुछ देर बाद जब शिक्षककी आँखें खुली, देखा की घरमें तम्बाकूकी तीव्र गन्ध आ रही है। शिक्षकने लालू कालूको उठाया और दोनोंके हाथ सूंघे। हाथसे

तीव्र तम्बाकूकी गन्ध आ रही थी, तो उसका कारण पूछा तो लालू कालू दोनों अपनी आँखोंको रगड़ते हुए बोले—"पण्डितजी। हम तो कुछ नहीं जानते हैं। शिक्षक दोनों बालकोंको डाटते हुए कहने लगे कि तुम्हारे हाथसे तम्बाकूकी गन्ध क्यों आ रही है। लालू और कालू कातर स्वरसे बोले—"पण्डितजी हम तो आपसे पहले ही सो गये थे और अभी अभी उठे हैं। बताओ हमने किस समय तम्बाकू खाई। हम नहीं जानते कि किस दुष्टने हमें दोषी बनानेके लिए सुप्तावस्थामें हमारे हाथोंमें तम्बाकू लगा दी।

जो किसी भी प्रकारसे अपना आत्ममङ्गल नहीं चाहते हैं वे लालू कालूके सदृश है। अनजाने हील गुरु–वैष्णव हम लोगोंका अंगल कर रहे हैं, अथवा हाल पूर्वक हमें पहाड़ा सिखा कर हमारा कल्याण कर रहे हैं—इस आशंका से हम उनलोगोंकी वाणी अथवा उपदेश श्रवण ग्रहण करनेकी चेष्टा नहीं करते।

हम अपना कल्याण कभी भी नहीं होने देगें—लालू और कालूकी भाँति इस प्रकार संकल्प करके चिरकाल तक साधु–संगका अभिनय करने पर भी हम कपटतापूर्वक तम्बाकूका ही सेवन करते रहते हैं अर्थात् कनक कामिनी, प्रतिपादिकी मादकटाके प्रति लुब्ध रहते है। गुरुदेव हमारी कपटता, असद्विषयोंमें रुचिको रंगे हाथों पकड़ने पर भी हम इसे अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि उन असद्विषयोंमें तो हमारी प्रवृत्ति ही नहीं है, हम तो निर्दोषी हैं। गुरु–वैष्णव ही दोषी है जो कि हमारा दोष देखते हैं। हमें दोषी बनानेके लिए गुरु वैष्णव ही हमारे हाथोंमें तम्बाकू लगा दिया। अर्थात् कपटता असद्विषयोंका आरोप लगाते है।

दुष्ट व्यक्तियोंका स्वभाव भी ऐसा होता है कि अपने दोषोंको गोपन करनेके लिए दूसरोंको दोषी सिद्ध करते हैं। कनक–कामिनी–प्रतिष्ठा पिपासुजन गुरु–वैष्णवोंके कन्धे पर आरोपित करते हैं। लाख चेष्टा करनेपर भी साधु वैष्णव लालू कालू सदृश जीवोंको सव्यमार्ग (भक्ति मार्ग) पर नहीं चला पाते है। जगतमें लोभीजन सम्प्रदाय गुरु वैष्णवोंको लोभी, कामुकजन वैष्णवोंको कामुक्त और जड़ प्रतिष्ठा कामीजन शुद्ध वैष्णवोंको प्रतिष्ठा कामी समझते है।

✪✪✪

वैष्णव व्रत तालिका

१८ श्रावण	४ अगस्त	मंगलवार	पवित्रारोपणी एकादशी व्रत, श्रीराधागोविन्दजीकी झूलन यात्रा प्रारम्भ, अगले दिन ९–१८ से पहले पारण।
१९ श्रावण	५ अगस्त	बुधवार	श्रील रूप गोस्वामीजीका तिरोभाव।
२२ श्रावण	८ अगस्त	शनिवार	श्रीबलदेव पूर्णिमा व्रत, झूलनोत्सव समाप्त, रक्षाबन्धन, अगले दिन ६–३८ से पहले पारण।
२९ श्रावण	१५ अगस्त	शनिवार	श्रीकृष्णजन्माष्टमी व्रत, अगले दिन श्रीनन्दोत्सव, ९–३२ से पहले पारण।

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

श्रीभागवत–पत्रिका

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४२ } श्रीगौराब्द ५१२
विक्रम संवत् २०५५–५६ भाद्र मास, सन् १९९८, ९ अगस्त— ६ सितम्बर { संख्या ६

श्रीमदनगोपाल देवाष्टकम्

(श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ति ठाकुर–विरचितम्)

मृन्दुतलारुण्य–जित–रुचिर दरद–प्रभं कुलिश कञ्जारि–दर–कलस–झष चिह्नितम्।
हृदि ममाधाय निज–चरण–सरसी–रुहं, मदनगोपाल! निज–सदनमनुरक्ष माम्।।१।।

हे मदनगोपाल! आपके अत्यन्त कोमल चरणोंके तलवोंकी लालिमा अति मनोरम हिंगुलकी प्रभाको पराजित करती है। शंख, चक्र, वज्र, कमल, कलश और मत्स आदि चिह्नोंसे अंकित अपने उन चरणकमलोंको मेरे हृदयमें स्थापित कर आप अपने निकट मेरी रक्षा करें।।१।।

मुखर–मञ्जिर–नख–शिशिर–किरणावली–
विमल मालाभिरनुपदमुदित कान्तिभिः।
श्रवण–नेत्र–श्वसन–पथ–सुखद नाथ!
हे मदनगोपाल! निज–सदनमनुरक्ष माम्।।२।।

हे नाथ! आप अपने युगल चरणोंके नूपुरोंकी अतिशय मधुर झंकारसे भक्तोंके कर्णको, नख चन्द्रावलीकी कान्तिसे उनके नेत्रोंको तथा चरणों तक लटकती हुई वनमालाके सौरभसे उनकी नासिकाको अतिशय सुख प्रदान किया करते हैं। हे मदनगोपाल! आप इन सुखोंको प्रदान करते हुए अपने निकट मेरी रक्षा करें।।२।।

मणिमयोष्णिष–दर–कुटिलिमणि लोचनो–
च्चलन–चातुर्य चित लवणिमणि गण्डयोः।
कनक–ताटङ्क–रुचि मधुरिमणि मज्जयन्
मदनगोपाल! निज–सदनमनुरक्ष माम्।।३।।

हे मदनगोपाल! अपने कुछ झुके हुए रत्नमण्डित मुकुटमें, इतस्ततः संचालित युगलोंकी बाँकी चितवनोंमें तथा स्वर्णनिर्मित कर्णभूषणोंकी प्रभामण्डलसे मण्डित अपने मधुर युगल कपोंलोंमें मेरे चित्तको निमग्न करते हुए आप अपने निकट मेरी रक्षा करें।।३।।

अधर शोणिम्नि दर हसित सितिमार्चिते
विजित–माणिक्य रद–किरणगण–मण्डिते।
निहितवंशीक! जन–दुरवगम–लील!
हे मदनगोपाल! निज–सदनमनुरक्ष माम्।।४।।

प्रभो! स्मितहास्य युक्त मुखके अतिशय उज्ज्वल तथा मोतियोंकी आभाको भी मात करनेवाली मनोहर दशन पंक्तियोंकी किरण मालाओंसे सुशोभित आप अपने अरुण अधरपर वंशी धारण करते हैं तथा आपकी लीला साधारण जनोंके लिए दुर्ज्ञेय है। हे मदनगोपाल! आपे अपने निकट निरन्तर रक्षा करें।।४।।

पदक हारालि पदकटक नटकिकङ्किणी
वलय ताटङ्कमुख निखिल मणिभूषणैः।
कलितनव्याभ! निज–रुचित तनु भूषितै–
र्मदनगोपाल! निज–सदनमनुरक्ष माम्।।५।।

हे मदनगोपाल! आपने अपने कण्ठभूषण, हारश्रेणी, पदवलय, कटिभूषण, कङ्कण तथा कर्णफूल आदि रत्नमय आभूषणोंसे अनिर्वचनीय शोभा धारण की है। इन अतिशय उज्ज्वल आभूषणोंसे विभूषित आप अपने निकट मेरी निरन्तर रक्षा करें।।५।।

उडुपकोटी कदन वदन रुचि पल्लवे–
र्मदनकोटी मथन नखर कर कन्दलैः।
घुतरुकोटी सदन सदय नयनेक्षणै–
र्मदनगोपाल! निज–सदनमनुरक्ष माम्।।६।।

हे मदनगोपाल! आपके मुखचन्द्रकी कान्तिसे कोटिचन्द्र पराभूत हो जाते हैं, आपके करकमलोंके नवोदित अंकुररूप नखोंकी प्रभासे कोटि–कोटि मदनका गर्व खण्डित हो जाता है तथा कृपासे आर्द्र हुए आपके युगल नयनोंकी चितवन कोटि–कोटि कल्पतरुका आलय स्वरूप है। आप अपने निकट निरन्तर मेरी रक्षा करें।।६।।

कृतनराकार भवमुख विबुध सेवित
द्युतिसुधासार पुरुकरुण कमपि क्षितौ।
प्रकटयन् प्रेमभरमधिकृत सनातनं
मदनगोपाल! निज–सदनमनुरक्ष माम्।।७।।

हे नर शरीर धारण करनेवाले! हे महादेव आदि देवतावृन्द द्वारा उपासित! हे द्युति सुधासार! हे भक्तोंकी मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाले! हे मदनगोपाल! आप चिरनित्य अनिर्वचनीय प्रेम समूहको इस जगतमें प्रकट करते हुए अपने निकट मेरी निरन्तर रक्षा करें।।७।।

तरणिजा तीर भुवि तरणि कर वारक
प्रियक षण्डस्थमणिसदन सहित स्थित।
ललितया सार्द्धमनुपद रमित राधया
मदनगोपाल! निज–सदनमनुरक्ष माम्।।८।।

हे प्रभो! आप श्रीयमुनाके तीरपर सूर्यताप निवारक कदम्ब वृक्षके नीचे मणिमय भवनकी शोभा वर्द्धन करते हुए विराजमान हैं तथा ललिताके साथ श्रीमती राधिकाके द्वारा निरन्तर सेवित हो रहे हैं। हे मदनगोपाल! आप अपने निकट निरन्तर मेरी रक्षा करें।।८।।

मदनगोपाल तव सरसमिददमष्टकं
पठति यः सायमतिसरल–मतिराशु तम्।
स्वचरणाम्भोज रति रस तरसि मज्जयन्
मदनगोपाल! निज–सदनमनुरक्ष माम्।।९।।

हे मदनगोपाल! जो निष्कपट हृदयसे इस मधुर अष्टकका प्रतिदिन पाठ करते हैं, उन्हें अपने चरणकमलोंके प्रेमरसके प्रवाहमें निमज्जित करते हुए हे मदनगोपाल! आप अपने निकट मेरी निरन्तर रक्षा करें।।९।।

✪✪✪

जगद्गुरु श्रील भक्तिविनोद ठाकुरकी आविर्भाव–तिथि

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'

अन्यन्य भक्त

आज जगद्गुरु श्रीश्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी आविर्भाव–तिथि है। भक्तिविनोद ठाकुर अन्याभिलाषी या कर्मी अथवा निर्भेद ब्रह्मका अनुसन्धान करनेवाले शुष्क ज्ञानी नहीं थे। वे भगवानके अनन्य भक्त थे, भगवानके सतत भक्तियोगमें प्रतिष्ठित थे और थे भगवज्ज्ञानके अद्वितीय ज्ञाता।

भक्ति, भक्तियोग और भजनीय ज्ञान अन्याभिलाषी, कर्मी और ज्ञानियोंकी नश्वर और फल्गु चेष्टाकी तरह हेय नहीं हैं। कालके द्वारा उपत्तिशील, स्थितिवान् और लयधर्मके अधीन उत्पन्न होनेवाले नश्वर भावोंकी तरह भगवद्भक्ति कोई अनित्य और प्राकृत वृत्तिमात्र नहीं है। भक्ति आत्माकी नित्यवृत्ति है। जिस समय यह नित्यवृत्ति प्राकृत अखण्डज्ञानकी धारणा द्वारा अच्छादित हो जाती है, उस समय जीव या तो मायावादी नहीं तो प्रकृतिवादी हो पड़ता है।

निरपेक्ष भक्त

ठाकुर महाशयने प्रकृतिवादियों या मायावादियोंके अयोग्य मतको कभी भी नित्य–सेवा स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अनात्म मन, बुद्धि और अहंकार आदि सूक्ष्म शरीरको और आत्माको एक वस्तु नहीं बतलाया है। मायावादियोंकी तरह उपास्य और उपासकके समन्वयकी आकांक्षा नहीं की है। मायावादियोंकी तरह उन्होंने मुक्तावस्थामें अचेतन त्रिगुणोंकी साम्यावस्थाको ही जीवोंकी सर्वश्रेष्ठ अवस्था नहीं बतलाया है अथवा प्रच्छन्न मायावादियोंकी तरह उन्होंने मुक्तावस्थामें निर्विशिष्ट चिन्मात्रवादके साथ अचिन्मात्रवादकी समन्वयता भी स्वीकार नहीं किया है।

अधोक्षज सेवाके नित्य प्रचारक

वे श्रीगौरसुन्दर द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भागवतमें बताये गये अधोक्षज वस्तुकी सेवाके नित्य प्रचारक थे, हैं और नित्यकाल रहेंगे। भाषा–ज्ञानकी सहायतासे

श्रीमद्भागवतमें प्रवेशाधिकार नहीं मिलता है। जो लोग स्वयं भागवत न होकर—भक्तियोगमें प्रतिष्ठित न होकर, अनित्य भावोंका संग्रह करनेके लिए बड़ा पाठक होनेके अहंकारमें गर्वित होकर श्रीमद्भागवत पढ़ते है, सुननेमें समय नष्ट करते हैं तथा जो लोग अपने खण्ड बाह्यज्ञानको संबल कर श्रीव्यासदेवके समाधिलब्ध भक्तियोगको एक तरहका ऐन्द्रिक ज्ञान मात्र मानते हैं, वे लोग भक्तिके स्वरूपको कनक–कामिनी और प्रतिष्ठाका सोपान मात्र समझते हैं। वे सभी लोग प्राकृत सहजिया अथवा कपट भक्त हैं। ठाकुर महाशय ऐसे–ऐसे कर्मवीरोंको किसी प्रकारका आदर देनेके पक्षमें नहीं थे।

वे अनेक समय कहा करते थे—जो लोग नित्य सेवावृत्तिसे वञ्चित होकर अपनेको आत्मधर्ममें प्रतिष्ठित मानते हैं, वे भौतिक चिन्तामें निमग्न जीव अप्राकृत राज्यमें प्रवेशाधिकारका द्वार अपने लिए बिल्कुल बन्द कर देते हैं। भगवत्–सेवाविमुख जीव अपनेको विषयोंका भोक्ता मानकर नित्य–सत्यसे भ्रष्ट होते हैं। उस प्रकारकी अनात्म चेष्टाओंसे भगवद्भक्तिका अथवा भगवत् प्रेमका अनुसन्धान नहीं पाया जाता।

कुसंग और इनका बहिष्कार

जड़ विषयोंके भोगमें उन्मत्त होकर बद्धजीव अपनेको प्रकृतिवादी, मायावादी, ब्रह्मवादी हठ या राजयोगी, अन्याभिलाषी प्रभृति विभिन्न वेशोंमें सज्जीभूत कर कृतार्थ मानता है, किन्तु अधोक्षज भगवानकी सेवामें तत्पर भक्तजन इन्हें प्राकृत सहजिया अथवा कुसंग मानते हैं तथा इनसे सर्वदा दूर रहते हैं।

आत्मविद् भक्तोंके चरण कमलोंमें शरण लिए बिना नित्य–गति लाभ करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है। जीव अपनी अनात्म–प्रतीति द्वारा जड़–भोग्य वस्तुओंको ब्रह्म, माया, आत्मा और चैतन्य आदि कल्पित संज्ञाएँ प्रदान कर सत्यसे भ्रष्ट हो पड़ता है। श्रीमन्महाप्रभु और उनके पार्षद भक्तोंने श्रीमद्भागवतके प्रतिपाद्य सत्यका प्रचार किया है। किन्तु समयके प्रभावसे कुछ दिनोंमें उसे विलुप्त होते देखकर श्रीगौरहरिने अपने प्रिय पार्षद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरको उसका पुनः प्रचार करनेके लिए भेजा। भक्तराज ठाकुरने श्रीगौरहरिके अभिलषित कीर्तन और प्रचार–प्रणालीको साधारण जीवोंके लिए बोधगम्य करनेके लिए बहुत ही प्रयत्न किये हैं। आइए, हम देखें कि हमलोग उनकी शिक्षाओंको किस परिमाणमें ग्रहण करनेके लिए प्रस्तुत हैं।

उपास्यके सम्बन्धमें ठाकुरकी शिक्षा

उपास्यके सम्बन्धमें श्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी शिक्षा यह है कि ब्रह्म जिनके अंगोंकी कान्ति हैं, परमात्मा जिनके आंशिक प्रकाश–विशेष हैं, वे अद्वयज्ञान भगवान ही जीवोंके नित्यसेव्य वस्तु हैं।

ब्रह्मकी उपासना नहीं होती। जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय सम्बन्धसे रहित केवल निर्विशेष भाव है, जहाँ सेव्य, सेवक और सेवाकी नित्यता स्वीकृत नहीं, उसे परमार्थ नहीं कहा जा सकता। वह पूर्ण वस्तुकी दूरस्थित आंशिक अनुभूति कही जा सकती है।

परमात्माकी उपासनामें परमात्म–सान्निध्य रहनेपर भी वहाँ नित्य–सेवा–धर्मरूपा रति अप्रकट रहती है। इससे वस्तु–विज्ञान सम्बन्धी आंशिक योगसिद्धि होनेपर भी वह प्रतीति भगवत्ताकी खण्ड प्रतीति मात्र है।

अखण्ड अद्वयज्ञान–स्वरूप भगवत् प्रतीतिके अभावमें ब्रह्म–प्रतीति अथवा परमात्म–प्रतीति ही प्रबल रहती है। जड़से परे होनेपर भी इन दोनों प्रतीतियोंमें भौतिक विचार ही प्रबल रहते हैं। इन्द्रियज–ज्ञान भ्रम–प्रमादादि चार दोषोंसे युक्त होता है तथा ज्ञाता ओर ज्ञेयकी नित्य सत्ताका विरोधी होता है। एकमात्र भगवदुपासना ही ऐसी वस्तु है जो जीवको प्रकृतिसे परे चिन्मय राज्यमें ले जाकर भगवानकी सेवामें नियुक्त करती है। कर्म, ज्ञान

अथवा योग आदि साधनोंमें वह शक्ति नहीं है।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थोंमें इन्होंने नित्य उपासकोंके उपास्य-तत्त्व, उपासना-तत्त्व और प्रयोजन-तत्त्वके सम्बन्धमें भौतिक विचारोंका पूर्णतया खण्डन कर जीवोंके सहज, निर्मल और नित्य कृष्णप्रेमका अनुसन्धान दिया है। करुणावरुणालय श्रीगौरहरि हम जैसे मायाबद्ध जीवोंकी दूरवस्था लक्ष्यकर अपने नित्यमुक्त पार्षदोंको हमारे पास भेजते हैं। हमलोग उन्हीं पार्षद भक्तोंके मुखसे ही प्रकृतिसे अतीत राज्यके नित्य-वर्तमान सत्यकी सम्पूर्ण बातें सुननेका सुयोग पा सकते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश यदि हम भक्ति-मार्गको आत्माकी अविच्छिन्न गति नहीं मानते हैं तो हमारी दुर्गतिकी सीमा नहीं रहती।

भक्तकी आविर्भाव-तिथिकी पूजा

हमने कोटि-कोटि जन्म नश्वर स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंकी सेवामें बिताकर अपना परमार्थ नष्ट किया है और आगे भी नष्ट करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। यदि हम आज भी नहीं चेते तो भक्तकी आविर्भाव तिथिकी पूजा करनेका सुयोग नहीं पायेंगे। हमें हरि-विमुख अनित्य कर्मोंमें मनोयोग देनेको यथेष्ट समय मिलता है, परन्तु हमारे लिये सबसे अधिक प्रयोजनीय विषयोंमें थोड़ा भी समय देनेका अवकाश नहीं मिलता। इसे ही कहते हैं—भाग्य।

सुकृतिशाली जीव ही सत्संग प्राप्त कर सकते हैं

सुकृतिके प्रभावसे ही जीव सत्संग प्राप्त करता है। सुकृतिके अभावमें कपट-भक्त या प्राकृत सहजिया आदिका ही संग प्राप्त होता है। इनके कपट आँसुओं, कपट भावों तथा कपट दीनताको ही भोली-भाली सुकृतिरहित जनता भक्तिका स्वरूप मान बैठती है तथा वंचित होती है।

ठाकुरके सेवकोंके संगसे ही ठाकुरको जाना जा सकता है। ठाकुर भक्तिविनोद महावदान्य कृष्णप्रेमके दाता श्रीकृष्णचैतन्यदेवके अत्यन्त प्रियपात्र हैं। जो लोग श्रीभक्तिविनोदको जानना चाहते हैं, उन्हें उनके अनुगत सेवकोंका संग करना चाहिए। सत्संगके प्रभावसे आत्मगत वृत्तियाँ उन्मेषित होती हैं तथा आत्मधर्म उन्मेषित होनेसे त्रिविध प्रकारके दुखोंसे छुटकारा मिल जाता है और आत्मा सुप्रसन्नता लाभ करती है।

गुरुसेवासे भगवद्भक्तिकी प्राप्ति

जो लोग प्रत्यक्ष ज्ञानको मुख्यरूपसे अवलम्बन कर तथा अनुमान और आप्तवाक्योंको उसका सहायक मानकर इनकी सहायतासे भक्तिका स्वरूप निर्णय करना चाहते हैं, वे असफल होते हैं। भक्तिराज्यमें प्रवेश करनेका यह सही तरीका नहीं है। भक्तिराजयमें प्रवेश करनेका सच्चा पथ गुरुदेवसे प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य आदि प्रमाणोंके ऊपर निर्भर रहकर भक्ति अथवा भगवानको प्राप्त नहीं किया जा सकता। ये सब इन्द्रिय-सुख मात्र हैं, जो भक्तिके परम शत्रु हैं।

जिनके चरित्रकी प्रत्येक क्रियाओंमें भक्तिका सुष्ठुरूपसे आविर्भाव हुआ था, उन श्रीरूपानुगवर श्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी आविर्भाव-तिथि पाठक वर्गके हृदयमें शुद्ध भक्तिका संचार करे।

श्रीठाकुर महाशयके प्रवर्त्तित अनुष्ठानके विघ्नसमूह

(क) प्रचार कार्यके लिए भक्तिविनोद ठाकुरने श्रीगौरसुन्दरकी इच्छानुसार श्रीविश्व-वैष्णव राजसभाका पुनः संस्थापन किया है। गौरसुन्दरकी इच्छानुसार श्रीनाम-हट्टका पुनरुद्दीपन किया है, श्रीनवद्वीप धामको उज्ज्वल करनेके लिए श्रीधाम-प्रचारिणी सभाकी स्थापना की है, श्रीगौड़ीय-वैष्णव समाजका विशुद्धरूपमें पुनर्गठन करनेकी चेष्टा की है। किन्तु अपनेको उनका अनुगत अभिमान करनेवाले आलस्यपूर्ण एक भजनकारी दल भक्तिके किसी भी अंग या अनुष्ठानका तन, मन और वचनसे पालन नहीं करता है।

(ख) श्रीगौरसुन्दरकी इच्छासे भक्तिविनोद

ठाकुरने भगवद्भक्तिका व्यापक प्रचार करनेके लिए बड़ी सुन्दर–सुन्दर योजनाएँ बनायी थीं। उन्होंने सभाओंमें, भक्तोंके संघोंमें और देवालयोंमें संकीर्तन और हरिकथा प्रचार करनेकी प्रथाकी सृष्टि की थी। परन्तु कुछ वेतन–भोगी लोगोंने अपना पेट पालने तथा परिवारका पालन–पोषण करनेके लिए उस प्रथाको अपनी जीविका बना रक्खी है। उनके शास्त्रग्रन्थ पाठ और व्याख्या करनेकी प्रथाका अनुचित लाभ उठाकर वेतन–भोगियोंके दलने उससे कनक–कामिनी–प्रतिष्ठा संग्रह कर आचार्यके कार्यमें विषवृक्ष बोनेका काम किया है।

(ग) कुछ लोग ठाकुरके ग्रन्थोंके प्रचार कार्यका अनुकरणकर शास्त्र–ग्रन्थ–प्रचारकी आड़में पूरा व्यवसाय चलाते हैं, उससे उपार्जित धनको अपने उदर–पूर्ति और कुटुम्ब–भरणमें लगाते हैं। इस प्रकार भक्ति–प्रचार कार्यमें जंजाल उपस्थित कर वे लोग अपना चरित्र कलंकित करते हैं।

(घ) यह भक्ताभिमानी अपसम्प्रदाय उनकी शिक्षा–दीक्षाको अर्थोपार्जनका साधन बनाकर भक्तिपथको कण्टकाकीर्ण बना रहा है।

(ङ) श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा पुनः संस्थापित वर्णाश्रम–धर्मकी शास्त्रीय पद्धतिको कण्टकित करनेसे, उनके द्वारा प्रचलित शुद्ध–वैष्णव समाजका पुनर्गठन नहीं करनसे अथवा इन विषयोंसे उदासीन रहनेसे हरिकथा चिर दिनोंके लिये इस जगतसे विलुप्त हो जायेगी। जो लोग ऐसा नहीं सोचते, वे थोड़े ही दिनोंमें हरिविमुखताकी पराकाष्ठा पर पहुँचकर ध्वंस हो जायेंगे।

(च) वैष्णव–स्मृतियोंके प्रचार–कार्यमें ठाकुरका अनुसरण न कर नास्तिक पंचोपासकोंका आनुगत्य स्वीकार करना वैष्णवी–श्रद्धाका परिचय नहीं है।

(छ) सामयिक पत्रोंके द्वारा दूर–दूरके श्रद्धालु जीव भक्तिविनोद ठाकुरकी शिक्षाओं और आदर्शोंसे अनुप्राणित होनेका सुयोग प्राप्त करते थे। जो लोग अनुचित लाभ उठाकर, उसका अनुकरण कर उसे एक व्यवसाय मात्र बना रक्खा है, उसे अपने भोग–विलास और उदर–पूर्तिका साधन बना लिया है, वे परमार्थसे पतित होकर ध्वंसकी ओर अग्रसर हो रहे हैं।

(ज) प्राचीन भक्तोंने अब्द, मास, तिथि, पक्ष आदिके नाम भगवानके नामके ऊपर रक्खा है; इसलिए कि सब समय भगवन्नामका अनुशीलन होता रहे। भक्तिविनोद ठाकुरने उसका पुनः प्रचलन किया है। परन्तु उस तथाकथित भक्त सम्प्रदायमें इस प्रथाका आदर नहीं है।

(झ) श्रील ठाकुरके अनुमोदित मठ–मन्दिर और भक्तिस्थानोंका संरक्षण कार्य परित्याग कर जो शिष्यब्रुव (कपट–शिष्य) अपने–अपने पेट–पालन कार्यमें व्यस्त हैं, वे गुरुद्रोही हैं। इस प्रकार आजकल ऐसे–ऐसे असाधुओंकी संख्या दिनों दिन बढ़ रहीं है। इनका कल्याण होना कठिन है।

(ञ) श्रीठाकुरने भक्तिशास्त्रोंके पठन–पाठनमें लोगोंको उत्साहित करनेके लिए भक्ति–शास्त्रकी परीक्षाकी प्रणालीका आविष्कार किया था। ये उनके इस कार्यका अनुसरण करना छोड़कर अनुकरण द्वारा जागतिक प्रतिष्ठाकी वृद्धि कर रहे हैं।

भजनमें आलस्य करनेसे श्रीगुरु–वैष्णवोंकी सेवा नहीं हो सकती। श्रीश्रीगुरुगौरांग अथवा ठाकुर महाशयकी सेवामें जिन निष्कपट भक्तोंने अपना तन–मन और वचन लगा दिया है, ऐसे व्यक्ति ही शुद्ध भक्तोंके आशा–स्थल हैं। ठाकुर महाशयके पूर्वोक्त अनुष्ठानोंकी सेवा न करनेसे अपना कल्पित आलस्य जीव–दयाका परिचय नहीं है। यदि हरि भजनके प्रति रुचि है—यदि माया बन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तो—

'ताते कृष्ण भजे करे गुरुर सेवन।
मायाजाल छूटे पाय कृष्णेर चरण।।

—का पुनः पुनः अनुशीलन करना चाहिए। इससे अवश्य ही सुफल प्राप्त होगा।

✪✪✪

तत्तत्कर्म–प्रवर्त्तन

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

श्रील रूप गोस्वामीने भजन पिपासु व्यक्तियोंके लिए तत्तत्कर्म प्रवर्त्तनकी व्यवस्था की है। जिन–जिन कर्मोंसे भक्तिमें सहायता मिलती है—भक्तिका अनुशीलन होता है, उन कर्मोंको उन्होंने उपदेशामृतमें 'तत्तत्कर्म' बतलाया है। श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

श्रद्धामृत कथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम।।
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः।।
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मदगुणेरणम्।
मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकाम–विवर्जनम्।।
मदर्थेऽर्थ परित्यागो भोगस्य स सुखस्य च।
इष्ट दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः।।
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्म निवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते।।

(श्रीमद्भा. ११/१९/२०–२४)

उद्धवजी! मैं तुम्हें अपनी प्रेमा–भक्ति पानेका श्रेष्ठ उपाय बतलाता हूँ। सबसे पहले साधन भक्तिका अनुष्ठान करना चाहिए। इसीसे प्रेमा भक्तिकी प्राप्ति होती है। साधन भक्तिके विषयमें श्रवण करो—जो मेरी प्रेम–भक्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह मेरी अमृतमयी लीला–कथाओंमें श्रद्धा रक्खे, निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामोंका संकीर्तन करे, मेरी पूजामें अत्यन्त निष्ठा रक्खे; स्तोत्रोंके द्वारा स्तुति करे, समस्त प्राणियोंमें मेरा ही सम्बन्ध दर्शन करे, मेरे लिए ही समस्त लौकिकी चेष्टा करे, वाणीसे मेरे ही गुणोंका गान करे अथवा मन भी मुझे ही अर्पित कर दे, सारी कामनाओंको छोड़ दे, मेरे लिए धन और सुखका भोग त्याग दे और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप करे, वह सब मेरे लिए ही करे। उद्धवजी! जो मनुष्य इन धर्मोंका पालन करते हैं और जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो गयी उसके लिए और किस दूसरी वस्तुका प्राप्त होना शेष रह जाता है?

भक्तिके ६४ प्रकारके अंग ही तत्तत्कर्म हैं

भगवानके इस उपदेशको अवलम्बन करके श्रीरूप गोस्वामीने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' नाम ग्रन्थमें इन कर्मोंको ६४ भागोंमें विभक्त किया है। इन ६४ अंगोंका वर्णन श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस प्रकार किया गया है—

(१) गुरुके चरणोंमें आश्रय ग्रहण करना, (२) उनसे दीक्षा प्राप्त करना, (३) गुरुकी सेवा, (४) जीवोंके सच्चे धर्मकी शिक्षा और जिज्ञासा, (५) साधुजनोंने जिस मार्गका अवलम्बन कर भगवानको पाया है, उसी मार्गका अनुसरण, (६) कृष्णकी प्रीतिके लिए अपने भोग–विलासका परित्याग, (७) कृष्ण–तीर्थोंमें निवास, (८) जिससे जीवन निर्वाहमात्र हो जाय, उतने परिमाणमें कोई वस्तु ग्रहण करना, (९) एकादशीका उपवास, (१०) आँवला, अश्वत्थ, गो, विप्र और वैष्णवका सम्मान करना, (११) सेवा–अपराध और नामापराधसे दूर रहना, (१२) अवैष्णव–संग त्याग, (१३) अनेक शिष्य न करना, (१४) अनेक ग्रन्थोंका आंशिक अध्ययन और व्याख्या आदिकी कलाका वर्जन, (१५) लाभ और हानिमें समबुद्धि, (१६) शोकादिके वशीभूत न होना, (१७) अन्य देवताओं या शास्त्रोंकी निन्दा न सुनना, (१९) ग्राम्यकथा अर्थात् (विषय–भोगकी बातें न सुनना), (२०) किसी भी प्राणीको शरीर, मन और वाणीसे उद्वेग न देना, (२१) श्रवण, (२२) कीर्तन,

(२३) स्मरण, (२४) पूजन, (२५) वन्दन, (२६) परिचर्या, (२७) दास्य, (२८) सख्य, (२९) आत्म–निवेदन, (३०) श्रीविग्रहके सामने नृत्य, (३१) गीत, (३२) विज्ञप्ति अर्थात् अपने भावोंको भगवानके सन्मुख कहना, (३३) दण्डवत् प्रणाम, (३४) अभ्युत्थान अर्थात् भगवान या भक्त पधार रहे हों तो उठकर खड़ा होना या आगे बढ़कर सम्मान करना, (३५) अनुव्रज्या अर्थात् (भक्त या भगवान यात्रा कर रहे हों तो पीछे–पीछे कुछ दूर तक जाना, (३६) तीर्थ और मन्दिरमें गमन, (३७) परिक्रमा, (३८) स्तव–पाठ, (३९) जप, (४०) संकीर्तन, (४१) भगवानको निवेदित हुई माला, धूप और गन्ध ग्रहण, (४२) महाप्रसाद सेवन, (४३) भगवानकी आरति और उनके महोत्सवोंका दर्शन, (४४) श्रीमूर्ति दर्शन, (४५) अपनी प्यारी वस्तु भगवानको अर्पण करना, (४६) ध्यान, (४७) तुलसीकी सेवा, (४८) वैष्णवोंकी सेवा, (४९) मथुरा आदि धामोंमें निवास, (५०) श्रीमद्भागवतका आस्वादन, (५१) कृष्णके लिए ही अपनी सारी चेष्टाएँ करना, (५२) उनकी कृपाके लिए प्रतीक्षा, (५३) भक्तोंके साथ भगवानके जन्मके दिन महोत्सव मनाना, (५४) सब तरहसे शरणागति (५५) कार्तिक आदि व्रतोंका पालन करना, (५६) वैष्णव चिह्न धारण, (५७) हरिनामके अक्षरोंको शरीर पर धारण करना, (५८) निर्माल्य धारण, (५९) चरणामृत पान, (६०) सत्–संग, (६१) नाम कीर्तन, (६२) श्रीमद्भागवतका श्रवण, (६३) मथुरामें वास, (६४) श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्तिकी सेवा।

(१) गुरुपदाश्रय

साधकाका पहला कर्तव्य है—गुरु–पदाश्रय करना। गुरु–पदाश्रयके बिना कल्याण नहीं हो सकता है। मनुष्य दो प्रकारका होता है—अप्राप्त विवेक और प्राप्त–विवेक। सांसारिक सुखोंमें मत्त व्यक्तिको अप्राप्त–विवेक पुरुष कहा जाता है। यदि सौभाग्यसे लोगोंके सत्संग प्राप्त हो जाता है, तो उन्हें विवेक प्राप्त हो सकता है। तब उनके हृदयमें ऐसी भावनाएँ उठती हैं कि हाय! हाय!! मैं बड़ा ही मन्दभाग्य हूँ, मैं सर्वदा विषय भोगोंमें ही मत्त रहा हूँ, मेरा अब तकका सारा जीवन पशु–जीवनमें ही कट गया, अब मैं क्या करूँ? जिस महात्माके संगसे ऐसे विचार पैदा होते हैं, उस महात्माके संगको श्रवण गुरुका संग कहते हैं। इसी समय सौभाग्यसे श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा होनेसे भजन करनेकी इच्छा पैदा होती है। उस समय गुरु पदाश्रय करना अत्यन्त आवश्यक है। अतएव अप्राप्त विवेकवाले व्यक्ति सौभाग्यसे प्राप्तविवेक होकर श्रीगुरुदवेके चरणोंमें आश्रय ग्रहण करते हैं।

गुरु कौन है?

"कैसे गुरुका आश्रय करना उचित है?"—यह विचारणीय प्रश्न है। जिन्होंने काम, क्रोध, लाभ, मद, मोह और मात्सर्य—इन षड् रिपुओंको जीत लिया है, जिनको कृष्णके प्रति स्वाभाविक अनुराग उत्पन्न हो गया है, जो वेद–वेदान्त–उपनिषद्–पुराण आदि शास्त्रोंमें पारंगत हैं, साधुजन गुरु मानकर जिनके प्रति श्रद्धा कर सकें, इन्द्रियाँ जिनके वशमें हो, जो समस्त प्राणियोंके प्रति दयाका भाव रखते हों, जो शान्त, निष्कपट और सत्यवादी हों, ऐसे व्यक्ति गुरु होनेके योग्य हैं। कृष्णके प्रति अनुराग ही (इतर रागसे रहित) गुरुददेवका स्वरूप गुण है। बाकी सभी तटस्थ गुण हैं। इसीलिए श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा है—

किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय।
जेई कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय।।

—विप्र हो अथवा संन्यासी हो या शूद्र भी क्यों न हो, यदि वह कृष्ण–तत्त्वका ज्ञाता है, तो वही गुरु है।

जिनमें यह स्वरूप लक्षण विद्यमान है, उनमें दो–एक तटस्थ लक्षण न भी रहें तो कोई हर्ज नहीं, वे गुरु होनेके योग्य हैं। ब्रह्मणत्व और गृहस्थत्व—ये दोनों तटस्थ लक्षण हैं। तात्पर्य यह

कि कृष्ण-तत्त्वके ज्ञाता अर्थात् प्रेमी-भक्तमें यदि ब्राह्मणत्व और गृहस्थत्व दोनों तटस्थ लक्षण रहे तो अच्छा ही है। किन्तु कोई व्यक्ति ब्राह्मण भी है और गृहस्थ भी है, किन्तु उसमें कृष्ण अनुराग—कृष्णतत्त्व रूप मुख्य लक्षणका अभाव है, तो वह गुरु होनेके योग्य नहीं हैं—

महाभागवत श्रेष्ठौ ब्राह्मणौ वै गुरुर्नृणाम्।
सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यौ यथा हरिः।।
महाकुल-प्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः।
सहस्र-शाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः।।

(२-३) गुरु-सेवा तथा दीक्षा ग्रहण करनेकी आवश्यकता

उपयुक्त गुरु मिलनेपर श्रद्धालु शिष्यको निष्कपट होकर दृढ़ विश्वासपूर्वक गुरुकी सेवा करनी चाहिए। गुरुदेवको प्रसन्न कर उनसे श्रीकृष्ण-मन्त्र और दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जो लोग दीक्षाके विरोधी हैं तथा केवल बनावटी कीर्तन आदिका ढोंग दिखाकर अपनेको वैष्णव कह कर प्रचार करते हैं, वे नितान्त ही आत्म-वंचक हैं। जड़ भरत आदि कुछ लोगोंके चरित्रमें दीक्षाका प्रसंग न देखकर विषयी लोगोंको दीक्षाकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक जन्ममें जीवोंके लिए दीक्षा ग्रहण करनेकी विधि है। यदि किसी सिद्ध महापुरुषके जीवनमें दीक्षा ग्रहणकी बात न देखी जाय, तो उसे अपना आदर्श नहीं मान लेना चाहिए। उन महापुरुषोंने किसी विशेष अवस्थामें ऐसा आदर्श दिखलाया है; इसलिए वह साधारण विधि नहीं मानी जा सकती। ध्रुव इसी पार्थिव शरीरसे ध्रुव लोकमें पधारे थे; क्या ऐसा देख कर सभी लोग उन्हींके समान अपने पार्थिव शरीरसे ही ध्रुव लोक जानेकी आशामें बैठे रहेंगे? जड़ शरीरको छोड़कर चिन्मय शरीरसे ही जीव वैकुण्ठमें गमन करते हैं—यही साधारण विधि है। साधारण लोगोंके लिए साधारण विधिका अनुसरण करना ही कल्याणप्रद है। अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न भगवान जब जैसी इच्छा करते हैं, तब तैसा ही होता है। अतएव हमें साधारण विधियोंका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। बल्कि श्रीगुरुदेवको अपनी निष्कपट सेवासे प्रसन्न कर उनसे भगवन्नाम-मन्त्रादि दीक्षा और तत्त्वकी शिक्षा अवश्य ही ग्रहण करनी चाहिए।

(४) साधुओंके मार्गका अनुगमन

सौभाग्यवान शिष्य सद्गुरुसे दीक्षा और शिक्षा प्राप्त कर साधुजनोंके मार्गका अनुसरण करेंगे। दाम्भिक व्यक्ति ही महाजनोंकी अवज्ञा कर स्वयं नये-नये मतोंकी सृष्टि करते हैं। फल यह होता है कि थोड़े दिनोंमें कुपथमें चलकर अपना सर्वनाश कर डालते हैं। स्कन्द पुराणका कथन है—

स मृग्यः श्रैयसां हेतुः पन्थाः सन्तापवर्जितः।
अनवाप्त-श्रमं पूर्वे येन सन्तः प्रतस्थिरे।।

साधुजन अब तक जिस सनातन पथ पर आरूढ़ होते रहे हैं, वही पथ हमारे लिए श्रेय है। महाजनोंके पथका अनुशीलन करनेसे दृढ़ता, साहस और सन्तोष उदित होता है। जब हम लोग श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीरघुनाथदास गोस्वामी और हरिदास ठाकुरके भजन-पथका अनुगमन करते हैं, तब हमें इतना आनन्द होता है, जो वर्णनातीत है। जब हरिदास ठाकुरको दुष्ट मुसलमान हरिनाम त्याग करनेके लिए पीट रहे थे, उस समय उन्होंने क्या कहा था—'मेरे शरीरके भले ही टुकड़े-टुकड़े हो जाँय, मरे प्राण भले ही चले जाँय—मैं हरिनाम नहीं छोड़ सकता। हे कृष्ण! मुझे मारनेवाले इन भूले-भटके जीवोंका तनिक भी अपराध नहीं है, इन्हें क्षमा करो, इन पर दया करो।'

इस प्रकार दृढ़ताके साथ समस्त प्राणियोंपर दया रखते हुए निरन्तर हरिनाम ग्रहण करना ही पूर्व महाजनोंका भजन-पथ है। पथ नया नहीं होता। जो पथ पहलेसे है, साधुजन उसी परिचित मार्गका अवलम्बन करते हैं। किन्तु दाम्भिक और प्रतिष्ठा

कामी व्यक्ति नये–नये पथ आविष्कार करनेके लिए ही अधिक प्रयत्न करते हैं। बड़े ही सौभाग्यसे किसी–किसीको पूर्व महाजनोंके पथमें श्रद्धा होती है। श्रद्धा होनेपेर अपनी दाम्भिकताका परित्याग कर उस पर चलना आरम्भ कर देते हैं। परन्तु जो मन्द भाग्य हैं, वे स्वकपोल–कल्पित मार्ग रचकर स्वयंको और दूसरोंको वंचित करते हैं। शास्त्रोंमें इनके प्रति निम्न प्रकारसे सावधान किया गया है—

श्रुति–स्मृति–पुराणादि–पञ्चरात्र–विधिं बिना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।।
भक्तिरैकान्तिकीवेयमविचारात् प्रतीयते।
वस्तु तस्तु तथा नैव यदशास्त्रीयतेक्ष्यते।।

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

तात्पर्य यह है कि भक्ति–पथ—'वैधी' और 'रागानुगा' दो प्रकारका है। महाजनोंने निज–निज अधिकारके अनुसार इन दोनोंका आचरण किया है। इन दोनों भक्ति–पथोंका वर्णन श्रुति, स्मृति ओर पंचरात्रादि ग्रन्थोंमें भरा पड़ा है। परन्तु इन ग्रन्थोंके प्रदर्शित भक्ति–पथको छोड़कर 'बुद्ध' और 'दत्तात्रेय' आदिने जिन नवीन मार्गोंका आविष्कार किया, वे सब मार्ग अन्ततक केवल उत्पातके ही कारणके रूपमें बचे रहे हैं। यद्यपि इन नवीन पथोंके यात्री इन नवीन पथोंको ऐकान्तिकी हरिभक्ति होनेका दावा रखते हैं, परन्तु वास्तवमें यह उनकी अज्ञताका द्योतक है। वेद आदि शास्त्रों द्वारा निर्धारित पथ ही एकमात्र सत्य पथ है। आजकल ऐसे ऐसे अनेक नवीन मत निकलते हैं और अन्तमें अपने आचार्यके साथ लुप्त हो जाते हैं।

५—सद्धर्मकी जिज्ञासा

सच्चे शिष्य द्वारा धर्मकी जिज्ञासा एक भक्ति जनक कर्म है। अतएव नारद पुराणका कथन है—

अचिरादेव सर्वार्थः सिद्धत्येषामभीप्सितः।
सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः।।

सौभाग्यवान पुरुष जिस प्रकार साधुजनोंके आचरणका अनुसरण करना चाहते हैं, उसी प्रकार उनका धर्म भी जानना चाहते हैं। परन्तु दुर्भागे व्यक्ति इनके ठीक विपरीत आचरण करते हैं। ये लोग जिस प्रकार साधु–पथसे पृथक् नये–नये पथोंका अनुसन्धान करते हैं, उसी प्रकार साधुजनोंके निर्धारित सिद्धान्तोंका अनादर कर अपना–अपना सिद्धान्त भी चलाते हैं। ये लोग श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाओंको समझनेका प्रयत्न नहीं करते, बल्कि उनके विरुद्ध मतको स्वीकार कर उसका प्रचार करते हैं। वे इस बातको समझते नहीं कि उनके उस कुप्रचारका कैसा भयंकर परिणाम होता है। सच्चे शिष्य सद्धर्मको जाननेके लिए विशेष प्रयत्न करते हैं। यदि वे स्वयं समझनेमें असमर्थ होते हैं तो शिक्षागुरुसे श्रद्धापूर्वक जिज्ञासा द्वारा समझ लेते हैं। ऐसे लोगोंको शीघ्र ही साधनमें सफलता प्राप्त होती है।

सद्धर्म किसे कहते हैं?

अन्याभिलाषिता–शून्यं ज्ञान–कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

—कृष्ण–सेवाके अतिरिक्त लौकिक अथवा स्वर्गीय सुखरूप अन्याभिलाषासे रहित, कर्म और ज्ञान आदिके आवरणसे मुक्त, कृष्णकी अनुकूल–सेवाको उत्तमा भक्ति कहते हैं।

जिज्ञासुके हृदयमें जबतक उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त शुद्ध–भक्ति–रूप सद्धर्मका उदय नहीं होता, तबतक उसका हृदय अन्धकारसे ढका रहता है। ऐसी दशामें, शुद्ध–भक्ति किसे कहते हैं—वे समझ नहीं पाते। अपने उच्छृंखल विचारोंपर निर्भर रहनेसे शुद्ध–भक्ति कदापि उदित नहीं हो सकती। अधिकांश व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि अपनी बुद्धि और विद्याके बलपर उन्होंने भक्तिका स्वरूप समझ लिया है। परन्तु वास्तवमें उनमेंसे कुछ लोगोंने ज्ञान–मिश्रा भक्तिको और कुछ लोगोंने कर्म–ज्ञान उभय–मिश्रा भक्तिको ही शुद्ध भक्ति समझ रखा है। वे इतने

दाम्भिक होते है कि वे श्रीचैतन्यचरितामृतका अर्थ सुनकर ऐसा मन्तव्य प्रकाश करते हैं—'अपने-अपने मतसे सभी लोग अच्छा अर्थ करते हैं; चैतन्यचरितामृतका ही अर्थ माननेकी आवश्यकता क्या है? हम मत-मतान्तरोंके पचड़ेमें नहीं पड़ना चाहते। स्वतन्त्र अर्थ ही ठीक होता है।' ऐसे लोगोंका सद्धर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फलस्वरूप अपनी नयी प्रणालीके अनुसार भजन करके वे कभी भी शुद्ध भक्तिका रसास्वादन नहीं कर पाते।

६—कृष्ण प्रीतिके लिए भोग-त्याग

भक्ति साधकका कर्तव्य है कि वह श्रीकृष्णके उद्देश्यसे अपने समस्त प्रकारके भोगोंका परित्याग करे। इन्द्रिय-सुखोंके ग्रहणको भोग कहते हैं। हमारी इन्द्रियाँ जिन-जिन विषयोंका भोग करना चाहती हैं—हमें जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय हैं, उन्हें कृष्ण-अर्पण कर, प्रसादके रूपमें उन्हें जीवन-निर्वाहके लिए आवश्यकतानुसार ग्रहण करें।

७—तीर्थ-वास

कृष्ण-तीर्थोंमें वास करना—एक साधनांग है। द्वारका, मथुरा, वृन्दावन, गंगातट, यमुनातट और श्रीचैतन्य महाप्रभुकी लीला-स्थलियोंमें निवास करनेसे कृष्ण-स्मृति सदैव नवीन बनी रहती है। साधकको इससे अधिक और चाहिए ही क्या?

८—यथायोग्य परिग्रह

भक्तिके अनुकूल व्यावहारिक कार्योंके द्वारा जीविका निर्वाहोपयोगी अर्थका उपार्जन करना चाहिए। आवश्यकतासे अधिककी आशा करनेसे भक्ति अन्तर्हित हो जाती है। आवश्यकतासे कम अर्थ स्वीकार करनेसे जीविका-निर्वाहमें कठिनाईयाँ पैदा होनेसे साधन दुर्बल हो पड़ता है।

९—एकादशी पालन

एकादशीका यत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। १५ दिनोंमें एक दिन एकादशी तिथिमें समस्त प्रकारके भोगोंका परित्यागकर भजन करनेसे निरन्तर भजनका अभ्यास होता है।

१०—तुलसी आदिका सेवन

आँवला, अश्वत्थ, तुलसी, गौ, ब्राह्मण और वैष्णव—इनकी पूजा करनेसे मनुष्यके सारे पाप धुल जाते हैं। इससे भगवानकी कृपा लाभ होती है।

उपर्युक्त दस अन्वय विधियोंके पालनकी आवश्यकता

उक्त दस प्रकारके भक्तिके अंग हरि भजनके प्रारम्भिक कार्य हैं। जो लोग प्रारम्भमें ही इन अंगोंकी अवहेलना करते हैं, उनका भजन और भगवत्प्राप्ति कठिन है।

अतएव साधकको सबसे पहले गुरुपदाश्रय करके उनसे दीक्षा और शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। साधुजनोंके चरित्रका अनुसरण और उनके सिद्धान्तोंकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जीवनको कृष्णमय करनेके लिए कृष्ण-तीर्थमें निवास कर कृष्ण उद्देश्यसे अपने समस्त भोगोंका परित्याग करना चाहिए। व्यवहारिक कार्योंके द्वारा भक्तिके अनुकूल संसारके निर्वाहोपयोगी अर्थ उपार्जन या संग्रह करना चाहिए। भक्तिके लिए एकादशी और जयन्ती (जन्माष्टमी) आदिका विधिवत पालन करना चाहिए। वैष्णव आदि तदीय वस्तुओंका सम्मान करना चाहिए। इस प्रकार ये दस अन्वय विधियाँ अवश्य पालनीय हैं। इनके साथ निम्नलिखित दस प्रकारकी व्यतिरेक विधियोंका पालन नहीं करनेसे भक्तिका साधन स्थिर नहीं रह सकता।

(क्रमशः)

सप्तम धारा

भक्ति मार्गमें अग्रसर होनेके लिये साधु संग आवश्यक है। संसारकी समस्त प्रकारकी आसक्तियोंका निवारण साधु-संगसे ही संभव है। श्रीमद्भागवतके अनुसार भी 'संतः संगस्य औषधम्'

✪✪✪

कलियुगमें श्रीकृष्ण नाम जप साधना

—डा0 सत्यपाल गोयल

कहा गया है। 'संग' से तात्पर्य आसक्ति से है। इस आसक्तिका छेदन साधु संगसे ही संभव है।

यूँतो कृष्ण नाम जप व संकीर्त्तनका अपना प्रभाव है तथा कलियुगका यह प्रधान तथा एकमात्र साधन है। नामके प्रभावसे शनैः शनैः पाप निवृत्ति होकर हृदय शुद्ध हो जाता है तथा जीवके हृदयमें भक्तिका उदय होकर शुद्ध कृष्णनामकी स्फूर्ति होने लगती है। परन्तु महाप्रभु चैतन्य देवके अनुसार—

कोटि कोटि जन्मे करे नाम संकीर्त्तन
तथापि न पाय कभु कृष्ण प्रेमधन

(श्रीचैतन्य चरितामृत)

अर्थात् सारी सम्पत्तियोंकी तुलनामें कृष्ण प्रेमधन ही सर्वोत्तम अक्षय धन है। इस कृष्ण प्रेम धनको भी साधक करोड़ों जन्मो तक नाम संकीर्त्तनसे प्राप्त नहीं कर सकता है। उसके लिये साधु, गुरु, वैष्णवजनोंकी कृपा आवश्यक है। यह कृपा उसके चरणोंमें पदाश्रयकर तन, मन, वचन और धन (गौण है) से सेवा एवं संगसे प्राप्त की जा सकती है। जिस प्रकार किसी बालकको स्लेट पेंसिल या कागज कलम भर थमा देनेसे वह लिखना पढ़ना नहीं सीख सकता है। वह सारे जीवन केवल लाइनें भर खीचता रहेगा। शुद्ध रूपमें 'अ' भी नहीं लिखना सीख पायेगा परन्तु किसी गुरु द्वारा विधिवत लिखना सिखाने पर वह शुद्ध रूपमें सम्पूर्ण वर्णमालाके अक्षर लिखना सीख कर बड़े बड़े ग्रंथोंकी रचना करने लगेगा। सम्भवतः महाप्रभुजीने ऐसे ही बद्ध जीवों द्वारा कोटि जन्मतक नाम संकीर्त्तन करने पर भी कृष्ण प्रेम धन प्राप्त करनेमें अक्षम रहनेका संकेत दिया है—जो यथार्थ है।

अतएव कृष्ण प्रेमधनको साधु संगसे प्राप्त किया जा सकता है। महाप्रभुजी द्वारा कृष्ण प्रेमधन पर अधिक जोर डाला गया है। संसारसे उद्धार होना या लौकिक मनोकामनाओंकी पूर्ति होना, दैहिक कष्टोंका अंत होना तो नाम जपके साधारण (गौण) फल हैं। मुख्य फल तो कृष्ण प्रेमधन ही है जिसे बिना गुरु वैष्णव कृपाके प्राप्त नहीं किया जा सकता है। गुरु वैष्णव कृपा सेवाके सम्पन्न किये संभव नहीं हैं। अधिकांश सांसारिक लोग साधुओंका संग धन तथा पुत्र प्राप्ति या रोग निवृत्तिके लिये करते हैं। परन्तु जो गुरु वैष्णव कृष्ण प्रेम धनसे लबालब भरे हुए हैं—प्रथम तो उनका मिलना कठिन है और मिल भी जायें तो वे सांसारिक चर्चा से दूर रहते हैं। उनका आर्विभाव ही जीवोंको कृष्णकी ओर बढ़ाना है। अतएव यदि कृष्ण प्रेम प्राप्त करना तुम्हारा ध्येय है तो तुमको चाहिए कि सम्पूर्ण समर्पण (जहाँ अपना कहने या रखनेके लिये कुछ शेष नहीं रहे) के साथ गुरु वैष्णवोंका संग कर शुद्ध मन से उनकी सेवा करो तथा श्रीकृष्ण चरणोंमें आसक्ति रखकर उनके नाम, गुण, लीला धामका स्मरण चिंतन जप और कीर्त्तन करो।

कृष्ण प्रेमधन तीन प्रकार से ही पाया जा सकता है। प्रथम या तो श्रीकृष्ण स्वंय कृपाकर प्रदान कर दें या गुरु वैष्णव शक्तिपात कर हृदयमें कृष्ण प्रेम उत्पन्न कर दें या फिर साधन सिद्धि द्वारा श्रीकृष्ण भगवानके प्रसन्न होने पर मिलता है। इस प्रकार कृष्ण कृपा, गुरु कृपा या साधन, साध्य होकर ही कृष्ण प्रेम पाया जा सकता है।

श्रीकृष्ण अपना प्रेम प्रदान करनेमें परम स्वतंत्र हैं। परन्तु शुद्ध हृदय सम्पन्न साधकोंके प्रेममें बंधकर वे अपनी स्वतंत्रताको भी भूलकर अपने प्रेमियोंके हाथों बिक जाते हैं। यही उनकी सहजता, सरलता, भक्तवत्सलता और प्रेमवत्सलता है।

महाप्रभु श्रीचैतन्य देवजीका पूर्व कथन पूर्णतः सत्य हैं। सत्संगसे साधकको—साधन क्रिया, जीवका

स्वरूप, भगवान्‌के नाम, रूप, गुण और लीला तथा धामका तत्त्वतः परिचय प्राप्त होता है। वैज्ञानिक क्षेत्र हो या धार्मिक, सामाजिक हो या राजनैतिक सिद्धान्तोंका निर्माण सभी क्षेत्रोंमें होता है तथा उन सिद्धान्तोंको जाने विना किसी मार्ग पर नहीं चला जा सकता है और न ही सही लक्ष्यकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसीलिये श्रीलकृष्ण दास कविराज गोस्वामी द्वारा श्रीचैतन्य चरितामृतमें दर्शाया गया है कि—

सिद्धान्त बलिते चित्ते न कर आलस।
इहा हैते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस।।
(१।२।९९)

बिना सिद्धांत जाने अपने प्रेष्ठ श्रीकृष्णमें सुदृढ़ निष्ठा पैदा नहीं होती है। सिद्धान्तके अभावमें मन चंचल रहेगा तथा उनके दिव्य चरित्रोंमें भी भौतिक मांसलताका आरोप कर घोर पतंगका पथ निर्माण होगा। इसलिये सिद्धान्तको जाननेमें कभी आलस्य नहीं करना चाहिए। यही कारण है कि सिद्धान्तके अभावमें अनेक साधक, साधु, पंथवादी, सहजिया, आउल, वाउल, कर्ताभजा, गोसांई आदि स्वंयको कृष्ण मानकर समाजकी सरल हृदय महिलाओंको गोपी कहकर उनका शारीरिक शोषण कर स्वंय तो जधन्य अपराध करते ही हैं अपने अनुगामियोंको भी असत मार्गमें पर ले जाते है। वर्ष १९९५ में नागपुर में एक ऐसे ही साधुको पुलिस द्वारा हवालातमें बंदकर उस पर प्रकरण चलाया गया, जो भागवतकी रसिक व्याख्या तो करता ही था, महिलाओंके साथ यौन संवंध यह कह कर करता था कि मैं कृष्णका अवतार हूँ। (लेखकने १९५२ में ग्वालियरमें उसका भागवत पर व्याख्यान सुना था) यह सिद्धान्त ज्ञानके अभावमें ही होता। ऊपरसे ऐसा दिखता है कि मैं भजन कर रहा हूँ, परन्तु सिद्धान्तके अभावमें श्रीकृष्णकी दिव्य रसमय लीलाओंमें मानवीकरण कर, सामान्य यौन आचारमें लिप्त हो जाता है। नये साधकोंको चाहिए कि वह सावधानी पूर्वक साधु संग करे। ऐसे सिद्धान्त हीन लोग धन और जन दोनौका भजनके नाम पर शोषण कर देह लिप्सामें लिप्त रहते हैं।

अतएव शुद्ध सत्संगके अभावमें सिद्धान्त ज्ञान नहीं होता है और सिद्धान्त ज्ञानके अभावमें निष्ठाका उदय नहीं होता है। किसी कृष्ण निष्ठ सम्प्रदायके अंतर्भुक्त वैष्णव जनोंका आश्रय करना निरापद है। श्रीहरिभक्तिविलास ग्रंथमें ऐसे पतित गुरूओंके विषयमें कहा गया है कि—

यो व्यक्ति न्याय रहितमन्यायेन शृणोति यः।
तानुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालक्षयम् ।।
(ह. म. वि. १। ६२)

अर्थात जो व्यक्ति आचार्यके को वेश धारण कर सत्शास्त्रोंके प्रतिकूल शिक्षा प्रदान करते हैं और जो शिष्यमें रूपमें अन्यायपूर्ण शिक्षाको ग्रहण करते हैं वे दोनों ही अनन्त काल तक घोर नर्कमें वास करते हैं।

ऐसे गुरूओंसे बचनेकी परम आवश्यकता है। वे आपका सर्वस्व हरण कर कहींका नहीं छोड़ेगें। इस क्षेत्रमें गौड़ीय वैष्णव जनों द्वारा रचित साहित्यका ही पठन तथा उसका अनुसरण अभिप्रेत है। यहाँ मेरा अन्य कृष्ण प्रेमी सम्प्रदायोंसे कोई अन्तर बिरोध नहीं है किन्तु श्रीभक्तिरसामृतसिंधु, षट् सन्दर्भ, गोपालचम्पू, माधुर्यकादम्विनी, ऐश्वर्य कादम्विनी, श्रीकृष्णभावनामृतम्, श्रीगोविन्द लीलामृतम् श्रीचैतन्य भागवत, श्रीचैतन्य चरितामृत जैसे परमशुद्ध भक्तितत्त्व विवेचक अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं, जिनका एक बार पाठ कर लेने या श्रवण कर लेने पर स्वंय अज्ञानका आवरण हट जायेगा तथा क्षीर नीर विवेककी भांति सम्प्रदायगत विशेषत्व एवं श्रेष्ठत्व सिद्ध हो जायेगा। लेखक द्वारा बहुत शोधके उपरांत ही यह तथ्य कहा गया है।

अतएव सत्संग व साहित्यका संग करते समय अत्यंत सावधान रहना आवश्यक है। लौकिक नियमोंके भंग होने पर आजीवन कारावास से अधिक दण्डकी आशा नहीं है, परन्तु भजन क्षेत्रमें सिद्धान्त विरुद्ध धारणाओं तथा आचरणसे अनन्त कोटि जन्मों

तक दोनों ही पक्षोंको नर्क यातना भोगनी पड़ सकती है। गेरूआमकपड़े देखकर ही साधुके चरणोंमें लेट जाना हमारा सांस्कृतिक गौरव रहा है, परन्तु कलिकालमें अर्थलोभी, तनलोभी, स्त्रोलोभी योगप्रिय साधुओंके पंथ (परम्परागत सम्प्रदाय नहीं) मिलेंगे जो कोमल भावनाओंका विदोहन कर षडयंत्र रचते हैं।

संभव है परिचयके अभावमें या व्यापक मायाजालके कारण साधक गलत साधुका पढ़ाश्रय ले–ले तो इससे त्राण पानेमें कभी कभी शिष्य यह धारणा निर्मित कर लेता है कि गुरुका परित्याग करनेसे, गुरु अवज्ञाका दोष लगनेसे मुझे नर्क वास करना पड़ सकता है। इस संबंधमें श्रीनारद पांचरात्रमें निम्न वयवस्था दी है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्यकार्यमजानतः।
उत्पथ प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ।।

(नारदपांचरात्र १।१०।२०)

अर्थात् यदि किसी असत् गुरुके जालमें कोई शिष्य पड़ जाये तो ऐसा विधान नहीं है कि साधक आँख बंद कर उसका अनुगामी बना रहें अपितु यदि किसीके बारेमें यह सिद्ध हो जाये कि ये वैष्णव धर्म विरोधी हैं या कुपथगामी हैं तो ऐसे गुरुको तुरन्त त्याग देना ही शिष्यका कर्तव्य है।

भगवानके सामने समर्पण कर रहे महाराज बलिको शुक्राचार्यने जब तीन पग पृथ्वीका दान करनेसे मना किया, तो बलिने उस भगवद्विद्वेषी गुरुका तत्काल त्याग कर दिया—ऐसा करने पर बलिका कुछ अहित न होकर मंगल ही हुआ। मैं तो यह भी कहूंगा कि माता, पिता, भाई, मित्र, पति, पत्नी, पुत्र, बहिन, पुत्री, गुरु, शिष्य आदि जो भी भजनमें बाधक हो या विरुद्ध हो उसे सुधारकी अपेक्षाके विचारका त्यागकर तत्काल त्याग कर देना चाहिए।

जाके हृदय न राम वैदेही, तजिये ताहि
कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही
तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बंधु भरत महतारी
व्रज वनितन ने कंस तजे भये मुदमंगलकारी

(श्रीतुलसीदासजी)

इस संवंधमें हरिभक्तिविलासमें भी इसी प्रकारकी व्यवस्था दी है—

अवैष्णवोपदिष्टेन मंत्रेण निरयं व्रजेत ।
पुनश्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद्वैष्णव गुरो ।।

(ह. भ. वि. ४।१४४)

अर्थात् स्त्री संगी अवैष्णव गुरुसे मंत्र ग्रहण करनेसे साधक नरकगामी होता है। अतएव शास्त्रोक्त विधिसे पुनः किसी सद्गुरुसे मंत्र ग्रहण करना चाहिए।

यही कारण है कि महाप्रभु चैतन्य देवने कहा कि कोटि कोटि जन्मों तक नाम संकीर्तन करने पर भी कृष्ण प्रेमधन नहीं मिल सकता है, क्योंकि भजन मार्गमें भी सिद्धान्त ज्ञानके अभावमें सत् क्या है तथा असत् क्या है?–साधकको इसका ज्ञान ही नहीं रहेगा। अतएव यत्नपूर्वक असत्संगका त्याग कर निष्ठापूर्वक सद्वैष्णवोंका संग करना चाहिए एवं निष्ठापूर्वक नामजप करते हुए भक्ति–सिद्धान्त सिद्धान्त ग्रंथोंका अध्ययन भी करना अपरिहार्य है।

भक्ति शास्त्रोंमें सत्संगका बहुत महत्त्व दर्शाया गया है। शुद्धचित्त भक्तिनिष्ठ वैष्णव जनोंका संग भगवत् कृपासे ही मिलता है, जिनके मिलने पर स्वतः ही रसना पर कृष्ण नामका उदय हो जाता है।

भक्तिस्तु भगवद् भक्त संगेन परिजायते।
सत्संगः प्राप्यते पुंभिः सुकृतैपूर्व संचितैः।।

(बृहन्नारदीय पुराण ४।३३)

अर्थात् भगवानके प्रेमी भक्तोंके संगके प्रभावसे साधकोंके हृदयमें भक्तिका उदय होता है। जीवको अपने पूर्व जन्मके संचित सुकृतिके फलसे ही विशुद्ध भक्तोंका संग प्राप्त होता है।

विनु हरि कृपा मिले नहि संता।
अब मोहि ना भरोस हनुमंता।।

(श्रीरामचरितमानस)

अर्थात् हे हनुमानजी अब मुझे विश्वास हो गया है कि विना भगवानकी कृपाके शुद्धहृदय भक्तोंका

संग प्राप्त नहीं होता है। साधारणतया लोग पुण्य और सुकृतिको समान ही समझते हैं।जबकि पुण्यके पीछे कर्म वासना निहित होती है। जिसे भोगनेके लिये जीवको बार बार स्वर्गमें पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है। पुण्यका फल भोगके पश्चात् समाप्त हो जाता है, क्योंकि पुण्य कर्म इसी वासनासे लिप्त होकर किये जाते हैं कि मुझे इस कर्मका अच्छा फल प्राप्त हो। विश्वमें सनातन धर्मको छोड़कर शेष सभी धर्मों में इसी भावनासे ओतप्रोत होकर कर्म किये जाते हैं कि मानव कल्याणके लिये मैं यह शुभ कर्म कर रहा हूं ताकि अगले जन्ममें मुझे इसका फल प्राप्त हो। श्रीगीताजीमें लिखा है कि—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।।

(९।२१)

अर्थात स्वर्ग की वासनासे लिप्त होकर कर्म (पुण्य) करनेवाले साधक उस विशाल स्वर्ग लोकको भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।

इसलिये कहा गया है कि पुण्य कर्मका फल स्थिर नहीं होता है किन्तु उसका क्षय भोगने पर होता है। जीवका किया हुआ कर्म उसको जन्म जन्मांतरोंमें उसी प्रकार खोज लेता है, जिस प्रकार गायका बच्चा (बछड़ा) हजार गायोंके अंदर भी अपनी माँ को पहचान लेता है। इसीलिए गीतामें भगवानने कहा है— गहणा कर्मणो गतिः—कर्मकी गति अत्यंत गहन है।

(क्रमशः)

भुवनविख्यात हरिभक्त महाराज अंबरीष का नाम बालक, बुड्ढे, जवान सभी जानते हैं। मायामें बँधे हुए जीव हमेशा ही मायाके बन्धनमें पड़कर संसारको सार जानकर नाना प्रकारके कष्ट पाते हैं ओर उन कष्टोंको दूर करनेके लिए नाना प्रकारके सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, किन्तु दुःख का विषय यही है कि वे जिस दुःखको दूर करनेके लिए चेष्टा

✪✪✪

अम्बरीष और दुर्वासा

करते हैं, वही दुःख आकर उसे जर्जर करता है। अतएव इस संसारमें रहकर भक्तगण जिस प्रकार कार्य करते हैं, हम भक्तोंके अनुगत होकर यदि उन विषयोंका अनुशीलन करें तो निपुणताके साथ कर्मपाशसे छुटकारा पा सकते हैं। हम यहाँ एक ऐसे ही परम भक्तका जीवन चरित्र दे रहे हैं।

महाराज अम्बरीष सप्त द्वीपा वसुन्धराके एकछत्र सम्राट होकर भी सब विषयोंको स्वप्नके समान मिथ्या समझते थे। उनके भक्तिके कार्य परम आकर्षक एवं सुन्दर थे। वह मनको श्रीहरिके चिन्तनमें, वाणीको श्रीहरिकी कथाओंमें, दोनों हाथोंको श्रीहरिके मन्दिर मार्जनमें, दोनों कानोंको अच्युत भगवान हरिके और उनके भक्तोंकी लीला-कथाओं श्रवणमें, नेत्रोंको श्रीभगवानके श्रीविग्रह, मन्दिर और भक्तोंके दर्शनमें, अंगोंको भक्तोंके अंगोंके स्पर्शमें, नासिकाको श्रीभगवानके पादपद्ममें अर्पित तुलसीदलकी सुगन्ध सूँघनेमें और रसनाको श्रीभगवानके प्रसाद सेवनमें लगाए रहते थे। वे पैरोंसे श्रीहरिके क्षेत्रोंमें भ्रमण करते थे, सिरसे भगवानकी मूर्त्तिको प्रणाम करते थे। कामको विषय-कामनामें न लगाकर श्रीभगवानकी सेवामें लगा रक्खा था। उन्होंने श्रीप्रह्लाद आदि भक्तेंके आचरित भक्तिके इन अंगोंका अनुष्ठान करके श्रीभगवानके चरणोंमें रति प्राप्त कर ली थी। उधर वह ब्राह्मणोंके आदेशके अनुसार प्रतिनिधिके द्वारा बहुत अच्छी तरहसे राज्य-शासन भी करते थे।

यद्यपि ऐसे परम अथवा ऐकान्तिक भक्तोंको

अन्य मायाबद्ध जीवोंके समान भक्तिके अतिरिक्त दूसरे अनित्य यज्ञादि कर्म आवश्यक नहीं होते। तथापि लोकशिक्षाके लिए वे क्षत्रिय राजाके लिए उचित अश्वमेध आदि यज्ञका अनुष्ठान करके यज्ञेश्वर श्रीहरिको प्रसन्न करते थे। वशिष्ठ, असित, गौतम आदि ब्राह्मणको प्रतिनिधि बनाकर उन्होंने राजधानीसे दूर सरस्वती नदीके किनारे बहुसे यज्ञादि किए। राजधानीमें रहकर अपने कर्त्तव्योंका अच्छी तरहसे पालन करते थे और तीर्थक्षेत्रकी महिमाका विस्तार करनेके लिए वे वहाँपर नाना प्रकारका भक्ति अनुष्ठान करते।

महाराज स्वयं द्वादशीव्रतका पालन करते थे। एक बार कार्तिकमासमें इस व्रतके पालनके उपलक्षमें वे स्त्रीसहित यमुना–स्नानादि करके मधुवनमें श्रीहरिका पूजन किये, पश्चात् ब्राह्मणोंको गो दान किए और भगवानके प्रसाद आदि द्वारा उन्हें परितृप्त कर अतिथि सत्कारके उपरान्त जब वह स्वयं प्रसाद भोजन करनेको प्रस्तुत हुए, उसी समय दुर्वासा ऋषि वहाँ उपस्थित हुए। भक्तराज अम्बरीषने वैसे ही अपने भोजनकी व्यवस्था बंद करके आसन, जल इत्यादि लेकर ऋषिकी यथोचित अभ्यर्थना की और आतिथ्य ग्रहण करेनके लिए निमन्त्रण दिया। राजाकी प्रार्थनासे दुर्वासाने सन्तुष्ट चित्तसे उनका आतिथ्य ग्रहण किया और मध्याह्नकी सन्ध्या तर्पण आदि क्रियाओंको करनेके लिए नदीके तटपर गए। वहाँ कालिन्दीके जलमें ब्रह्मचिन्ता (गायत्री जप आदि) करनेमें लग गए। दुर्वासाके लौटनेमें अधिक देर होने लगी। इधर द्वादशी तिथि बीतनेमें आधा मूहूर्त अर्थात् एक घड़ी ही बाकी रहनेके कारण हरिसेवारूप पारण करनेका समय भी समाप्त होने आया। तब महाराजने सभामें स्थित ब्राह्मणोंसे पूछा कि अब क्या करना उचित है? निमन्त्रित ब्राह्मणको भोजन कराए बिना उससे पहले भोजन कर लेना भी पाप है और द्वादशीव्रतके बाद यथासमय पारण न करनेसे भी हरिसेवारूप व्रत–वैगुण्य या व्रत–भंगका दोष लगता है। अतएव अब मैं क्या करूँ? क्या करनेसे मेरे लिए मंगल होगा और अधर्मका भागी मैं नहीं होऊँगा? अन्तमें विचार किया कि केवल जलमात्र पीकर व्रतको समाप्त कर दना ही उचित है कारण श्रुतिका कहना है कि जलपान भोजन भी है और भोजन नहीं भी है। महाराजने उनकी आज्ञा लेकर भक्तिपवित्र हृदयसे श्रीभगवानका ध्यान करके केवल जल पी कर व्रतकी रक्षा की।

उस समय दुर्वासा ऋषि स्नान ओर पूजन आदि क्रियाओंसे निवृत्त होकर महाराजके निकट उपस्थित हुए। भक्तराजने हाथ जोड़कर ऋषिकी अभ्यर्थना की। किन्तु योगबलसे दुर्वासा पहले ही महाराजके जल–पानकी बात जान गए थे। अतएव क्रोधसे काँपते–काँपते कुटिल दृष्टिसे उन्होंने राजाकी ओर देखकर कहा—अहो! यह व्यक्ति कैसा नृशंस है और धनके मदसे मत्त हो रहा है। अब यह विष्णुका भक्त नहीं है। यह अपने ही को ईश्वर मान बैठा है। इसीसे इसने धर्मका इस प्रकार उल्लंघन किया है। आज मैं इसके आश्रमका अतिथि हूँ। इसने आतिथ्य के लिए मुझे निमन्त्रण दिया था। किन्तु मुझे भोजन करानेके पहले ही इसने स्वयं भोजन कर लिया है। अच्छी बात है, मैं शीघ्र ही इसे इसका फल चखाता हूँ।

इतना कहकर वे क्रोधसे अपने सिरसे एक जटा उखाड़ कर उससे राजाका विनाश करनेके लिए भयानक राक्षसी–कृत्याकी सृष्टि की। वह कृत्या हाथमें तलवार लेकर पैरोंकी धमकसे पृथ्वीको कँपाती हुई अग्निके समान प्रज्ज्वलित होकर राजाकी बढ़ने लगी। भक्तराज महाराज अम्बरीष अपनेको मृत्युके मुखमें देखकर भी अपने स्थानसे विचलित नहीं हुए—जहाँके तहाँ खड़े रहे। यह दृश्य अत्यन्त अद्भुत था। अनन्य भक्तजन अपनी देह, मन ओर आत्मा तकको श्रीभगवानको समर्पण कर अपनी रक्षाके बारेमें निश्चिन्त रहते हैं। कारण वे जानते हैं कि श्रीभगवान ही जीवके एकमात्र रक्षक, पालक

और विनाशक हैं। उनकी इच्छासे ही प्राणी जीवित रहता है ओर उन्हींकी इच्छासे वह नष्टा होता है। भगवान स्वयं शरणागत जनोंकी रक्षा करते हैं।

भक्तपर संकट आया देखकर श्रीभगवानने तुरन्त ही सुदर्शन चक्रको भक्तकी रक्षाके लिए वहाँ भेजा। सुदर्शन चक्रने उस कृत्याको वैसे ही खत्म कर दिया, जैसे प्रचण्ड दावानल वनके सर्पको जलाकर राख कर देता है। इतना ही नहीं, कृत्याको जलाकर वह दुर्वासा ऋषिकी ओर बढ़ा। अब तो दुर्वासाके प्राण सूख गए। प्राणोंकी रक्षाके लिए इधर-उधर दौड़ने लगे। मुक्त-अभिमानी ऋषि अपनेको अपना रक्षकर समझनेकी गलती करके प्राणकी रक्षाके लिए अत्यन्त चञ्चल हो उठे।

इधर चक्रने भागते हुए ऋषिका पीछा किया। अपना पीछा करते हुए चक्रको देखकर मुनि योगबलसे सब दिशाओंमें, आकाशमें, भूमिमें, अतल आदि नीचेके लोकोंमें, सागरोंमें, लोकपालोंके लोकोंमें और स्वर्गमें, सर्वत्र ही भागे-भागे फिरे, परन्तु चक्रने पीछा न छोड़ा। तब कहीं शरण न पाकर दुर्वासाजी ब्राह्मणवर्णके जनक ब्रह्माजीके पास पहुँचे और उस दुस्सह्य तेजोयुक्त हरिचक्रसे अपनी रक्षा करनेके लिए बड़े कातर होकर ब्रह्माजीकी प्रार्थना करने लगे। किन्तु ब्रह्माने कहा—"वत्स! मैं उन्हीं भगवानका सेवक हूँ जिनका यह चक्र है। केवल मैं ही नहीं शिव, दक्ष प्रजापति, भृगु आदि प्रजापतिगण, भूतेश, सुरेश आदि सब उन विष्णुके आदेशको सिर झुकाकर पालन करते है और उन्हींके आदेशानुसार लोकहितके लिए कार्य करते हैं। मेरा यह ब्रह्म पद भी अनित्य है। उन सर्वदेवेश्वरकी जगतक्रीड़ाका अन्त होनेपर अर्थात् प्रलय कालमें मेरा यह लोक भी नहीं रहेगा। तुमने उनके भक्तसे द्रोह कर बड़ी भूल की है। मैं तुम्हारी रक्षा करनेमें बिल्कुल असमर्थ हूँ।"

दुर्वासा ब्रह्मासे सूखा जवाब पाकर कैलास पर्वतपर शंकरकी शरणमें गए। शंकरने कहा—"वत्स, उन परम पुरुष विष्णु भगवानके निकट मेरा कुछ भी नहीं चलेगा। हम उनकी आज्ञाके बिना कुछ नहीं कर सकते। उनके शत्रुको हम किसी प्रकार शरण नहीं दे सकते। मैं, सनत्कुमार, नारद, कमलयोनि ब्रह्मा, कपिल, व्यासदेव, देवल, धर्म, आसुरि और मरीचि आदि सिद्धेशगण कोई भी सर्वज्ञ होकर भी उनकी मायाको नहीं जान पाते, बल्कि उनकी मायासे मोहित हो रहे हैं। उन विश्वेश्वरका चक्र हमारे लिए भी दुःसहनीय है। अतएव तुम उन्हीं विष्णुकी शरणमे जाओ। वे ही तुम्हारा कल्याण करेंगे।"

शिवके इस कथनसे निराश होकर दुर्वासाने सोचा मैं रसातल आदि स्थानोंमें गया, ब्रह्माके और अन्तमें अपने इष्टदेव शिवके भी लोकमें गया, उनका आश्रय भी ग्रहण किया, किन्तु कहीं भी किसीने मेरी रक्षा नहीं की। अब जिनके भक्तका अपमान किया है, उन्हीं विष्णुके निकट अपनी रक्षाके लिए जानेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं।

अन्तमें हताश होकर दुर्वासा ऋषि भगवान नारायणके पास गए और उनके पैरोंपर गिर कर रोते-रोते हुए बोले—"हे अच्युत! हे अनन्त, हे साधुजनोंके अभय-दान करनेवाले, मैंने बड़ा अपराध किया है। हे विश्वभावन, आप सम्पूर्ण विश्वका मंगल चाहते हैं। मैं भी इसी विश्वका एक जीव जीव हूँ। मेरी रक्षा कीजिए। प्रभो! आपके प्रभावको बिना जाने मैं 'सोऽहम्'के अभिमानमें आकर आपके भक्तका अनिष्ट करनेको उद्यत हुआ था। हे विधाता! मेरा यह अपराध क्षमा कीजिए। हे भगवन्! आपके भक्तसे द्रोह करनेवालेका कभी भी निस्तार नहीं है, यह जो आप कहेंगे तो मैं नहीं मानूँगा। कारण नरकका जीव भी जब आपके मंगलमय श्रीनामका कीर्तन करनेसे मुक्ति पाता है, तब मेरा उद्धार क्यों न होगा?"

दुर्वासाजीकी बात सुनकर करुणामय श्रीभगवानने कहा—"हे ब्राह्मण! मैं भक्तोंके वशमें हूँ। स्वाधीन नहीं, भक्तोंक अधीन हूँ। भक्तजन मुझे प्रिय हैं, इसीसे भक्त साधुओंने मेरे हृदयपर अधिकार कर

रक्खा है। हे मुनिवर, मैं ही जिनकी एकमात्र गति हूँ, उनको छोड़कर मेरी प्रेयसी लक्ष्मी यहाँ तक कि अपनी आत्मा भी प्रिय नहीं है। जिन्होंने पुत्र, स्वजन, धन, प्राण, इहलोक, परलोक आदि सब कुछ त्याग करके मेरी ही शरण ग्रहण की है, उन्हें मैं किस प्रकार त्याग कर सकता हूँ। हे विप्र! सर्वत्र समदर्शी साधुजन मुझे वैसे ही वशमें कर लेते है, जिस प्रकार सती साध्वी स्त्री अपने सज्जन पतिको वश कर लेती है। मेरे भक्त मेरे सच्चे सेवक हैं। अन्य सुखभोगकी इच्छाकी कौन कहे, सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य आदि चारों मुक्तियोंको भी नहीं लेना चाहते। अतएव तुम यदि कहो कि मैं ब्राह्मण हूँ, तो मैं उसके उत्तरमें कहता हूँ कि ब्रह्मतेजसे युक्त ब्राह्मणसे भी मेरा भक्त मुझे अतीव प्रिय हैं। अतएव तुम अम्बरीषसे द्रोह करके मुझसे ही द्रोह कर रहे हो—मेरे ही हृदयको जलाते हो। फिर अगर कहो कि प्रभो! मैं तो आपके शरणागत हूँ, आप मेरा अपराध क्षमा करें, तो उसके उत्तरमें मेरा वक्तव्य यह है कि मैं ही साधुओंका हृदय हूँ साधुका प्रसन्न होना ही मेरा प्रसन्न होना है। इसलिए तुम भक्तराज अम्बरीषके निकट जाओ और उन्हें प्रसन्न करो। अगर कहो कि अम्बरीषने पहले मुझे निमन्त्रण दिया और फिर मुझे भोजन न कराकर उसके पहले ही आप भोजन कर लिया। इसमें क्या उसका दोष नहीं है? तो उसके उत्तरमें मुझे यही कहना है कि मेरे भक्त साधुजन मेरे सिवा और किसीको भी श्रेष्ठ नहीं मानते। फिर यदि प्रश्न करो कि ब्राह्मण और द्वादशी (एकादशी) व्रतमें किसका आदर अधिक है, तो उसके उत्तरमें मैं कहता हूँ—जाओ अम्बरीषसे पूछो। शास्त्रका ज्ञान तुमको नहीं है। तुमको वह इसका यथार्थ उत्तर दे देगा। कारण मैं साधुके सिवा और किसीको श्रेष्ठ नहीं जानता। मेरे भक्त अविद्वान् या अज्ञ नहीं हैं। अम्बरीषने वेदशास्त्रकी विधिके अनुसार ही पारणके लिए जलपान कर लिया है।"

तब भगवानने कहा—"हे विप्र! तुमने जिसका अपराध किया है, शीघ्र ही उसके निकट जाओ। क्या तुम नहीं जानते कि जो व्यक्ति साधुओंका अनिष्ट करना चाहता है, उसीका अनिष्ट होता है? अगर तुम्हें अपनी तपस्या और विद्याका अभिमान है, तो मैं कहता हूँ तप और विद्या ब्राह्मणोंके नैमित्तिक कर्म हैं, नित्यधर्म नहीं। दुर्विनीत और उद्दण्ड पुरुषोंके लिए यह उलटा ही फल देते हैं। अतएव जाओ, अम्बरीषसे क्षमाकी प्रार्थना करो।"

चक्रके दुःसह्य तेजसे जल रहे दुर्वासा ऋषिने तब भगवानके आदेशसे अम्बरीषके निकट उपस्थित होकर उनके पैर पकड़ लिए। दुर्वासा ऋषिको अत्यन्त भयभीत और व्याकुल तथा अपने पैर पकड़ते देखकर महाराज अम्बरीष बड़े लज्जित और दुःखी हुए। वे हाथ जोड़कर सुदर्शन चक्रकी स्तुति करने लगे। बहुविध वाक्योंसे भगवानके सुदर्शन चक्रकी स्तुति करनेके बाद उन्होंने कहा—"हे सुदर्शन! यदि कुछ दान अथवा यज्ञ करनेसे कुछ सुकृति हो, यदि मैं अच्छी तरह सदैव अपने धर्मका पालन करता रहा हूँ, यदि सभी जीवोंके एकमात्र प्रभु भगवान मुझपर प्रसन्न हों, तो उनकी कृपासे यह ब्राह्मण इस संकटसे मुक्त हो जाय। महाराजके स्तव करनेपर सुदर्शन चक्रने सन्तुष्ट होकर अपना तेज समेट लिया ओर शान्त होकर भगवानके पास चले गये।"

दुर्वासा ऋषि महाराज अम्बरीषकी महानता, भगवद्भक्ति देखकर मुग्ध हो गए। वे उनकी बार-बार प्रशंसा करने लगे। दुर्वासाने कहा—महाराज, आज मैंने अनन्त भगवानके दासोंका अद्‌भुत महत्त्व देखा। ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जिसे वे न कर सकें। मैंने आपके प्रति अपराध किया और आपने उस अपराधका कुछ भी खयाल न करके मेरे साथ ऐसी उदारताका व्यवहार किया—मेरी जान बचा ली। अहो! अखिल ब्रह्माण्डोंके आश्रय श्रीहरिको जिन्होंने

वशमें कर लिया है, उनके लिए क्या कठिन है? जिन भगवानका नाम श्रवण करनेसे मनुष्य निर्मल हो जाता है, उन तीर्थपाद भगवानके दासोंके लिए कौन काम करना कठिन है? वे क्या नहीं कर सकते? महाराज! आप बड़े ही दयालु हैं। आज आपने मेरे ऊपर बहुत बड़ा अनुग्रह किया है, क्योंकि मेरे अपराधका खयाल न करके मेरे प्राणोंकी रक्षा की।"

अपनी प्रशंसा सुनकर बड़े ही लज्जित हुए और महाराजने ऋषिवरके चरणोंको पकड़कर उन्हें प्रसन्न करके भगवानका महाप्रसाद भोजन कराया। दुर्वासाने उनसे भी भोजन करनेके लिए अनुरोध किया ओर उनके भोजन करनेके पश्चात् दुर्वासाजीने कहा—राजन! आप परम भगवद्भक्त हैं। आपने मुझे बहुत ही अनुगृहीत किया। आपके इस वार्तालाप और वैष्णवोचित आतिथ्यसे मैं अत्यन्त प्रसन्न और सन्तुष्ट हूँ। स्वर्गके रहनेवाले देवता और पृथ्वीवासी मनुष्यगण चिरकालतक आपकी इस पवित्र गाथाको गाकर धन्य होंगे।" इस प्रकार विविध वचनोंसे महाराजको सन्तुष्ट करके दुर्वासाजी आकाश मार्गसे ब्रह्मलोक चले गए।

पाठकोंके मनमें इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक है कि जब चक्रने दुर्वासाजीका पीछा किया था और वे अपनी प्राणोंकी रक्षा करनेके लिए विभिन्न लोकोंमें भाग-दौड़ कर रहे थे, तब उसमें तो बहुत समय लगा होगा। अतएव जितने समय तक वे लौटकर फिर अम्बरीषके निकट नहीं पहुँचे, तबतक महाराज कैसे रहे? भूखे-प्यासे रहे या भोजन इत्यादि करते रहे? इसका उत्तर बड़ा ही सुन्दर है। भगवद्भक्तके त्याग की महिमाका वर्णन नहीं किया जा सकता। "तृणादपि सुनीचेन" का भाव उनके जीवनमें अक्षरशः प्रतिपालित होता दिखाई पड़ता है। उनके प्रत्येक कार्यमें जीवोंके प्रति दयाका भाव ओतप्रोत होता है। अतएव दुर्वासा जबतक लौटकर नहीं आए, तबतक एक वर्ष अम्बरीष महाराज उनके पनुर्दशनकी आशामें केवल जल पी कर ही रहे। सभासदोंके बार-बार अनुरोध करनेपर भी वे उस स्थानसे हटे नहीं। जहाँ वे खड़े थे वहाँ ही खड़े रहें। ऋषिके रक्षाके लिए भगवानके निकट प्रार्थना करते रहें।

दुर्वासाके चले जाने पर महाराज विष्णुका महाप्रसाद ग्रहण करके ब्राह्मणकी विपत्ति, उनका विपत्तिसे छुटकारा, अपने धैर्य और भगवानके प्रभावपर विचार करने लगे। महाराज सर्वान्तःकरणसे भगवान वासुदेवके प्रति प्रीति प्रदर्शन करते थे। उसी अनन्य भक्तिका यह प्रभाव था कि वे ब्रह्मपदके साथ सर्व विषय भोगों, स्वर्ग तकको नरकके तुल्य हेय समझते थे।

अन्तमें वे अपने योग्य पुत्रको राज्यभार सौंपकर वनको गए और एकान्तमें भगवान वासुदेवके ध्यान-चिन्तनमें लगे रहकर शेष जीवन व्यतीत किया।

अब प्रश्न हो सकता है कि महाराज घरमें रहकर जब सब इन्द्रियोंके द्वारा आठो प्रहर श्रीहरिकी सेवा करते रहते थे, तब उनके वनमें जानेका मतलब क्या है? इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ व्यक्ति जो आचरण करते हैं, इतर व्यक्ति उसीके अनुगामी होते हैं। गृहस्थाश्रममें यथोचित भगवद्भजनके उपरान्त सब लोगोंको वाणप्रस्थका अवलम्बन करना चाहिए। और महाराजकी ओर देखनेसे कहना होगा कि धनके लोभी वणिक जैसे बहुत-सी सम्पत्तिका स्वामी होकर भी धनके लोभसे पुनः संकटके स्थानोंमें धनोपार्जनके लिए गमन करता है, वैसे ही भगवद्भक्तिके धनसे धनी महाराज अम्बरीष भी अधिक भक्तिके उपार्जनके लिए वानप्रस्थमें प्रवेश किए।

जीव भगवान्का विभिन्नांश तत्त्व है। अतएव जीव भी भगवानकी तरह स्वतंत्र है, इस स्वतंत्रताका दुरुपयोग या सदुपयोग करनेकी स्वाधीनता भी जीवमें वर्त्तमान रहती है। अपनी बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानका अवलम्बन कर जीव जब अपने

विचारोंको प्रकट करनेकी चेष्टा करता है, वही उसके स्वतंत्रताका अपव्यवहार करना है। दूसरी तरफ भगवत्-तत्त्वको जाननेवाले साधुओंके आनुगत्यमें वस्तुका विचार तथा उसे जाननेकी चेष्टा ही स्वतंत्रताका सद्व्यवहार है। उपनिषद् कहते हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमानाः।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।

(कठ-१।२।५)

मायाका दूसरा नाम अविद्या है। इसी अविद्याके भीतर स्थित होकर भी वे मूर्ख (जीव) पाण्डित्यके मिथ्याभिमानमें अपने आपको बुद्धिमान और विद्वान् समझते हैं तथा दूसरोंको उपदेश देते हैं। ऐसे मायाबद्ध मूढ़ जीव नाना योनियोंमें चारों ओर भटकते हुए नाना-प्रकारके कष्ट भोगते हैं। जब अन्धे मनुष्यको मार्ग दिखलानेवाला भी अन्धा ही मिल जाता है, तब जैसे वे दोनों ही अपने लक्ष्य तक न पहुँच कर इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते हैं, वैसे ही जो मनुष्य अज्ञान-समुद्रमें स्वयं डूबा हुआ है, किन्तु दूसरे मूर्ख व्यक्तिको ज्ञानका उपदेश देता है तो वे दोनों ही अज्ञान समुद्रमें डूब मरेंगे--यह तो एक स्वाभाविक और सीधी बात है; इसे एक छोटा सा बालक भी आसानीसे समझ सकता है। किन्तु अविद्याग्रस्त जीव अपनी मूर्खता स्वीकार करना नहीं चाहता। खासकर, भगवान्की माया ऐसी मोहिनी है कि हम अपनी मूर्खता स्वीकार करना तो दूर रहे, अपनी बुद्धिमत्ताकी बड़ाई करनेमें ही अधिक व्यग्र कहते हैं। मैं ही सबसे अधिक समझदार हूँ—ऐसा अहंकार ही मायाकी विडम्बना है। अगर एक व्यक्ति जो हमसे अधिक विचार-सम्पन्न है—हमारी युक्तियों और विचारोंका खण्डन कर देता है, तब हम बाह्यतः अपनी भूल स्वीकार करनेके लिए बाध्य होते हैं, किन्तु यथार्थमें आन्तरिकताके साथ उसे स्वीकार नहीं करते। अक्षज (इन्द्रियोंसे उत्पन्न) ज्ञानका अवलम्बनकर अधोक्षज अर्थात् अतीन्द्रिय वस्तुको समझना अत्यन्त कठिन है। इसका कारण यह है कि जिस वस्तुको आँखों द्वारा देखा नहीं जाता, कानोंमें जिसकी वाणी प्रवेश तक नहीं करती, केवल मात्र अनुमानसे उस वस्तुका विचार कैसे सम्भव हो सकता है? इसीलिए शास्त्रोंमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका सहारा छोड़ कर भगवत् तत्त्वज्ञ व्यक्तियोंकी शरणमें जानेके लिए ही उपदेश दिया गया है।

✪✪✪

गीताकी वाणी

—श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

अधिकांश लोग गीताके प्रथम अंशका अध्ययन कर कर्मयोगको ही चरम सिद्धान्तके रूपमें मानते हैं; किन्तु शास्त्रका कहना है—

उपक्रमोपसंहरावभ्यासोऽपूर्व्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्ति च लिंगं तात्पर्यनिर्णये।।

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वताफल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये छः किसी भी विषयके उद्देश्य निर्णायक चिह्न हैं। वेदान्तके मध्वभाष्यमें इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया गया है—"उपक्रमोपसंहारयोरैकरूपत्वं, अभ्यासः=पौनः पुण्यं, अपूर्वताफलम्=अनधिगमत्वं फलम्, अर्थवादः=प्रशंसा, उपपत्तिः=युक्तिमत्तंञ्च इति, षड़विधानि तात्पर्य लिंगानि।"

शास्त्रकार जिस विषयका वर्णन करना चाहते हैं, उसके विषयमें प्रारम्भ और शेषमें एक ही विचार

दिखलाते हैं, उनका पुनः पुनः विचार करते हैं उस विषयका फल क्या है, उसका वर्णन करते हैं, उस विचारकी बार-बार प्रशंसा करते हैं और उस विचारके स्थापनके लिए युक्तियाँ प्रदर्शन करते हैं। इस धाराका अवलम्बन कर विचार करनेसे हम देखते हैं कि अर्जुनके 'शाधि मां त्वां प्रपन्नं" कह कर भगवान् कृष्णके शरणगत होनेपर कृपालु भगवान् गीताका उपदेश आरम्भ करते हैं, फिर उपसंहारमें भी—गीताके अन्तिम श्लोकमें "मामेकं शरणं व्रज" द्वारा अर्जुनको शरण लेनेके लिए ही उपदेश कर रहे हैं। शरणागत नहीं होनेसे सेवा करनेका सुयोग नहीं मिलता। दूर रह कर कभी भी सेवा नहीं हो सकती। सेव्य-वस्तु ऊपर आकाशमें रहे और सेवक नीचे मर्त्यलोकमें रहे, तो किसी प्रकार भी सेवा होनेकी सम्भावना नहीं है। अतः शरणागत जीव ही सेवा—भगवद्भक्ति कर सकते हैं। इसी भक्तिका विषय गीतामें पुनः पुनः वर्णन किया गया है। सातवें अध्यायसे लेकर बारहवें अध्याय तक नाना प्रकारसे भक्तिकी बात कह कर, सबके अन्तमें उसको ही पुनः दुहराया गया है। और इसी भक्तिका आचरण करनेसे भगवान् अवश्य ही अपनेको सम्पूर्ण रूपसे भक्तको दान दे देते हैं--यह उनकी अपनी प्रतिज्ञा है। कर्म, योग, ज्ञानादिकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठता स्थापन द्वारा उपपत्ति अर्थात् युक्ति दिखलाये हैं। "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" द्वारा भक्तिकी श्रेष्ठता और साथ-ही साथ अन्यान्य साधनोंकी हेयता का प्रतिपादन किये हैं।

श्रीमद्भागवतकी चतुःश्लोकीकी तरह गीतामें भी चतुःश्लोकी है। गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने उसे प्रकाशित किया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।

(गीता १०।८—११)

ऊपरके इन चार श्लोकोंमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्वका वर्णन किया गया है। श्रीभक्तिविनोद ठाकुरजीने इन श्लोकोंकं रसिकरंजन भाष्यमें जैसा लिखा है उसे यहाँ नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

अप्राकृत और प्राकृत सकल वस्तुओंका उत्पत्ति स्थान मुझको जानो। मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ। जो लोग ऐसा जानकर भाव समन्वित होकर अर्थात् शुद्ध भक्ति द्वारा मेरा भजन करते हैं, वे ही पण्डित हैं, दूसरे सभी अपण्डित हैं (८)। ऐसे अनन्य भक्तोंका चरित्र इस प्रकार होता है,—वे मुझमें अपने चित्त और प्राणोंको सम्पूर्ण रूपसे समर्पण करते हुए परस्पर भाव विनिमय और हरिकथाका कथोपकथन किया करते हैं। उसी प्रकार श्रवण और कीर्त्तन द्वारा साधनकी अवस्थामें भक्ति-सुख और साध्यावस्थामें अर्थात् भगवत्-प्रेम लाभ करनेपर मेरे साथ रागमार्ग द्वारा (प्रेम-भक्तिसे) ब्रजरसके अन्तर्गत मधुर रस तकका सम्भोग करते हुए वे रमण-सुख लाभ किया करते हैं (९)। नित्य भक्तियोग द्वारा जो प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उनके शुद्धज्ञानसे उत्पन्न विमल प्रेममें योगदान करता हूँ अथवा उन्हें विमल प्रेम-योगदान करता हूँ। वे उसके द्वारा मेरे परमानन्द धामको प्राप्त होते हैं। ऐसे भक्तियोगका आचरण करनेवाले भक्तोंके हृदयमें अज्ञान नहीं रह सकता है। बहुतेरे ऐसा सोचते हैं कि—"जो लोग 'अतत्'—का निरसन करते हुए (नेति नेति करते हुए) 'तत्'—वस्तुका अनुसंधान करते हैं, वे ही यथार्थ ज्ञान लाभ करते हैं; केवल भक्तिभावका अनुशीलन करनेसे वह दुर्लभ ज्ञान

नहीं पाया जाता।" हे अर्जुन! हमारे कहनेका मूल तात्पर्य यह है कि क्षुद्र जीव अपनी बुद्धिसे कभी भी असीम तत्त्वका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता—जितना भी प्रयत्न क्यों न करे वह किसी तरह भी विशुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ, अगर मैं कृपा करूँ तो मेरी अचिन्त्य शक्तिके बलसे क्षुद्र जीवोंको अनायास ही संपूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। जो मेरे एकांत भक्त हैं वे अनायास मुझे आत्माभावस्थ कर मेरे अलौकिक ज्ञान रूप दीपकके द्वारा आलोकित होते हैं। मैं कृपापूर्वक उनके हृदयमें वास करता हुआ उनके विषयोंमें प्रीतिके कारण अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको सम्पूर्ण रूपसे नाश कर देता हूँ। भक्तिके अनुशीलनसे ही जीवोंका शुद्ध–ज्ञानमें अधिकार होता है, तर्क द्वारा नहीं (११)।

(क्रमशः)

✪✪✪

प्रचार–प्रसंग

इस वर्ष श्रीराधागोविन्दकी झूलन यात्राका उत्सव श्रीवृन्दावनमें श्रीरूप–सनातनमें विशेष उत्साहके साथ मनाया गया। इस उपलक्ष्यमें एक अद्‌भुत सौन्दर्यपूर्ण झूलेका निर्माण किया गया। इस झूलेका निर्माण उड़ीसासे आए दस कारीगरोंने किया। अष्ट सखियों द्वारा परिवेष्टित सुन्दर वेदीके ऊपर श्रीराधागोविन्दको विराजमानकर चारों ओर सुन्दर कुञ्जका निर्माण किया गया। मयूर, तोते आदि पक्षी और विभिन्न प्रकारके फल, फूलोंसे भरी लताओं आदिसे सुशोभित किया गया। सम्पूर्ण मथुरा–वृन्दावनमें इस विशेष झूलेकी चर्चा फैल गयी। और वृन्दावनवासियोंके अतिरिक्त व्रज भ्रमणके लिए आनेवाले यात्रियोंके लिए यह विशेष आकर्षणका केन्द्र बन गया।

श्रील रूप गोस्वामीका तिरोभाव

पूर्व–वर्षकी भाँति इस वर्ष भी गत १९ श्रावण, ५ अगस्त, बुधवारको श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके अभिधेय तत्त्वाचार्य एवं षड्‌गोस्वामियोंमें अग्रणीय श्रीगौर–पार्षदप्रवर श्रीश्रील रूप गोस्वामीपादका तिरोभाव–महोत्सव त्रिदण्डिस्वामी ॐ विष्णुपाद परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीमद्‌भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजीके आनुगत्यमें बड़े आदर एवं यत्नके साथ मनाया गया। इस दिन प्रातः ६.३० बजे वृन्दावनके श्रीरूप–सनातन गौड़ीय मठसे लगभग १०० भक्तोंने संकीर्तन करते हुए श्रीश्रीराधा दामोदर मन्दिर स्थित

श्रीरूप गोस्वामीपादकी समाधिके लिए प्रस्थान किया। समाधि मन्दिरके सम्मुख उपस्थित होकर विरह सम्बन्धी भजन एवं श्रील नरोत्तम दास ठाकुर रचित 'श्रीरूप मञ्जरी पद' आदि पदोंका भावपूर्ण कीर्तन किया गया। तत्पश्चात् श्रील महाराजजीने श्रील रूप गोस्वामीपादकी अप्राकृत शिक्षाओं एवं अलौकिक जीवन चरित्रपर विशद एवं मार्मिकरूपसे प्रकाश डाला एवं तत्पश्चात् अर्चन एवं पुष्पाञ्जलि प्रदान की गई।

सायं लगभग चार बजे श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठके प्रांगणमें एक विशेष धर्मसभा बुलाई गई, जिसमें वृन्दावनके उद्भट विद्वानों, प्रवर गौड़ीय भक्तवृन्दों एवं अन्य मठोंके त्रिदण्डिपाद-गणोंने श्रील रूप गोस्वामीपादके विचार एवं आचार तथा इस जगतको दिए गए उनके अद्वितीय अवदान, श्रीरूपानुग धाराके वैशिष्ट्यके सम्बन्धमें शास्त्रयुक्तिपूर्ण, रसपूर्ण, एवं

श्रीवृन्दावन श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठमें झूलेमें विराजमान राधा-विनोद बिहारीजी।

गूढ़ तत्त्वोंकी आलोचना की। दोपहर एवं रात्रिमें लगभग ५०० उपस्थित भक्तोंने विरह–महोत्सवके उपलक्ष्यमें महाप्रसाद सेवन किया।

जन्माष्टमी

प्रतिवर्षकी भाँति इस वर्ष भी श्रीकेशवजी गौड़ीय मठमें पारम्पारिक उत्साहके साथ श्रीश्रीकृष्ण जन्माष्टमी महोत्सवका अत्यन्त धूमधामसे आयोजन किया गया। जन्माष्टमीकी पूर्व संध्यामें श्रीसमितिके उपाध्यक्ष श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजकी अध्यक्षतामें विशाल नगर कीर्तनका आयोजन किया गया। सैकड़ों मथुरावासी भक्तोंके अतिरिक्त वृन्दावन, दिल्ली तथा विदेशसे आए भक्तोंने भी उत्साहपूर्वक इसमें योगदान किया। सन्ध्या पाँच बजे संकीर्तनकी तुमुल ध्वनिमें नगरके प्रमुख मार्गोंसे होकर शोभायात्रा निकाली गई। होलीगेट, भरतपुरगेट, चौकबाजार, विश्रामबाजार होते हुए रात्रि आठ बजे शोभायात्रा वापस मन्दिर लौटी।

जन्माष्टमीके दिन प्रातःकाल श्रील महाराजजीने कृष्ण तत्त्वके विषयमें प्रवचन दिया। पूरे दिन भक्तोंने श्रीमद्भागवतका पाठ किया। संध्याकालमें नगरके विशिष्ट कलाकारोंने भजन–संगीतके द्वारा वातावरणको भक्तिमय बना दिया। हजारों लोगोंने मन्दिरमें आकर श्रीश्रीराधा– विनोदबिहारीजीके दर्शन किए।

जन्माष्टमीके अगले दिन नन्दोत्सव समारोह मनाया गया। श्रीकृष्णके जन्मके उपलक्ष्यमें हजारों लोगोंको प्रसाद वितरण किया गया। इस विशेष अवसरपर विभिन्न भक्तोंने कृष्ण–तत्त्वके सम्बन्धमें प्रवचन किया।

✪✪✪

वैष्णव व्रत तालिका

१३ भाद्र	३० अगस्त		रविवारश्रीश्रीराधाष्टमी।
१६ भाद्र	२ सितम्बर		बुधवारपार्श्व एकादशी व्रत, वामन द्वादशी व्रत, अगले दिन श्रीवामनदेवके अर्चनान्तर प्रातः ९–३१ से पहले पारण।
१८ भाद्र	४ सितम्बर	शुक्रवार	श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीका आविर्भाव।
१९ भाद्र	५ सितम्बर	शनिवार	श्रीहरिदास ठाकुरजीका तिरोभाव।
२० भाद्र	६ सितम्बर	रविवार	पूर्णिमा, श्रीविश्वरूप महोत्सव।
३० भाद्र	१६ सितम्बर	बुधवार	इन्दिरा एकादशी व्रत, अगले दिन ९–२९ से पहले पारण।
३ आश्विन	२० सितम्बर	रविवार	अमावस्या।
१४ आश्विन	१ अक्टूबर	गुरुवार	श्रीब्रह्म–माध्व–गौडीय सम्प्रदायके श्रीमन्मध्वाचार्यजीका आविर्भाव, युद्धके लिए श्रीरामचन्द्रजीकी शुभयात्रा।
१५ आश्विन	२ अक्टूबर	शुक्रवार	पाशांकुशा एकादशी व्रत, अगले दिन ७–४५ से पहले पारण।

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४२ } श्रीगौराब्द ५१२
विक्रम संवत् २०५५–५६ आश्विन मास, सन् १९९८, ७ सितम्बर— ५ अक्टूबर { संख्या ७

श्रीश्रीशिक्षाष्टकम्

(कलियुगपावनावतारी–श्रीश्रीमत्कृष्णचैतन्यवदनाब्ज विगलित–वाक्यवेदम्)

चेतोदर्पण–मार्जनं भवमहादावाग्नि–निर्वापणं
श्रेयः कैरवचन्द्रिका–वितरणं विद्यावधू–जीवनम्।
आनन्दाम्बुधि–वर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्।।१।।

चित्तरूपी दपर्णको परिमार्जित करनेवाला, संसाररूपी महादावानलको बुझा देनेवाला, परम कल्याणरूप कुमुदको विकसित करनेवाली ज्योत्स्ना वितरण करनेवाला, पराविद्यारूपी वधूका जीवनस्वरूप, आनन्द–समुद्रको बढ़ानेवाला, पद–पद पर पूर्ण अमृतका आस्वादन प्रदान करनेवाला, सम्पूर्ण आत्माको आनन्दमें सराबोर कर देनेवाला अद्वितीय श्रीकृष्णसंकीर्तन सर्वोपरि जययुक्त हो।।१।।

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति–
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः।।२।।

भगवन्! आपने अपने गोविन्द, गोपाल, वनमाली इल्यादि अनेक नाम प्रकट किये हैं और उन नामोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति निहित कर दी है। श्रीनाम स्मरणमें कोई कालाकालका विचार भी नहीं रखा है। आपकी तो इस प्रकार ही कृपा है और इध ार नामापराधरूप दुर्दैवके कारण मेरा भी इस प्रकारका दुर्भाग्य है कि ऐसे सुलभ श्रीहरिनाममें अनुराग नहीं हुआ।।२।।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।।३।।

जो अपनेको तृणकी अपक्षा भी अतिशय दीन–हीन समझते हैं, जो वृक्षसे भी अधिकतर सहिष्णु होते हैं, स्वयं मानशून्य रहते हुए दूसरोंको मान प्रदान करते हैं, वे ही निरन्तर श्रीहरिनाम संकीर्तनके अधि ाकारी हैं।।३।।

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।।४।।

जगदीश! मैं धन, जन, कामिनी, काव्य अथवा पाण्डित्यकी कामना नहीं करता है। परमेश्वरस्वरूप आपके चरणोंमें जन्म–जन्मानतरमें मेरी अहैतुकी भक्ति हो।।४।।

अयि नन्दतनुज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कज–स्थितधूलिसदृशं विचिन्तय।।५।।

नन्दनन्दन! आपका दास मैं इस घोर दुष्पार संसार–सागरमें पड़ा हुआ हूँ, कृपा करके अपने श्रीचरणकमलोंमें संलग्न रजःकणके समान—सदा सर्वदा अपने कृतदासके रूपमें ग्रहण करें।।५।।

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गद रुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नाम ग्रहणे भविष्यति।।६।।

प्रभो! आपके नाम ग्रहण करते समय, मेरे नयन अश्रुधारासे, मेरा मुख गद्गद वाणीसे और मेरा शरीर रोमाञ्चसे युक्त होगा?।।६।।

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्द–विरहेण मे।।७।।

गोविन्द! आपके विरहमें मेरा एक–एक निमेष युगके समान बीत रहा है, नेत्रोंसे वर्षाकी धाराके समान अश्रुवर्षा हो रही है और सारा जगत् शून्य जान पड़ता है।।७।।

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः।८

चरणसेवामें लगी हुई मुझ (दासी) को वे गलेसे लगा लें या पैरों तले रौंद दें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें, उन परम स्वतन्त्र (लम्पट) श्रीकृष्णकी जो इच्छा हो, वहीं करें, तथापि मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं।।८।।

✪✪✪

गुरुतत्वके सम्बन्धमें प्रश्न

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'

प्रश्न (१)—श्रीसज्जनतोषणीमें (श्रीभागवत पत्रिका) वर्ष ४२, संख्या ६) लिखा गया है—'गुरुदेव साक्षात् भगवत्-प्रकाश होनेपर भी श्रीकृष्णके प्रियतम दास हैं।'

'साक्षात् भगवत्'—शब्दका क्या अर्थ है? 'साक्षात्—भगवत्-प्रकाश होनेपर भी गुरुदेव श्रीकृष्ण चैतन्यके प्रियतमदास हैं'—कहने का क्या तात्पर्य हैं? साक्षात् भगवत्-प्रकाश कहनेसे क्या स्वयं श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभुका बोध नहीं होता?

प्रश्न (२)—शास्त्रमें गुरुदेवको स्वयं भगवान् कहा गया है, तथापि उनको 'भगवान्का प्रिय' अथवा 'कृष्णका प्रकाश-स्वरूप' क्यों जानना चाहियें? ऐसा जाननेका कारण क्या है? शास्त्रमें एक प्रकारकी भावना ही क्यों करें?

प्रश्न (३)—'प्रत्येक वैष्णव यह जानता है कि गुरुदेव सन्धिनी, ह्लादिनी और संवित् शक्तियोंके मूलाधार हैं, उनमें केवलमात्र संवित्-शक्तिका ही आरोप करनेसे सहजिया या बाउल मत हो पड़ता है'—इस कथनका क्या तात्पर्य है?

प्रश्न (४)— श्रीचैतन्यचरितामृत १०वे परिच्छेद में—

'प्रभु कहे—ईश्वर हय परम स्वतंत्र।
ईश्वरेर कृपा नहे वेद परतंत्र।।'

मायापुरसे प्रकाशित इस ग्रन्थकी व्याख्यामें गुरुदेवको श्रीकृष्ण माना गया है । श्रीमन्महाप्रभु यदि अपने गुरुदेवको श्रीकृष्ण मानते हों तो दूसरोंके लिये ऐसा क्यों नही माना जाय?

प्रश्न (५)—

'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुदेव परं ब्रह्म तस्मात् सम्पूजयेत् सदा।।'

क्या 'परं ब्रह्म' से स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका बोध नहीं होता?

प्रश्न (६)—'यो मंत्रः स गुरुः साक्षात् यो गुरुः स हरिः स्मृतः।' यहाँ गुरुको हरि क्यों कहा गया है?

प्रश्न (७)—'अविद्यो वा सविद्यो वा गुरुरेव जनार्दन' कहनेका तात्पर्य क्या है?

प्रश्न (८)—

"ईश्वर-स्वरूप-तत्त्व मात्र गुरु जानि।
बैकुण्ठेर पति मंत्रदाता शिरोमणि।।
"शिक्षागुरुके त जानि कृष्णेर स्वरूप।
अन्तर्यामी, भक्तश्रेष्ठ—एइ दुइ रूप।।
जीवे साक्षत् नाहि ताते गुरु चैत्यरूपे।
शिक्षा गुरु हय कृष्ण महान्त-स्वरूपे।।"

उपर्युक्त पंक्तियोंमें दीक्षागुरुको बैकुष्ठाधिपति नारायण और शिक्षागुरुको गोलोकपति श्रीकृष्ण कहा गया है। क्या इन दोनों प्रमाणों द्वारा गुरुदेवकी भगवत्ता प्रमाणित हनीं होती?

प्रश्न (९)—'यस्य साक्षात् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।' क्या यहाँ ज्ञानदीपप्रद गुरुको साक्षात् भगवत् स्वरूप नहीं कहा गया है?

प्रश्न (१०)—

चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिर्गुरु मे
शिक्षा-गुरुश्च भगवान् शिखिपुच्छमौलि।

इस श्लोक में क्या शिक्षागुरुको शिखिपिच्छधारी भगवान् श्रीकृष्ण नहीं कहा गया है?

सदुत्तर

स्वयंरूप और स्वयं-प्रकाश एक नहीं

१ ले प्रश्नका उत्तर—स्वयं-रूप और स्वयं-

प्रकाश एक वस्तु नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही स्वयं–रूप विग्रह हैं। गुरुदेव भगवत्–प्रकाश हैं। भगवत्–प्रकाश कहनेसे श्रीकृष्णका बोध नहीं होता।

जो अचिन्त्यभेदाभेद–तत्त्वको समझनेका प्रयत्न नहीं करते, वे विशुद्ध–तत्त्वको कदापि स्वीकार नहीं कर सकते।

गुरुदेवको स्वयं–भगवान् माननेसे मायावाद या बौद्धवाद हो पड़ता है, गुरुदेव प्रकाश–तत्त्व हैं।

(२) जो लोग भगवानके आकार, नाम गुण और उनकी लीलाको स्वीकार नहीं करते, जो परलोकमें जीवोंके नाम, रूप, गुण और उनकी क्रियाका आस्तित्व नहीं मानते, वे नास्तिक या निर्विशेषवादी हैं। उनका कहना है—माया अर्थात् अज्ञानके कारण इस व्यवहारिक जगत्में नाम, रूप, गुण और लीला आदि कल्पित हैं; वास्तवमें परमार्थ जगत्में इस प्रकारका कोई भेद नहीं है। वहाँ पर तो केवल निरीश्वर बौद्धवाद अथवा शंकर प्रवर्तित केवलाद्वैत या मायावाद वर्तमान है। इसी निर्विशेषवादने लोकवंचनाके लिये गणेश, सूर्य, शक्ति, शिव और विष्णु—इन पाँचो देवताओंकी कल्पनाकर साधनकी समाप्तिपर सिद्धावस्थामें चिन्मयविशेषरहित जड़ीय नास्तिकताका प्रचार किया है। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभुने निर्विशेषवादी मायावादियोंको श्रीकृष्ण चरणोंमें अपराधी बतलाया है। उपर्युक्त मायावादियोंकी धारणानुसार श्रीगुरुदेवको श्रीकृष्ण माननेसे वास्तवमें पाषण्डता होती है। अतएव गुरुदेवको कृष्णका प्रकाश जानना चाहिए। वैष्णवजन पाषण्ड मायावादी नहीं है। वे गुरुको 'कृष्ण' न मानकर कृष्णका प्रकाश मानते हैं। वैष्णवजन नास्तिक नहीं होते, वे गोलोककी नित्यता, कृष्णके नाम, रूप, गुण और उनकी लीलाकी नित्यता, गुरुदेवकी नित्यता तथा वैकुण्ठमें अपनी पृथक् सत्ताकी नित्यता स्वीकार करते हैं; वे मायावादियोंकी तरह गुरुको स्वयं, कृष्ण नहीं मानते, बल्कि कृष्णका परमप्रिय भक्त मानते हैं।

गुरुदेव कोई मायिक वस्तु या बद्ध जीव नहीं हैं, वे कृष्णसे पृथक् हैं।

शास्त्रोंमें गुरुदेवको कहीं भी मायाका दास अथवा मरणशील नहीं कहा गया है। बल्कि प्रत्येक शिष्य गुरुदेवको मायिक वस्तु न समझकर उनको नित्य भगवत् सम्बन्धीय अथवा साक्षात् भगवत् वस्तु समझे—शास्त्रोंका यही उद्देश्य है। पाषण्ड–मायावादी भगवान, गुरु और सेवक—इनकी पृथक्–पृथक् सत्ता नहीं स्वीकार करते तथा गुरुतत्त्वके सम्बन्धमें भक्तोंके साथ तर्क–वितर्क किया करते हैं। यदि कृष्णसे गुरुदेवकी सत्ता पृथक् न मानी जाय तो शास्त्रोक्त भक्ति मार्गको छोड़ देना होता है। जो मूढ़ अन्तरमें मायावादका पोषण करता है तथा ऊपरसे भगवद्भक्त वैष्णवके रूपमें अपना परिचय देता है, वह नास्तिक मायावादीको ही श्रेष्ठ मानेगा।

(३)

बाउल मतानुसार प्रत्येक पुरुष कृष्ण है और प्रत्येक नारी राधा है; यह शास्त्र–विरुद्ध मत है

बाउल या सहजिया लोगोंका कथन है—प्रत्येक पुरुष—कृष्ण है और प्रत्येक नारी राधा है। अतएव पुरुष–प्रकृतिका जड़–संभोग ही राधा–कृष्णकी लीला है। मूर्ख मायावादी और बाउल अपनेको कृष्णके साथ अभिन्न मानकर अपने शिष्योंको गुरुदेवमें कृष्णका आरोप करनेकी शिक्षा देते हैं। परन्तु शास्त्र ऐसे विचारोंका कतई समर्थन नहीं करते।

(४)

श्रीगुरुदेव ईश्वर हैं और श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं

मायापुरसे प्रकाशित चैतन्यचरितामृतके भाष्यमें (प्रथम संस्करणमें) लिखा है—'मेरे गुरुदेव ईश्वर हैं अर्थात् जगत्के प्रभु हैं। अतः वे साधारण जीवोंके नियामक स्मृति–शास्त्रके अधीन नहीं है। ईश्वर अर्थात् सामर्थ्यवान गुरुदेवकी कृपा वैदिक शासनके

अधीन नहीं हुआ करती। (चै. च. पृष्ठ १०३७) विरुद्धवादियोंने मायावादियोंके साथ मिलकर श्रीमन्महाप्रभुसे गुरुदेवको कृष्ण कहलवाया है। किन्तु श्रीचैतन्यचरितामृतकी व्याख्या वैसी नहीं हो सकती। श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और गुरुदेव ईश्वर हैं।

(५)

ब्रह्मा, शिवादि गुणावतार हैं, स्वयं–भगवान नहीं है

'गुरुर्ब्रह्मा' श्लोककी व्याख्या निर्विशेष मतके अनुसार होनसे भक्ति–मार्गसे छुट्टी हो जाती है। उस समय ब्रह्मा परं ब्रह्म है, विष्णु परं ब्रह्म है; अतएव ब्रह्मका बाजार बैठ जाता है। परं ब्रह्म कृष्णकी एक शक्तिके परिचय मात्र हैं। वे अनन्त शक्तिमान हैं। उनको गुरु ब्रह्मा और शिव आदिके साथ समस्त विषयोंमें अभेद माननेसे शास्त्रको ध्वंस करना हो जाता है। ब्रह्मा, शिव आदि गुणावतार हैं। ये कृष्णके गुणावतार होने पर भी ६० गुणोंसे युक्त नारायण नहीं हैं अथवा ६४ गुणोंसे युक्त कृष्ण नहीं हैं। बल्कि ५५ गुणोंसे युक्त ईश्वर हैं। ये ५० गुणोंवाले बद्ध जीवोंके ईश्वर हैं। अनेक समय जीव ही शिव और ब्रह्मा होते हैं।

(६)

हरि, गुरु और मंत्र प्राकृत वस्तु होनेके कारण एक होकर भी पृथक हैं

मंत्र, गुरु और हरि प्राकृत गुणोंके अधीन नहीं होते। ये तीनों वस्तुएँ साक्षात् अप्राकृत हरि हैं अर्थात् मायाके अधीन नहीं हैं। चित्–राज्यमें इनकी भिन्न–भिन्न उपयोगिता और विशेषता है। मायावादी इसे नहीं जानते है। मायावादियोंका कहना है कि गोलोकमें नित्य विचित्रता नहीं है। विचित्रता या विशेषता तो केवल मायाके राज्यमें ही अज्ञानताके कारण कल्पित होती है। वैष्णवजन मायावादियोंकी इन कल्पित मिथ्या बातोंपर विश्वास नही करते हैं।

(७)

श्रीगुरुदेवके प्रति प्राकृत बुद्धिको दूर करनेके उद्देश्यसे ही उनको साक्षात् भगवान कहा गया है

गुरुदेवको कोई मायिक बुद्धि द्वारा मरणशील न समझ ले, इसलिए शास्त्रोंमें जगह–जगह उनको भगवान्के समान अथवा भगवान् कहा गया है। असुरगण मायावादियोंकी बुद्धि द्वारा उन्हें मरणशील मानने लगते हैं।

(८)

"ईश्वर–स्वरूप–तत्त्व मात्र गुरु जानि।
वैकुण्ठपति मंत्रदाताशिरोमणि।।"

यह अद्भुद कविता न जाने कहाँसे ली गयी है? यह कोई प्रमाणिक कविता नही हैं, अधिकन्तु शास्त्रविरुद्ध है।

(९)

गुरु नित्य हैं, अतएव श्रीकृष्ण और गुरुका भेद भी नित्य है

'शिक्षागुरुके त' जानि कृष्णेर स्वरूप' प्रभृत श्लोकोंका अर्थ जाननेके लिए श्रचैतन्यचरितामृत भाष्यका पाठ करेंगे। कोई भी भक्त किसी भी दिन गुरुदेवको कृष्णमें निर्वाणमुक्ति करवानेका समर्थन नहीं कर सकता। गुरुद्रोही व्यक्तियोंकी गुरुको संहार करनेकी प्रवृत्ति नितान्त घृणित और अपराधजनक है। यदि कृष्ण और गुरुदेवमें कोई अप्राकृत भेद नहीं रहे, तो गुरुका पद ही लुप्त हो जाय।

उत्तर १०—कृष्णकर्णामृतके पहले श्लोकमें अन्तर्यामी चैत्यगुरुकी जो बात कही गयी है, वह भक्तश्रेष्ठ महान्त गुरुके सम्मबन्धमें लागू नहीं है।

✪✪✪

तत्तत्कर्म–प्रवर्त्तन

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

(पूर्व प्रकाशित वर्ष ६, पृष्ठ १३१ से आगे)

मायावादी और नास्तिक व्यक्तियोंका संग त्यज्य

भगवद्–विमुख व्यक्तियोंका संग नहीं करना चाहिए। व्यवहारिकार्योंमें उनके साथ अवश्य ही मिलन होगा, किन्तु उन्हीं कार्योंतक ही उनके साथ व्यवहार करना चाहिए। कार्य समाप्त होते ही उनके साथ कोई व्यवहार नहीं रखना चाहिए। जिनके हृदयमें कृष्ण–भक्तिका स्वरुप उदित नहीं हुआ है, वे ज्ञान और कर्मका आश्रय लेकर सर्वदा दांभिक होते हैं। अतएव वे भगवद्–विमुख होते हैं। अनेक देव–देवियोंकी सेवा करनेवाले, निर्भेद ज्ञान–पिपासु मायावादी और वेद–विरोधी नास्तिक आदि सभी भगवद्–विमुख हैं।

अनेकों शिष्य करना तथा अनेकों शास्त्र पाठ करना कर्त्तव्य नहीं है

जिन लोगोंको शुद्ध भक्तिके प्रति श्रद्धा न हो, उन्हें शिष्य न करो। ऐसा करनेसे भक्ति–सम्प्रदाय दूषित हो पड़ती है। महारम्भादि क्रिया (विराट–विराट महोत्सव आदि क्रिया) के द्वारा भक्ति क्षय होती है। अतः इनका परित्याग करो।

सन्तोष और समज्ञान

गृहस्थ जीवनमें अथवा गृह–त्यागके बाद सब समय खाने–पहनेकी चेष्टा तो करनी ही पड़ेगी। किन्तु इन व्यवहारोंमें सर्वदा सावधान रहना चाहिए। इस विषयमें पद्मपुराणकी शिक्षा अत्यन्त ही सुन्दर है—

अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादन–साधने।
अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिनामैव धिया स्मरेत्।।

तात्पर्य यह कि—साधक घरमें रहे अथवा वनमें रहे, उसे खाने और पहननेके लिए कुछ–न–कुछ अवश्य ही करना पड़ेगा। गृहस्थको कृषि–कार्य, वाणिज्य–व्यवसाय अथवा नौकरी–चाकरीके द्वारा ग्रास और आच्छादनका प्रयत्न करना पड़ेगा। गृह–त्यागीको भिक्षा–वृत्ति पर निर्भर रहकर ग्रास और आच्छादनकी व्यवस्था करनी पड़ेगी। यदि उन कार्योंसे खाने और पहननेको न मिले अथवा मिल कर भी छिन जाय, तो भी भक्तोंके हृदयमें कोई विकार न होना चाहिए। उन्हें शान्तिपूर्वक कृष्ण–भजनमें लगा रहना चाहिए।

शोकको दूर करना कर्त्तव्य है

संसारी लोगोको स्त्री–पुत्र और धन–सम्पत्ति आदि नष्ट होने पर बड़ा ही शोक होता है, किन्तु भक्तिसाधकको ऐसे–ऐसे अवसरों पर अधिक समय तक शोक नहीं करना चाहिए। उन्हें शीघ्र ही शोक परित्यागकर कृष्ण–अनुशीलनमें नियुक्त होना उचित है। गृह–त्यागियोंको लोटा–कम्बल या भिक्षा–पात्र नहीं रहनेसे अथवा किसी पशु या मनुष्य द्वारा चुराये जानेपर शोक करना उचित नही है। शोक, क्रोध आदि समस्त प्रकारके वेगोंको वैष्णव–साधक परित्याग करेंगे; नही तो कृष्ण–स्मृतिका नैरन्तर्य विशेष रूपसे बाधित होगा। पद्मपुराणमें कहा गया है—

शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम्।
कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्ति संभावना भवेत्।।

श्रीकृष्णके अतिरिक्त दूसरे–दूसरे देव–देवियोंकी आराधना निषिद्ध है

साधक एकमात्र श्रीकृष्णकी अराधना करेंगे। उन्हें अन्य देवताओंका भजन नहीं करना चाहिए। किन्तु

स्मरण रहे, किसी भी देवता अथवा शास्त्रके प्रति कभी भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। अन्य देवतागण श्रीकृष्णके अधिकृत दास हैं—ऐसा जान कर कभी भी सामने देखने पर उनका सम्मान करना चाहिए। पद्मपुराणका निर्देश है—

हरिरेव सदाराध्यः सर्व–देवेश्वरेश्वरः।
इतरे ब्रह्म–रुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन।।

तात्पर्य यह कि—परमेश्वर ही एकमात्र आराध्य वस्तु हैं। दूसरे सभी परमेश्वरके गुणावतार विशेष हैं। मानव अपने–अपने अधिकारके अनुसार अपने अनुकूल देवताकी उपासना करता है। किन्तु सात्त्विक प्रकृतिवाले मानवोंके लिए भगवान् विष्णु ही एकमात्र उपास्य हैं। मानवगण अनेक जन्मों तक अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते–करते अपने–अपने गुणोंको क्रमशः उन्नत बनाते हुए जिस जन्ममें विष्णुको एकमात्र ईश्वर मान कर उनकी उपासना करता है, उसी जन्ममें उसका नित्य–मङ्गल उदित होता है। श्रीकृष्ण ही विष्णु–तत्त्वके चरम प्रकाश है। सत्त्व गुणकी उपासना द्वारा जीव जब निर्गुण अवस्थाको प्राप्त कर लेता है, तब वह श्रीकृष्ण–तत्त्वकी सेवा प्राप्त होता है।

किसीको उद्वेग नहीं देना चाहिए

सब प्राणियों पर दया रखनी चाहिए। उन्हें तनिक भी उद्वेग नही देना चाहिए। सबके प्रति करुणापूर्ण व्यवहार रखना कर्त्तव्य है। समस्त प्राणियोंके प्रति दयाका भाव—कृष्ण–भक्तिका एक अङ्ग है। इस स्वभावको प्राप्त करनेके लिए साधकको सावधानीसे अभ्यास करना चाहिए।

सेवापराध और दस नामापराध अवश्य वर्जनीय है

जो भजन करना चाहते है, उन्हे सेवापराध और दस प्रकारके नामापराधोंका अवश्य–अवश्य वर्जन करना चाहिए। साधारण कोटिके भक्तोंके लिए श्रीमूर्तिकी सेवाके कुछ नियम होते हैं। उन नियमोंका उल्लंघन करनेसे सेवा–अपराध होता है। अतः भगवन्मन्दिरमें प्रवेश करनेके समय सेवापराधोंसे अवश्य बचना चाहिए। नामापराध दस प्रकारके हैं। इनका विचार अनेक स्थलों पर दिया गया है। ये अपराध खूब सावधानीसे प्रत्येक साधकोंके लिए वर्जनीय हैं। इस विषयमें शिथिलता करनेसे उनका साधन–भजन सब कुछ व्यर्थ है। पद्मपुराणमें कहते है—

सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरि–संश्रयः।
हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद्वापद्–पांसुनः।।
नामाश्रयः कदाचित् स्यात् तरत्येव स नामतः।
नाम्नो हि सर्व–सुहृदो ह्यपराधात् पतत्यधः।।

सारांश यह कि श्रीहरिका आश्रय ग्रहण करनेसे समस्त प्रकारके अपराध नष्ट हो जाते हैं। भगवान्के प्रति जो–जो अपराध किये जाते हैं अर्थात् समस्त प्रकारके सेवापराध श्रीनामका आश्रय ग्रहण करनेसे दूर हो जाते है। नाम—वैष्णवमात्रका उद्धार करते हैं, किन्तु शर्त यह है कि वे समस्त प्रकारके अपराधोंका अवश्य ही वर्जन करें। यदि ऐसा नही किया जाय तो भगवान्का नाम ग्रहण करने पर भी पतन अनिवार्य है।

विष्णु और वैष्णवोंकी निन्दा नहीं करना तथा गुरु–पदाश्रय

साधकोंको कृष्णकी अथवा वैष्णवोंकी निन्दा नहीं सुननी चाहिए। जहाँ वैसी निन्दा चल रही हो वहाँसे तुरन्त हट जाना चाहिए। जिनका हृदय दुर्बल होता है, वे लोक–लज्जाके भयसे श्रीकृष्ण और वैष्णवोंकी निन्दा सुनकर क्रमशः भक्तिसे दूर हटते चले जाते है।

उपरोत्त २० प्रकारके भक्ति–अंगोंका आदर पूर्वक पालन करनेसे भावोदय होता है। भावोदयका मूल कारण—कृष्णकी कृपा है। कृष्ण–कृपा साधुसंगके बिना नहीं हो सकती। इनमें भी गुरु–पदाश्रय, दीक्षा और गुरुकी सेवा ही सबोंका

मूल है।

दास्य-सख्यादि भक्तिके अंग-समूह

इसके पश्चात् जो भजनके अङ्ग लिखे गये हैं, उनमें १ से लेकर ५० तक अर्थात् 'वैष्णव चिह्न धारण' से लेकर 'ध्यान' तक सभी अर्चनके अंग हैं। श्रीगुरुदेवसे प्राप्त इन अङ्गोंका यथाशक्ति साधन करना चाहिए। दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—ये भावोद्बोधक क्रियाएँ है; ये क्रियाएँ यथार्थरूपमें किये जाने पर ही भाव उदित होता है। केवल साधन-कालमें ही ये साधनभक्तिकी क्रियाओंमें परिगणित होती हैं।

संसारमें जो भी अपना इष्टतम प्रतीत होता हो और जो भी अपना अतिशय प्रिय हो—उन सबको भगवान् श्रीकृष्णको अर्पण कर दो—इसका फल बहुत ही अच्छा होता है। तात्पर्य यह कि—अपनेको प्रिय लगने वाली वस्तुओंका भोग स्वयं न कर श्रीकृष्णके उद्देश्यसे दान करते हुए उनके प्रसादके रूपमें उन्हे भोग करो।

कृष्णके लिए अखिल चेष्टाएँ तथा कृष्णके लिए ही संसार करना कर्त्तव्य है

व्यवहारिक और पारमार्थिक सब तरहकी चेष्टाएँ श्रीकृष्णके उद्देश्यसे होने पर ही यथार्थ कल्याण हो सकता है। नारद पंचरात्रमें कहते है—

लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने।
हरि-सेवानुकूल्यैव सा कार्या भक्तिमिच्छता।।

(भ. र. सि. ९।२।९३)

तात्पर्य यह कि मनुष्य संसारमें रहकर लौकिकी या वैदिकी जो भी क्रिया करे, उसे कृष्ण-विमुख भावसे न करें। उन क्रियाओंको सर्वदा कृष्ण-सेवाके अनुकूल करते हुए आचरण करना ही उचित है। विवाह आदि स्मार्त्त-संस्कार और क्रियाएँ—वैदिकी हैं तथा लोक-रक्षाके लिये सांसारिक और शारीरिक क्रियाएँ—लौकिकी हैं। कृष्ण-संसार निर्माण करनेके लिए विवाह, कृष्ण-सेवक बढ़ानेके लिए संतान-चेष्टा, कृष्ण-दासोंकी तृप्तिके लिए पितृ-श्राद्ध, कृष्णके जीवोंके तर्पणके लिए भोजन-महोत्सव—इसी प्रकार समस्त कर्मोंको कृष्ण-सेवाके अनुकूल ही करना चाहिए। ऐसा होनेपर बहिर्मुख कर्म-काण्डमें गिरनेका डर नहीं रहता। यह देह और घर आदि सब कुछ कृष्णका ही है—ऐसी भावना कर देह, गृह और समाज आदिकी रक्षा करनी चाहिए। इसीका नाम कृष्ण-संसार है।

शरणागति और ९ प्रकारकी तुलसी-सेवा

साधकका सम्पूर्ण जीवन शरणागतिसे विभूषित रहना चाहिए। इस पत्रिकामें छः प्रकारकी शरणागतिकी जगह-जगह व्याख्या की गई है। शरणागतिके अभावमें जीवोंका जीवन व्यर्थ है। जीव सर्वदा शरणागत होकर कृष्णका भजन करेंगे।

कृष्ण-सम्बन्धी वस्तुओंको 'तदीय-वस्तु' कहा जाता है। तदीय-सेवामें तुलसीकी सेवा प्रधान है। स्कन्द पुराणमें कहा गया है—

दृष्टा स्पृष्टा तथा ध्याता कीर्त्तिता नमिता श्रुता।
रोपिता सेविता नित्यं पूजिता तुलसी शुभा।।
नवधा तुलसीं देवीं ये भजन्ति दिने-दिने।
युग कोटि-सहस्त्राणि ते वसन्ति हरेर्गृहे।।

सारांश यह कि—तुलसीजीका प्रतिदिन ९ प्रकारसे भजन करनेसे भगवत्-गृहमें निवास प्राप्त होता है। तुलसीका दर्शन, स्पर्श, ध्यान, कीर्त्तन, नमस्कार, महिमा-श्रवण, रोपण, उनकी जल-सेवा तथा पूजा—इन ९ प्रकारसे तुलसीजीका भजन होता है।

भक्ति-शास्त्र-पाठ, मथुरा-वास तथा भक्त-सेवा

कृष्ण-भक्ति प्रतिपादक शास्त्र ही 'तदीय वस्तु' कहे जाते है। इनमें श्रीमद्भागवत प्रधान है। श्रीचैतन्यचरितामृतको भी वही सम्मान प्राप्त है। इन भक्तिशास्त्रोंका नित्य पठन और श्रवण करनेवाले धन्य हैं।

मथुरादि कृष्ण-तीर्थ साधकोंके निवास करने योग्य स्थान है। इनमें मथुरा-वास सर्वश्रेष्ठ है। श्रीधाम नवद्वीप-वास भी उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ है। ब्रह्माण्ड पुराणमें मथुरा धामकी महिमा इस प्रकार उल्लिखित है—

श्रुता स्मृता कीर्चिता च वांछिता प्रेक्षिता गता।
स्पष्टाश्रिता सेविताच मथुराभीष्ट-दायिनी।।

कृष्ण-भक्त भी 'तदीय' माने जाते हैं। आदिपुराणमें कहा गया है—

ये मे भक्तजनाः पार्थ! न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः।।

भक्त-सेवाके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

यावन्ति भगवद्भक्तेरङ्गानि कथितानि हि।
प्रायस्तावन्ति तद्भक्त-भक्तेरपि बुधा विदुः।।

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

तात्पर्य यह कि—कृष्ण-भक्तिके अङ्ग ही कृष्ण-भक्तकी भक्तिके अङ्ग हैं। 'प्रायः'—शब्द इस भेदका सूचक है कि कृष्ण-प्रसादके द्वारा ही कृष्ण-भक्तकी पूजा होती है। प्रणति आदि दूसरे-दूसरे अङ्ग एक ही प्रकारके हैं।

श्रीमूर्त्ति-सेवा, यात्रा-महोत्सव, रसिक भक्तोंके साथ भागवत आस्वादन

साधकको यथाशक्ति महोत्सव करना उचित है। सत्संगमें महोत्सव मनाना एक प्रधान कार्य है। हाँ, इस कार्यमें सतर्क रहनेकी आवश्यकता इस बातकी है कि महोत्सवके बहाने असाधु संग न हो जाय।

श्रीभगवानके जन्म आदि तिथियोंके अवसरपर उत्सव मनाना चाहिए। श्रीमूर्तिकी सेवा प्रीतिपूर्वक होनी चाहिए। मूढ़ लोग मूर्खतावशतः निराकारमें विश्वास रखते हैं तथा श्रीमूर्त्तिका अनादर करते है। यदि वे लोग सत्संगमें रहें तथा सद्-विचारोंका श्रवण और विवेचन करें, तो वे लोग भी श्रीमूर्त्ति सेवाकी नित्य आवश्यकता समझ पायेंगे।

रसिक भक्तोंके संगमें श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंका आस्वादन करना आवश्यक है। हेतुवादी, तार्किक और शुष्क वाद-विवादमें निरत व्यक्तियोंसे भक्तिशास्त्रोंके श्रवण आदि द्वारा हृदय शुष्क हो जाता है—रसका उदय नहीं होता है।

साधु-संग

साधकके लिये भगवद्भक्तका संग नितांत आवश्यक है। ज्ञानी, कर्मी आदि कुप्रवृत्तियुक्त व्यक्ति भक्त नहीं है। स्वजातीय भक्ति-वासनावाले स्निग्ध पुरुषोंका—जो हमसे श्रेष्ठ हों—संग करना चाहिए। अन्यथा हमारा चित्त शुद्धभक्तिका आश्रय नहीं कर सकता है। 'हरिभक्तिसुधोदय' में सत्संगकी विधि इस प्रकार दी गयी है—

यस्य यत्सङ्गतिः पुंसो मणिवत् स्यात् स तद्गुणः।
स्वकुलद्वर्यै ततो धीमान् स्व-यूथ्यानेव संश्रयेत्।।

भावार्थ यह कि जो जैसा संग करेंगे, वैसा ही फल प्राप्त करेंगे, ठीक वैसे ही जैसे स्फटिक मणिका रंग भी वैसा ही दीख पड़ता है जैसा कि उसके पास रखे हुए किसी पदार्थका रंग होता है। इस विषयमें अति सतर्क होनेकी आवश्यकता है। समस्त प्रकारके भक्ति-अंगोंमें भक्त-संग एक प्रधान अंग है।

पाँच प्रकारकी भक्ति और उनमें नामसंकीर्त्तन और वैष्णव-सेवनकी सर्वप्रधानता

भक्तिके ६४ अंगोमें ५ अंग प्रधान हैं। वे पाँच अंग हैं—(१) श्रीमूर्त्तिकी सेवा, (२) रसिकजनोंके साथ भागवतका अर्थ आस्वादन, (३) स्वजातीय वासनासे स्निग्ध अपनेसे श्रेष्ठ भक्तका संग, (४) नामसंकीर्त्तन और (५) मथुरा-वास। इन पाँच प्रकारके साधनोंमें दो सबसे प्रधान हैं—(१) श्रीनाम-संकीर्त्तन और (२) वैष्णव-सेवा। पद्मपुराणका कथन है—

येन जन्म-सहस्राणि वासुदेवो निषेवितः।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत।।

इसका तात्पर्य यह है कि—जो जन्म–जन्मातरों तक श्रीमूर्त्तिका अर्चन किया करते है, उनकी जिह्वा पर फलस्वरूप श्रीहरिनाम सर्वदा विराजमान रहते हैं अर्थात् उच्चरित होते हैं। और भी कहते है—

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्य–रस–विग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नाम–नामिनोः।।
अतः श्रीकृष्ण–नामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव–स्फुरत्यदः।।

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

नाम और कृष्ण दोनों एक वस्तु है। वे चिन्ता–मणिस्वरूप, चैतन्य–रसके विग्रह, पूर्ण, शुद्ध अर्थात् जड़से परे, आप्राकृत और चिन्मय हैं। जड़ जिह्वा पूर्ण चिन्मय–स्वरूप श्रीनामको ग्रहण नहीं कर सकती है। किन्तु शुद्ध चिद्देहमें जब जीव श्रीकृष्णके प्रति सेवोन्मुख होता है, तब चिन्मय नाम स्वयं कृपाकर उसकी जिह्वा पर अवतीर्ण होकर नृत्य करने लगते हैं। चिन्मय वस्तुकी इसी प्रकार स्वतन्त्र कृपा होती है।

श्रीमथुरामण्डल, भगवन्नाम, भागवत आदि भक्ति–शास्त्र, शुद्ध–भक्त और श्रीमूर्ति––ये पाँच अलौकिक पदार्थ हैं। इनके संगसे भाव और कृष्ण–भक्ति हठात् उदित हो पड़ते हैं।

रागानुगा भक्ति और तत्तत्कर्म प्रवर्त्तन

इस प्रकार साधनभक्तिमें वैध–भक्तिका महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त साधन कार्यमें रागानुगा 'साधन–भक्ति' अत्यन्त प्रबल होती है। व्रजवासियोंकी स्वभाविक कृष्ण–सेवाको लक्ष्यकर उनको अनुसरण करनेकी प्रवृत्ति द्वारा जो साधन–पर्व उदित होता है, उसे 'रागानुगा–भक्ति' कहते हैं। इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

भजन–परायण व्यक्ति तन, मन, वचनसे इन कर्मोंका आचरण करेंगे। साधक अपने–अपने अधिकारोंके अनुसार वैधी साधन–भक्ति अथवा रागानुगा साधन–भक्तिके अंगोंका विशेष यत्नके साथ आचरण करेंगे।

कोई–कोई एक अंगका और कोई–कोई अनेक अंगोंका साधन करके भावरूप परम फलको प्राप्त करते हैं। जो एकमात्र नाम और वैष्णव सेवाका आश्रय करते हैं, उनकी भक्ति 'ऐकान्तिकी' कहलाती है। उनको दूसरे–दूसरे साधनोंमें रुचि नहीं होती। अतएव साधकजन एकान्त शरणागत होकर उत्साह, दृढ़–निश्चयता और धैर्यके साथ भक्ति–साधनके कार्यमें लगें।

✪✪✪

गीताकी वाणी

—श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

पूर्वोक्त उपक्रम–उपसंहार आदिके अतिरिक्त एक लौकिक उदाहरण भी दिया जा सकता है––एक आदमी किसी जगह बैठकर कह रहा है कि 'राम चोर नहीं हैं। एक पथिक निकटके रास्तेसे शीघ्रतापूर्वक जा रहा है। उसके कानोंमें केवल 'राम' यह शब्द आता है, किन्तु पूरी बात न सुननेके पहले ही वह आगे बढ़ जाता है। एक दूसरा व्यक्ति भी ठीक पहले व्यक्तिकी तरह उसी रास्तेसे जा रहा है, वह केवल दो शब्दोंको अर्थात् 'राम चोर' सुनकर आगे बढ़ जाता है; वह रामको चोर समझकर विरुद्ध भाव पोषण करता है। एक तीसरा पथिक भी उन्हींके पीछे जाते हुए पूरी बात सुनकर वक्ताके कथनका पूर्णभाव समझ लेता है कि राम चोर नहीं है, किन्तु पिछले दोनों पथिक वक्ताके यथार्थ भाव समझनेमें असमर्थ होते हैं। वैसे ही जो गीताके समस्त

अध्यायोंका अध्ययन करते हैं और तत्त्वज्ञानीके निकट उसे समझने-बूझनेकी चेष्टा करते हैं, वे ही गीताके प्रकृत तात्पर्यको जाननेमें समर्थ हो सकते हैं, अन्यथा भूल धारणाओंके वशमें होकर नाना प्रकारकी समस्याओंके उलझनमें पड़कर अपने मस्तिष्कको विकृत कर लेते हैं।

नीचे सुप्रसिद्ध गौड़ीय वैष्णवाचार्य ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर महोदय द्वारा लिखित गीताकी अवतरणिकाका कुछ अंश उद्धृत करनेका लोभ छोड़ न सका—

गीतापाठकोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है, स्थूलदर्शी और सूक्ष्मदर्शी है।

स्थूलदर्शी पाठक केवल वाक्योंके बाहरी अर्थको लेकर ही अपना सिद्धान्त बनाता है, किन्तु सूक्ष्मदर्शी पाठक शास्त्रोंके तात्त्विक अर्थका खोज करता है। स्थूलदर्शी पाठक गीताका आद्योपान्त पाठकर यह सिद्धान्त करता है कि वर्णाश्रमके लिए जिन कर्मोंका विधान किया गया है, वे नित्य हैं। अतएव वर्णाश्रम-विहित कर्मोंका आचरण करना ही गीताका तात्पर्य है।

सूक्ष्मदर्शी पाठक ऐसे जड़ीय सिद्धान्तोंसे सन्तुष्ट नहीं होते, वे या तो ब्रह्मज्ञान अथवा पराभक्तिको ही गीताका एकमात्र तात्पर्य स्थिर करते हैं। उनका कहना है कि अर्जुनका युद्ध करना केवल अधिकारके अनुसार निष्ठाका ही निदर्शन है; वह गीताका चरम उद्देश्य नहीं है। मानव अपने-अपने स्वभावानुसार कर्मोंका अधिकार प्राप्त करता है और अपने अधिकारके अनुसार कर्मोंका आचरणपूर्वक जीवन यात्रा निर्वाह करते-करते तत्त्वज्ञान लाभ करता है। कर्मका आश्रय नहीं करनेसे जीवन-यात्राका सुचारु रूपसे निर्वाह नहीं होता है। जीवन-यात्रा सुन्दर रूपसे निर्वाहित न होनेसे तत्त्व-दर्शन भी सुलभ नहीं होता।

अतएव तत्त्वलाभ करनेके सम्बन्धमें—कर्म और वर्णधर्मका एक सुदूरवर्त्ती सम्बन्ध है। जीवोंकी जब तक बन्धनसे मुक्ति नहीं होती, तब तक यह सम्बन्ध अपरिहार्य होता है। अर्जुनके स्वभावके अनुसार युद्ध कर्त्तव्य है। इसलिए गीताको श्रवणकर अर्जुनके युद्ध अङ्गीकार करनेसे यह स्थिर होता है कि ब्रह्मस्वभाववाले व्यक्ति गीताका श्रवणकर उद्धवकी तरह प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास स्वीकार करेंगे और क्षात्र-स्वभाववाले व्यक्ति अर्जुनकी तरह—क्षात्रवृत्ति। अतएव जिस व्यक्तिका जैसा स्वभाव है, उसी स्वभावके अनुसार उसका अधिकार होता है; उस अधिकारके लिये निर्दिष्ट जीवन-यात्रा निर्वाहके उपयोगी कर्मोंको स्वीकार करते हुए परतत्त्वका अनुसंधान करना कर्त्तव्य है। यही गीताका परम गूढ़ तात्पर्य है। इसीसे श्रेयकी प्राप्ति हो सकती है। अधिकारका परित्याग करनेसे बद्धजीवोंके लिए परतत्त्व लाभ करनेकी कोई सम्भावना नहीं है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि अर्जुन तो परम वैष्णव थे। तब परम वैष्णव होते हुए भी क्या वे ब्रह्मस्वभाव सम्पन्न नहीं थे? इसका उत्तर यह है कि अर्जुन मुक्तात्मा तो हैं, किन्तु भगवान्के प्रपञ्चमें अवतीर्ण होनेके समय उनकी लीला-पुष्टिके लिए वे क्षात्र-स्वभावको स्वीकारकर अवतीर्ण हुए थे। उनका तात्कालिक-स्वभाव क्षत्रिय-स्वभाव था। इस स्वभावको लक्ष्यकर ही भगवान्ने जगत्में अधिकार तत्त्वके ज्ञानकी शिक्षा दी है—इतना ही समझना होगा।

सरल बुद्धि द्वारा विचार करनेसे जीवोंकी जड़बद्ध अवस्था अत्यन्त सोचनीय प्रतीत होती है। इस सोचनीय अवस्थासे मुक्त होकर किसी मङ्गलमय विशुद्ध अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए कोई उपाय अवलम्बन करना उचित जान पड़ता है। उसी विशुद्ध अवस्थाको 'उपेय' या 'प्रयोजन' कहते हैं। जिससे वह विशुद्ध अवस्था प्राप्त की जाय उसे 'उपाय' कहते हैं। शास्त्रकारोंमें-से किसीने यज्ञको, किसीने योगको, किसीने पुण्यको, किसीने वैराग्यको, किसीने तपस्याको, किसीने धर्मयुद्धको, किसीने ईश्वर

उपासनाको, किसीने धर्मको, किसीने गुरु–सेवाको किसीने प्रायश्चित्तको और किसीने दानको (प्रयोजन प्राप्तिका) 'उपाय' स्थिर किया है। इस प्रकार नाना नामों द्वारा अवैज्ञानिक रूपसे कहे गये उपाय–तत्त्वकी संख्या अनगिनत हो उठी। कुछ समय बाद इस विषयमें विज्ञानके हस्तक्षेप करनेसे उनकी संख्या घट गई। बादमें देखा गया कि ये सभी उपाय भिन्न–भिन्न तीन तत्त्वोंके अधीन हैं। ये तीनों तत्त्व हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति।

स्वतःसिद्ध आत्मप्रत्यय (आत्म–विश्वास या प्रमाण) और विशुद्ध विचार द्वारा यह निर्णय किया गया है कि जीवोंकी सिद्ध–सत्ता चिन्मयी है। माताके गर्भसे जो उत्पत्ति होती है वह केवल उस सिद्ध सत्ताकी (आत्माकी) जड़–बद्ध दशामात्र है। अचिन्त्य और अतर्क्य शक्ति भगवान्‌की इच्छाके अतिरिक्त चिन्मय तत्त्वके जड़ सम्बन्ध—जड़ग्रन्थिके लिए दूसरा हेतु नहीं; वह ससीम मानव–बुद्धिके सीमाके अन्तर्गत नहीं है। अतएव दोनों दशाओंके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं—मुक्त और बद्ध। मुक्तजीव दो प्रकारके हैं––(१) कोई–कोई जीव जो कभी भी मायाबद्ध नहीं हुए हैं वे नित्यमुक्त हैं और (१) कोई–कोई जीव जो बद्धावस्थासे मुक्तिलाभ किये हुए हैं। उन्हें बन्धन–मुक्त जीव कहते हैं। उभय प्रकारके मुक्त जीव शास्त्रोंसे परे होते हैं। कर्म, ज्ञान और भक्तिका जो पार्थक्य बद्ध जीवोंमें दिखाई पड़ता है, वह मुक्त जीवोंमें नहीं होता। कर्म और ज्ञान—ये केवल प्रेमभक्तिकी उपाधियाँ हैं। ये उपाधियाँ जिस जीवके प्रेमरूप नित्य धर्मको स्पर्श करती हैं उसीकी बद्धावस्था होती है। बद्धावस्थामें भगवत्–बहिर्मुखता रूप उपाधि द्वारा जीवोंकी प्रेम–वृत्ति विकृत होकर धर्म (कर्म) का आकार धारण करती है और कहीं–कहीं पर ज्ञानरूपमें भी प्रकाशित होती है। साधन–भक्ति उसी वृत्तिका तीसरा आकार है। इनमें साधन–भक्तिका आकार ही बद्ध जीवोंके स्वास्थ्यका लक्षण है और शेष दोनों जड़–सम्बन्ध द्वारा कष्ट पानेके लक्षण हैं। जबतक शरीर है तबतक कर्म अपरिहार्य है। शरीर–यात्रा निर्वाह करनेके लिए जिन कर्मोंको किया जाता है, उनमें जो कर्म जगत्‌के लिए अमङ्गलजनक होते हैं उन्हें विकर्म या कुकर्म कहते हैं। मङ्गलजनक कर्मोंको न करना ही अकर्म है और जिन कर्मोंसे जगत्‌का मङ्गल होता है उन्हें कर्म कहते हैं। कर्म चार प्रकारके होते हैं––(१) शारीरिक, (२)मानसिक (३)सामाजिक (४) आध्यात्मिक। प्रत्येक कर्मका एक–एक अवांतर (गौण) फल होता है। जैसे—भोजन करनेका फल है—शरीर पोषण और विवाह करनेका—सन्तानोत्पत्ति। अवांतर फल सहज ही लक्षित होता है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे शांति ही इन समस्त फलोंका सर्वोच्च फल है। विज्ञानको थोड़ा और दूर बढ़ानेसे देखा जायेगा कि मायिक सुख–दुःखसे क्रमशः मुक्त होकर भगवान्‌के चरणोंकी सेवा प्राप्त करना ही परम शांति है। आहार, विहार, व्यायाम, शयन और शौचादि शरीर–पालक कर्म, यज्ञ, व्रत और अष्टाङ्ग योगादि नाना प्रकारके सामाजिक, शारीरिक और मानसिक कर्मोंका उपदेश दिया गया है। अष्टाङ्ग–योगमें यम, नियम, आसन और प्राणायाम—ये चार शरीर सम्बन्धी 'शरीर' योग हैं, प्रत्याहार (इन्द्रिय–निग्रह), ध्यान, धारणा—ये 'मानस' योग हैं और समाधि आध्यात्मिक योग है। इनके समुदायको ही शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कर्म कहते हैं।

अष्टाङ्ग योग–शास्त्रके विभूतिपादमें नाना प्रकारके ऐश्वर्योंको भोगोंका अवांतर फलके रूपमें वर्णन करनेके बाद कैवल्यपादमें केवल शांतिको' ही उनका फल बताया गया है। समस्त कर्म ही प्रारम्भमें सुख–भोग देनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, किन्तु अंतमें समस्त विषय–सुखोंकी अनित्यता दिखलाकर कैवल्यादि शांति सुखको ही श्रेष्ठ बतलाकर उसके प्रति साधकका लक्ष्य स्थिर करवाते हैं। कैवल्य–शांति

या मुक्तिकी अपेक्षा श्रेष्ठ होनेपर भी दुःखोंका अभावमात्र है, स्वयं सुखस्वरूप नहीं है अर्थात् कैवल्य शांतिमें दुःखोंका अभाव तो रहता ही है, सुख या आनंदका भी उसमें अभाव होता है। फिर किसी तरह ब्रह्मज्ञानरूप सिद्धावस्थाकी खोज पाई जाती है। अभेद ब्रह्मसुख तक सभी अवांतर फलोंको पाकर जब भगवत्-सेवा सुख दिखाई पड़ता है तब कर्म भक्तिके रूपमें बदल जाता है। अतएव भक्ति ही जीवोंके कर्मफलोंका सर्वोच्च उद्देश्य है।

जैसे जड़-यंत्र द्वारा किये गये कार्य ज्ञान-शून्य होते हैं, वैसे मनुष्योंके द्वारा किये गये कर्म ज्ञान-शून्य नहीं होते। मनुष्य द्वारा किये गये कर्मोंमें ज्ञानकी सत्ता लक्षित होती है। उसी तरह मानवकी ज्ञान आलोचना भी कर्म-शून्य नहीं होती। आलोचना ही ज्ञानका जीवन है। यह आलोचना भी एक तरहका कर्मविशेष है। इसीलिए स्थूल-बुद्धि सम्पन्न व्यक्तियोंके निकट कर्म और ज्ञान एक जैसे प्रतीत होते हैं। तात्त्विक विचारसे कर्म और ज्ञानके स्वरूप अलग-अलग हैं। वैसे ही कार्यक्षेत्रमें कर्म और ज्ञानको भक्तिसे पृथक् समझने पर भी तात्त्विक दृष्टिसे विचार करने पर कर्म और ज्ञानसे भक्तिका पार्थक्य सिद्ध होता है। निरुपाधिकी चिन्मयी प्रेम-सेवा ही भक्तिका सिद्ध स्वरूप है।

भक्ति दो तरहकी होती है—केवला और प्रधानीभूता। केवला भक्ति स्वतंत्र होती है। उसमें कर्म और ज्ञानादिका सम्पूर्ण रूपसे अभाव होता है, इनका गन्ध भी उसमें नहीं होता। शास्त्रोंमें इसको ही निरुपाधिक प्रेम, निरुपाधिक सेवा, अनन्या भक्ति और अकिञ्चना भक्ति आदि कहा गया है। प्रधानीभूता भक्ति तीन प्रकारकी होती है—(१) कर्म-प्रधानीभूता (२) ज्ञान-प्रधानीभूता (३) कर्म-ज्ञान-प्रधानीभूता जिस कर्म या ज्ञानमें भक्तिकी प्रधानता होती है और कर्म या ज्ञानका भक्तिके प्रति दासत्वभाव सूचित होता है उस कर्म या ज्ञानके साथ जो भक्ति-वृत्ति मिश्रित रहती है उसे प्रधानीभूता भक्ति कहते हैं। जिस कर्म या ज्ञानमें भक्तिकी प्रधानता नहीं होती अर्थात् कर्म या ज्ञानका ही प्रभुत्व सूचित होता है और भक्ति केवल दासीकी तरह कर्म या ज्ञानके आश्रित होती है उसी कर्मका नाम कर्म और ज्ञानका नाम ज्ञान है। ऐसे कर्म या ज्ञानको भक्तिकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। कर्म, ज्ञान और भक्तिका परस्पर भिन्न-भिन्न स्वरूप है। अतएव तत्त्वोंके विचारसे कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और भक्तिका अलग-अलग विवेचना किया गया है।

गीतामें अठारह अध्याय हैं। इसके पहले छः अध्यायोंमें 'कर्म', दूसरे छः अध्यायोंमें 'भक्ति' और तीसरे छः अध्यायोंमें 'ज्ञान' का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है और अन्तमें भक्तिकी ही श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। भक्ति अत्यन्त गूढ़ तत्त्व है, अथच ज्ञान और कर्मका जीवनस्वरूप और प्रयोजन-साधक होनेके कारण ही भक्ति सम्बन्धी विचारोंको बीचके छः अध्यायोंमें सन्निविष्ट किया गया है।

इस प्रकार विशुद्ध भक्ति ही जीवोंका सर्वोच्च लक्ष्य है। यही कृष्णकी शिक्षा है; यही गीताकी वाणी है। गीताके अन्तमें "सर्वधर्मान् परित्यज्य" श्लोक द्वारा भगवान्की शरणागती ही "सर्व गुह्यतम्" उपदेश है—ऐसा निर्दिष्ट होता है।

(गीताके रसिकरञ्जन-भाषाभाष्यकी अवतरणिकासे)

✪✪✪

भीष्म-युधिष्ठिर-संवाद

(कर्म का प्रभाव)

महाभारतका युद्ध अभी-अभी शेष हुआ है। कुरुक्षेत्रमें बड़े बड़े शूर-वीरोंकी लाशें एक दूसरे पर लदीं हैं। चारों ओर रक्त-ही-रक्त दृष्टिगोचर होता है। बीच-बीचमें कटे रुण्ड-मुण्ड इतस्ततः विखरे पड़े हैं। कल जहाँ वीरोंकी हुँकारसे मेदिनी प्रकम्पित होती थी, आज वही श्वान-शृगालोंका क्रीड़ास्थल बना है। कर्मकी गति बड़ी गहन है। लोग देख सुनकर भी नहीं देखते।

कुरुकुल चूड़ामणि शान्तनुनन्दन कुरुक्षेत्रमें शरशय्या पर सोये हैं। युधिष्ठिर भगवान कृष्ण और अपने भाइयोंके सहित पितामहका दर्शन करनेके लिए वहाँ उपस्थित हुए। उन लोगों ने देखा कि वहाँ देवों जैसी सभा लगी है। व्यासादि महर्षिगण भीष्मको चारों ओरसे घेर कर बैठे हैं। भीष्मको देखते ही वे अपने-अपने रथोंसे उतर पड़े ओर महर्षियोंको अभिवादन कर भीष्मके चारों तरफ बैठ गये।

भगवान् वासुदेव प्रशान्त-पावक-सदृश भीष्मके दर्शनकर उन्हें सम्बोधितकर बोले हे शान्तनुतनय! आपकी चेतना पूर्ववत् निर्मल तो है? बाणोंके लगनेसे आपका शरीर नितान्त अवसन्न तो नहीं हो रहा है? मानसिक दुःखकी अपेक्षा शारीरिक दुःख ही कतिपय अंशोंमें अधिक बलवान होता है। शरीरमें एक क्षुद्र कण्टक विंध जानेसे मर्मान्तक पीड़ाका अनुभव होता है, फिर आपका शरीर तो शरसमूहसे विद्ध हो रहा है। इससे आपको किसी प्रकारका कष्ट तो नहीं होता? जैसा भी हो, जब आप देवताओंको भी उपदेश प्रदान करनेमें समर्थ हैं, तो आपके लिए प्राणियोंके जन्म-मृत्युका रहस्य व्यक्त करना कुछ विशेष बात नहीं। आप ज्ञान-वृद्ध हैं, भूत, भविष्यत् और वर्तमान कुछ भी आपके लिए अविदित नहीं। प्राणियोंकी मृत्यु और सत्कार्योंका फलोदय किस प्रकार होता है, आप इस विषयको विशेष रूपसे जानते हैं। आप सत्य-धर्मपरायण एवं परम शक्तिसम्पन्न महापुरुष हैं। आपने तपके प्रभावसे मृत्युका भी अतिक्रमण किया है, त्रिलोकमें कभी भी ऐसा सुना नहीं गया। आप अपने बल-वीर्यके प्रभावसे स्वर्गलोकमें भी विख्यात हैं और अपने सद्गुणोंके प्रभावसे देवताओंके भी वंदनीय हैं। महाराज युधिष्ठिर कुलक्षयके कारण अत्यन्त विषाद्ग्रस्त हुए हैं, अतः आप इनका शोक दूर करें। आप जैसे महात्मा ही मोहाविष्ट मानवोंकी सात्वनाके सम्बल होते हैं।

महात्मा भीष्मने वासुदेवके ऐसा कहने पर अपनी आँखें खोलीं। उनके सारे शरीरमें रोमांच हो आया—भगवान सामने खड़े थे। वे गद्गद् हो गये। अपना वदन-मण्डल कुछ उन्नत कर अञ्जलि-बद्ध हो कहने लगे—हे वासुदेव! आप ही जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहारकर्त्ता हैं। कोई भी आपको पराजित नहीं कर सकता। आप नित्य-मुक्त और सनातन हैं। आप चेतन-अचेतन सबके आश्रय हैं। हे कृपावारिधि पुरुषोत्तम! मैं आपका दीन हीन दास हूँ—अपनी अभिलषित गति लाभ करनेके लिये आपका शरणापन्न हुआ हूँ, आप हमारा मंगल करें। राजा युधिष्ठिर ने कहा— पितामह अनजानमें किये हुए पाप कर्मोंके लिए बुद्धिमान व्यक्तियोंको अनुताप करना सर्वथा अनुचित है। किन्तु जानबूझकर पाप कर्मोंके आचरणसे भला कब शान्ति मिल सकती है? आज आपका शरीर बाणोंसे बिद्ध हो क्षत-विक्षत हो पड़ा है, उससे निरन्तर रक्त-प्रवाहित हो रहा है—यह हमारे ही कुकर्मोंका परिचय दे रहा है। इसे देखकर मुझे किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिल रही है। हमारे लिए आपकी ऐसी दुर्दशा हुई—इससे बढ़कर हमारे लिए और क्या दुख होगा? ये सारे नृपतिगण

हमारे लिए ही अपने पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके सहित समरशायी हुये हैं। इन लोगोंकी ऐसी दुरवस्था देख मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है। हाय! हम दोनों पक्षोंने क्रोधके वशीभूत होकर ऐसा गर्हित कर्म किया है, कह नहीं सकता कि आगे चलकर इन पापोंके प्रभावसे हमारी क्या दुर्गति होगी? मैं ही सारे अनर्थोंकी जड़ हूँ। शर-शय्या पर सोये हुए आपका विषण्ण-वदन अवलोकन कर मुझे असीम दुःख हो रहा है। दुर्योधन कुरुकुलका कलंकस्वरूप होकर भी अपने बन्धु-बान्धवोंके तथा सैन्यवर्गके साथ क्षत्रिय धर्मके अनुसार समराग्निमें अपने प्राणोंकी आहुति देकर हमारी अपेक्षा कहीं अधिक सुखी है। आज उसे आपकी यह दुर्दशा तो देखनी नहीं पड़ रही है। इस समय मेरे लिये जीवनकी अपेक्षा मुत्यु ही वांछनीय जान पड़ती है। अगर मैं भी इस युद्धमें मारा गया होता तो आपकी ऐसी करुण अवस्था तो न देख पाता। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि विधाताने ऐसे पाप कर्मोंको करानेके लिये ही हमारी सृष्टि की है। आप तत्त्वदर्शी महात्मा हैं, इन पापोंसे किस तरह परित्राण पा सकेंके—हमे उपदेश प्रदान कीजिये।

भीष्म बोले—धर्मराज! तुम्हें शोक करना उचित नहीं; काल, अदृष्ट और ईश्वरके अधीन इस आत्मको तुम किसलिए पाप-पुण्यका कारण समझ रहे हो? जड़ और चेतन पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। आत्मा चेतन और देह जड़ है। इस जड़ देहको आत्मा समझनेको 'देहात्मबुद्धि' कहते हैं। देहात्मबुद्धि होनेसे इस नश्वर जड़ शरीरके सुख-दुःख आत्मापर आरोपित किये जाते हैं। वस्तुतः आत्मा किसी भी कार्यका कारण नहीं हो सकती। इस विषयमें एक पौराणिक कथा सुनो—

"प्राचीनकालमें गौतमी नामकी एक वृद्ध ब्राह्मणी थी। वह वहुत ही शान्त स्वभावकी थी। उसके एक ही पुत्र था। वह उसे बहुत ही प्यार करती—वही उसका एकमात्र सहारा था। दैवात् एक दिन एक विषधर सर्पने उसके बच्चेको काट लिया और देखते-ही-देखते उसकी मृत्यु हो गई। पास ही अर्जुन नामक एक बहेलिया खड़ा था। वह तुरन्त ही उस सर्पको पकड़कर गौतमीके निकट लाकर कहने लगा—देवि, इस अधम सर्पने तुम्हारे पुत्रका दंशन कर लिया है। कहिये, इस सर्पका विनाश किस तरह करूँ? इस शिशुघाती सर्पको जीवत रखना उचित नहीं। अतएव आप शीघ्र आज्ञा दें, इसे आगमें जला दूँ अथवा इसकी बोटी-बोटी अलग काट कर फेंक दूँ। गौतमी क्षणभर तक निस्तब्ध रही। फिर बोली—अर्जुन, तू नितान्त अबोध है। इसे छोड़ दे। भला ऐसा कौन बुद्धिमान व्यक्ति होगा जो उत्कृष्ट लोक पानेकी आशा परित्याग कर स्वयं पापोंके भारसे पीड़ित होना चाहता है? जो धार्मिक हैं, वे अनायास ही दुःख-सागरको पारकर सकते हैं। किन्तु पापी व्यक्ति ही दारुण कष्टोंको भोगता हुआ उसीमें निमज्जित हो जाता है। देखो, इस सर्पका बध करनेसे मेरा पुत्र फिर जीवित न हो सकेगा, साथ-ही-साथ इसकी जीवन-रक्षा करनेसे मुझे तनिक भी क्षतिग्रस्त होनेकी सम्भावना नहीं। ऐसी परिस्थितिमें इसका प्राण-विनाश कर, ऐसा कौन होगा जो अनन्तकाल तक नरक भोगनेकी इच्छा करेगा? तुम इसे छोड़ दो।

बहेलियाने कहा—देवि! महद्व्यक्ति स्वभावतः पर-दुःख-दुःखी होते हैं आप जो कुछ कह रहीं हैं—वह शोकशून्य व्यक्तिके लिये उपयुक्त है। परन्तु आपके हृदयमें पुत्र-शोक वर्त्तमान है। आप आदेश करें—इस दुष्ट सर्पका विनाश करूँ। जो शान्त प्रकृतिके लोग हैं, वे 'काल' को किसी अप्रिय घटनाका कारण समझ शोक परित्याग करते हैं। किन्तु जो प्रतिकारके इच्छुक होते हैं, उनका शोकानल शत्रु नाशके द्वारा ही शान्त होता है, और जिनमें इन दोनों गुणोंका अभाव है, वे मोहवशात् सर्वदा ही अप्रियके लिये शोक करते हैं। अतः आप इस सर्पका विनाश कर पुत्र-शोकका परित्याग करें।

गौतमीने समझाया—व्याध! धार्मिक व्यक्ति कभी दुःखी नहीं होते। वे सतत् विवेकका अवलम्बन

करते हैं। मेरा पुत्र पहले ही मृत्युका शिकार बन चुका था, इसीलिये इस सर्पने इसे काटा है। अतः किसी भी दशामें मैं इस सर्पका संहार नहीं कर सकती। साधारणतः ब्राह्मणोंको क्रोध प्रकाश करना उचित नहीं। क्रोधसे मानसिक पीड़ा होती है। मुझे इस विषयमें क्रोधका कुछ भी कारण नहीं दीखता। तू इसे क्षमा कर छोड़ दे।

बहेलिया बोला—देवि! शत्रुका विनाश करनेसे अक्षय धन और कीर्त्ति प्राप्त होती है। अतएव काल बिलम्ब न कर इसे मारना ही उचित जान पड़ता है।

गौतमीने फिर कहा—इस सर्पके मारनेसे न तो मुझे आनन्द ही मिल सकता है और न तो इसे दृढ़ बंधनमें रखनेसे मुझे कोई फल ही मिलेगा, अतः इसे क्षमा करना ही कर्त्तव्य है।

इसपर व्याधने कहा—सुभगे! इस एक सर्पको मारनेसे बहुतोंके प्राणोंकी रक्षा हो सकेगी। अतएव अनेक प्राणियोंकी जीवन-रक्षामें उदासीन रह कर इसकी रक्षा करना अयुक्ति-युक्त ही नहीं, अपितु अनुचित है। विज्ञ लोग अपराधियोंको प्राण-दण्ड देते हैं। अतएव अविलम्ब इस पापिष्ठको मारना ही उचित है।

गौतमी बोली—इस सर्पके विनाशसे न तो मेरा पुत्र ही कदापि पुनर्जीवित हो सकता है और न मुझे पुण्य प्राप्तिकी ही संभावना है। अतः इसे छोड़ दे।

अपने विचारोंको बल देते हुए व्याधने पुनः कहा—देवि! देवराज इन्द्रने वृत्रासुरका बधकर श्रेष्ठत्व लाभ किया है, रुद्रदेवने भी दक्ष-यज्ञका विनाशकर यज्ञ-भाग पाया था, फिर आप भी उनके पथका अनुसारण कर निःसंकोच इसका बध करें। बहेलियेके द्वारा सर्पके विनाश करनेके लिए बार-बार कहे जोने पर भी गौतमीका मन तनिक भी विचलित न हुआ। इसी समय पाश-निपीड़ित सर्प धैर्य अवलम्बनपूर्वक मृत्यु-स्वरसे बहेलियेसे कहने लगा—अरे मूर्ख! इसमें मेरा क्या अपराध है? मैं तो पराधीन हूँ। मैंने मृत्युकी प्रेरणासे ही इस शिशुको डॅसा किया है। इसलिये इसका उत्तरदायित्व मृत्युके ऊपर है।

बहेलियाने सर्पसे कहा—सर्प! यद्यपि तुमने दूसरेके वशवर्ती होकर ही इस पाप कर्मको किया है, तथापि तुम ही इसका प्रधान साधन हो। अतएव तुम्हीं दोषी हो। चक्र और डंडा जिस प्रकार मिट्टीके बर्त्तनोंके निर्माणमें साधन हैं, उसी प्रकार तुम्हीं इस बालकके प्राण-विनाशमें साधन हो। अतएव तुम जब दोषी स्थिर हो रहे हो तब तुम्हारा विनाश करना ही मेरा परम कर्त्तव्य है।

पर, भाई! सर्प ने कहा—चक्र और डंडा जैसे पराधीन हैं, मैं भी वैसे ही पराधीन हूँ। अतः केवल मुझे ही क्यों दोषी निर्देश कर रहे हो? चक्र-डंडादि जिस प्रकार परस्पर एक दूसरेके प्रयोजक हैं—मैं, काल और मृत्यु प्रभृति सभी परस्पर एक दूसरेके प्रेरक हैं। अतः ऐसी अवस्थामें मैं कभी भी अकेला इसके लिए दोषी और दण्डनीय नहीं। यदि दोष स्वीकार किया जाय तो इसके लिये हम तीनों ही दोषी हैं।

बहेलियाने तमक कर कहा—मैं तुम्हें किसी प्रकार भी छोड़ नहीं सकता। यद्यपि मृत्यु उसके विनाशका प्रधान कारण है तथापि वह किसी प्रकार भी इसका विनाशकर्त्री नहीं। तुम ही इस विनाशके प्रधान साधन हो। अतएव तुम्हारा ही वध करना उचित जान पड़ता है। यदि असत्-कार्योंके करने पर भी पाप न लगे तो सारे शास्त्र मिथ्या हो जायेंगे और राज्य भी चोरों तथा अपराधियोंको दण्ड न दे सकेगा।

सर्पने विनीत भावसे निवेदन किया—प्रयोजक-कर्त्ता वर्तमान रहनेपर भी प्रयोज्य-कर्त्ताके बिना कोई भी क्रिया सम्पन्न नहीं होती। यही कारण है कि बाह्यतः प्रयोज्य-कर्त्ताको ही कार्यका साधक (प्रधान-कारण) समझा जाता है। उसी प्रकार इस शिशुके विनाश-कार्यमें मुझे प्रयोज्य-कर्त्ता होनेके कारण दोषी समझ रहे हो। किन्तु विशेष विचार करनेसे तुम्हें

मालूम पड़ेगा कि मृत्यु ही इसमें दोषी है।

बहेलियाने कहा—रे दुष्ट! तू बड़ा ही निर्बोध, नृशंस और शिशुघाती है। व्यर्थ ही गाल बजा रहा है। मैं अवश्य ही तेरा बध करूँगा।

सर्पने पुनः व्याधको समझाया—वनचर, ऋत्विक्गण यजमानोंके द्वारा प्रेरित होकर आगमें आहुति प्रदान करते हैं, फिर भी वे उसके फलके भागी नहीं होते। मैंने शिशुका दंशन तो अवश्य किया है, पर मृत्युके आदेशसे। अतः मैं भी फलका भागी नहीं। तुम आखिर बलपूर्वक मुझे ही दोषी क्यों बना रहे हो?

सर्प और बहेलिया परस्पर तर्क-वितर्क कर ही रहे थे कि मृत्यु भी वहाँ आ पहुँची और सर्पको सम्बोधन कर बोली—सर्प! काल द्वारा प्रेरित होकर ही मैंने तुम्हें इस शिशुके प्राण-विनाशके लिये भेजा था। इसलिए हम दोनोंमेंसे कोई भी इसके विनाशका कारण नहीं। इस भूमण्डल पर सात्त्विक, राजसिक अथवा तामसिक समस्त प्राणी कालके अधीन हैं; स्वर्ग और मर्त्यके स्थावर-जंगात्मक जितने पदार्थ हैं, सभी कालके अधीन है। फलतः समस्त जगत ही कालके अधीन हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही कालके अधीन हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, अश्विनीकुमार, अदिति, नदी, पर्वत, समुद्र, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, सम्पत्ति, और विपत्ति—इन सबकी काल बारम्बार सृष्टि और संहार करता है। हे सर्प! सभी कुछ जानते हुए भी तुम मुझे क्यों दोषी बना रहे हो? अगर तुम मुझे दोषी समझ रहे हो तो तुम्हारे निर्दोष होनेका क्या प्रमाण है?

सर्पने कहा—मृत्यो! मेरा कथन आपको दोषी या निर्दोष कहनेके लिए नहीं। मेरा तो केवल यही कहना है कि आपने ही मुझे शिशुका वध करनेके लिये आदेश दिया था। इसमें कालका कुछ दोष है या नहीं, मैं उसका विचारक नहीं। मेरा उद्देश्य तो केवल अपनी सफाई देनेका है, न कि आपको दोषी प्रतिपन्न करने का।

पाश-बद्ध सर्पने मृत्युसे ऐसा कहकर बहेलिये से कहा—हे बनचर, तुमने अब मृत्युकी भी बातें सुन ली, अतः मुझ निरपराधको पाश-मुक्त करना तुम्हारा नितान्त कर्त्तव्य है।

बहेलियाने कहा—मैंने तुम्हारी और मृत्यु दोनोंकी बातें अच्छी तरह सुन लीं, किन्तु तुम दोनोंकी निर्दोषिता किसी प्रकार प्रमाणित नहीं होती। अतः तुम दोनों ही दोषी ठहरे। तुम्हारे समान इस संसारमें साधुओंको सतानेवाला दुष्ट, दुरात्मा तथा क्रूर दूसरा और कोई नहीं। तुम्हें धिक्कार है। मैं अवश्य ही तुम्हारा बध करूँगा।

मृत्यु बोली—निषाद! हमें कालके वशीभूत होकर कार्य करना होता है। अतएव हमारे ऊपर दोषारोपण करना उचित नहीं।

बहेलियाने कहा—अगर मुझे कालके अधीन जानकर क्रोध प्रकाश करना उचित न हो तो किसी भी व्यक्तिके उपकारोंकी प्रशंसा अथवा उपकारोंकी निन्दा करना भी उचित नहीं।

मृत्युने कहा—वनचर! मैंने तो पहले ही कहा है कि प्राणीगण किसी भी कार्यका अनुष्ठान क्यों न करें, काल द्वारा प्रेरित होकर ही ऐसा करते हैं। अतएव अपकारीकी निंदा और उपकारीकी स्तुति करना बुद्धिमानोंको उचित नहीं। कालकी प्रेरणासे ही हम इन कार्योंका अनुष्ठान करते हैं। अतः हमें व्यर्थ ही अपराधी बनाना उचित नहीं।

इसी प्रकार जब मृत्यु बहेलियेको समझा ही रही थी कि वहाँ काल भी आ पहुँचे और बहेलियेको सम्बोधितकर बोले—हे निषाद! क्या मैं, क्या मृत्यु, क्या सर्प इनमेंसे कोई भी इस लड़केके प्राण-विनाशके लिये अपराधी नहीं। इसके पूर्व-अनष्ठित कर्मने ही इसके विनाश-साधनके लिए बाध्य किया है। फलस्वरूप लड़का अपने किए हुए कर्मोंके वशीभूत होकर ही विनाशको प्राप्त हुआ है। अतएव कर्मको ही इसके विनाशका कारण समझना उचित है। कर्म ही पुत्रकी तरह आचरण द्वारा प्राणियोंकी पापसे रक्षा करता है और कर्म ही परम शत्रुकी तरह आचरण द्वारा असीम दुःख-समुद्रमें निमग्न करा देता है। कर्म ही मानवोंके पाप-पुण्यका प्रकाशक है। मनुष्यके

आयत्त है। कुंभकार जिस तरह मिट्टीसे स्वेच्छानुसार विभिन्न प्रकारके वर्त्तनोंका निर्माण करता है, मनुष्य भी उसी प्रकार स्वेच्छासे कार्य करता है। धूप और छायाकी तरह कर्त्ता और कर्म परस्पर सुसम्बद्ध हैं। अतएव, क्या मैं, क्या मृत्यु, क्या सर्प, क्या तुम, क्या बुढ़िया, अथवा हममेंसे कोई भी इस शिशुके प्राण–विनाशका कारण नहीं है। शिशुका पूर्वकृत कर्म ही उसके बधका कारण है।

कालकी बात सुनकर बृद्धा गौतमीने बहेलियेसे कहा—अर्जुन! समग्र जगत ही अपने कर्मके अधीन है। काल, सर्प या मृत्यु मेरे पुत्रके विनाशका कारण नहीं हो सकती। मेरी संतान अपने ही कर्मदोषसे निहत हुई है। मुझे भी अपने कर्मके अनुसार पुत्र–शोक प्राप्त हुआ है। अब काल और मृत्यु अपने–अपने स्थानोंको चले जाँय और तुम भी इस सर्पको छोड़ दो।

भीष्म पितामह बोले धर्मराज! महानुभवा ब्राह्मणीके ऐसा कहने पर काल और मृत्यु अपने–अपने स्थानोंको चले गये। अर्जुनने भी पाश–बद्ध सर्पको मुक्त कर दिया और गौतमीने भी पुत्र–शोक परित्याग कर शान्ति लाभ किया। अतएव तुम भी मनुष्यमात्रको कर्मके अधीन जानकर शोक परित्यागकर शान्ति लाभ करो। इस लोकमें सभी अपने–अपने कर्मोंसे ही पुनः पुनः जन्मते और मरते हैं। तुम्हारे बन्धु–बान्धवगण या नृपतिगण जिन्होंने इस संग्राममें प्राण परित्याग किया है, उनके विनाशमें तुम्हारा अथवा दुर्योधनका तनिक भी दोष नहीं। अपने–अपने कर्मोंके वश होकर कालके प्रभावसे उन्हें शरीर त्यागना पड़ा है।

✪✪✪

कलियुगमें श्रीकृष्णनाम साधना

—डा० सत्यपाल गोयल

नवम धारा

संग दोषकी विकारलताके कारण ही संभवतः श्रीराम भक्त गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा कहा गया है कि—

दुष्ट संग जनि देय विधाता।
या सी भलो नरकको वासा।।

खतरा दुष्टकर्मोंमें लिप्त लोगोंसे कम होता है क्योंकि लोग उनकी ओर कम आकर्षित होते हैं। समाजमें सामान्य धारणा रहती है कि कुकर्म करनेवालोंकी संगतसे समाजमें भले लोगोंके साथ उठना–बैठना कठिन हो जाता है। इसलिए अधिकांश लोग ऐसे दुष्कर्मी लोगोंसे सम्बन्ध रखनेमें सामाजिक ग्लानि अनुभव करते हैं। परन्तु जिन लोगोंने कृष्ण भजन करनेका स्वांग रच रखा है, साधु वेष धारण कर रखा है, मीठी मीठी बातें कर अपनेको उन्नत भक्त बतलाते हैं, धर्म शास्त्रोंपर चर्चा भी करते हैं, किन्तु अंदर–ही–अंदर धन, स्त्री, मान प्रतिष्ठा जैसी कुत्सित लिप्साओंसे घिरे रहते हैं, उनकी पहचान कठिन हो जाती है। सरल हृदयवाले लोग उनके बाहरी टीपटापकी ओर आकर्षित होकर अपना सर्वनाश कर बैठते हैं। ऐसे स्त्री–लोभी और धन–लोभी लोग प्रायः लोगोंका शोषण कर स्वयं तो पथभ्रष्ट

होते ही हैं, दूसरोंका भी जीवन नष्ट करते हैं। ऐसे पाखण्डियोंका कभी पदाश्रय ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि अज्ञानवश ऐसे लोगोंका शिष्यत्व मिल भी जाय तो उसका तुरंत त्यागकर देना ही अधिक हितकर है। कुछ लोग नकली भावुकता दिखाकर स्वयंको भगवानके नित्य परिकरका अवतार आदि होनेकी घोषणा भी कर देते हैं। गत ५० वर्षोंमें लगभग २५०० से अधिक साधु वेषधारी लोग अपनेको भगवानका अवतार या उनकी नित्य सखी—सखा आदिका अवतार घोषित कर दुर्व्यसनोंको साधनाके नामपर प्रश्रय दे रहे हैं।

साधुवेष धारण करनेके कारण सामान्य लोगोंको उनके असत् होनेका बोध नहीं होता है तथा लोग भावुक हृदयसे अपना तन, मन, धन सब कुछ उनको अर्पणकर यह सोचते हैं कि अब हमारा उद्धार होनमें देर नहीं है। परन्तु उनका संग सीधा नर्ककी ओर ढकेलता है। ऐसे लोगोंके संगसे तो आगमें कूदकर प्राणांतकर देना अच्छा है या निरन्तर पिंजड़ेमें बन्द पड़ा रहना उत्तम है। धार्मिक स्थलोंमें ऐसे आश्रमोंकी निरंतर वृद्धिसे तीर्थोंका स्वरूप (बाह्य) बदलता जा रहा है।

इसलिये जब तक शुद्धचित्तवाले संत जनोंका संग प्राप्त न हो तब तक सदग्रन्थोंका आश्रय लेकर निरंतर भगवत्-भजनकी ओर बढ़ते रहना चाहिए तथा भगवानसे प्रार्थना करनी चाहिए कि प्रभु मुझे शुद्धचित्त संतोंका संग दिलायें ताकि मुझे आप तक पहुँचनेका सही मार्ग मिल सके। क्योंकि जिन्होंने साधन भजन किया है तथा जो पूर्णतः अपने इष्टके प्रति समर्पित हैं ऐसे संत जनोंका स्पर्श, संग, वचन तथा कृपासे ही भगवानकी भक्ति और प्रेम सहज ही प्राप्त हो जाती हैं—इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है।

लेखक द्वारा १९५७ में निरंतर तीन माह तक कृष्ण भगवानसे प्रार्थना की गयी थी तब श्रीराधाजीकी कृपासे १९५८ में परमाराध्यतम ॐविष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीके चरणकमलोंमें आश्रय प्राप्त हुआ अन्यथा मैं अवश्य ही असत् साधुओंका संग प्राप्त करता क्योंकि उन दिनों मुझे गुरू प्राप्त करनेकी बड़ी इच्छा थी। परन्तु श्रीराधाजीने ही मुझे श्रीकेशवजी गौड़ीय मठके संस्थापक परम भागवत रसज्ञ, भक्तितत्त्वविद् महान परम वैष्णवके चरणोंमें स्थान दिलाया। इस संयोगमें परमपूज्यपाद श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराजजीकी भी महती कृपा है, जिन्होंने मुझे सिद्ध संत गुरुके चरणों तक पहुँचाया। यहाँ इस घटनाका उल्लेख करनेका इतना ही उद्देश्य है कि यदि आपके हृदयमें सच्ची चाह है तो भगवान अवश्य प्रार्थना सुनते हैं। जितनी व्याकुलता तुम्हारे हृदयमें कृष्णसे मिलनेकी है, उससे कहीं अधिक व्याकुलता श्रीश्यामसुन्दरके हृदयमें भी साधकसे मिलनेकी रहती है। परन्तु साधक और कृष्णके मध्य मायाकी कठिन दीवार बाधक होती है, चित्त पर जन्म जन्मान्तरोंकी जमी धूल, विषयाक्ति साधकके कृष्ण-मिलनमें अवरोधक रहती है। परन्तु निरंतर साधुसंग, साधु-सेवा तथा कृष्ण नाम जप, साधनाके चित्तको निर्मल बनाकर, मायाका अवगुंठन हल्का होता चला जाता है। जीवके हृदयमें शुद्ध भक्ति एवं कृष्णप्रेमका उदय हो जाता है। यथा—

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचंद्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्त्तनम्।।

(श्रीमन्महाप्रभु शिक्षाष्टकम्)

अर्थात् यह चित्तरूपी दर्पणको मार्जित करनेवाला है। कोटि-कोटि जन्मोंसे विषय सेवनके फलस्वरूप जो गंदगी चित्तरूपी दर्पणपर जमा हो गयी है उसको श्रीकृष्ण नामका जप मार्जित करता है। आपके घरमें कोई दर्पण या वर्तन सैकड़ों वर्षोंसे पड़ा हुआ है।

उसपर धूलिकणों, जंग और काई आदिकी परतें जम गयी हो तो उस दर्पणमें आपका प्रतिबिम्ब दिखायी नहीं पड़ेगा। यदि किसी जूने (वर्तन साफ करनेकी रस्सी या कपड़ेका टुकड़ा) से निरन्तर साफ (घिसा) किया जाय तो उस उस दर्पण या वर्तन पर चिपकी हुई जंग, काई आदि छूट जायेगी तथा क्रमशः आपको अपना प्रतिबिम्ब दीखने लगेगा। उसी प्रकार यदि आप अपने चित्तमें श्रीश्यामसुन्दरकी सुन्दर छविका दर्शन करना चाहते है तो निरन्तर कृष्ण नामरूपी जूनेसे अपने चित्तरूपी दर्पणको घिसिये। यह कृष्ण नाम इतना शक्तिसम्पन्न है कि निरन्तर जपसे करोड़ों जन्मोंकी चित्तपर पड़ी धूल–धक्कड़, जाले जंग आदिको साफकर चित्तरूपी दर्पणको मार्जित कर देगा।

इसके अतिरिक्त यह कृष्ण नाम संसारके तापरूप महादावानलको बुझानेवाला है। जीव संसारके तापोंसे निरन्तर झुलस रहा है। इस तापको शान्त करनेका श्रीकृष्णनाम जपके अलावा अन्य कोई सहज साधन नहीं है। कृष्ण नामका निरन्तर निष्ठायुक्त जप चित्तशुद्धिके साथ–साथ संसारके महादावानलको भी बुझानेवाला है।

मंगलरूप कौमुदीके लिए ज्योत्सना वितरण करता है। आप जाानते हैं कि जब चन्द्रमा उदय होता है तो उसके प्रकाशका पुनीत स्पर्श पाकर कुमुदनी खिल जाती है। जिस प्रकार कुमुदनी चन्द्रमाके स्पर्शसे खिल जाती है, उसी प्रकार कृष्ण नामका स्पर्श पाकर जीवका हृदय खिल जाता है अर्थात् उसे जिस आनन्दकी खोज है उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति कृष्णनामके जपसे प्राप्त करनेके कारण उसका हृदय कुमुदनीकी भाँति खिल उठता है।

यह कृष्ण नाम विद्यारूप वधुके प्राणस्वरूप है। जिस प्रकार किसी दुल्हनका सर्वस्व उसका पति होता है, वह जब भी अपने पतिका स्पर्श पाती है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो प्राण लौट आये हैं। उसी प्रकार कृष्णनाम ही समस्त विद्याओंका सार है जिसके हृदयमें कृष्ण नाम है, रसनापर कृष्ण नाम है उसे किसी अन्य विद्याकी आवश्यकता नहीं है। यदि समस्त शास्त्रोंको घोट कर पी जानेपर भी कृष्ण नामके प्रति आसक्ति नहीं हुई, तो ऐसी विद्या निष्प्राण होती है। अतएव यह कृष्ण नाम ही विद्यारूपी वधूके प्राणस्वरूप हैं।

यह कृष्ण नाम आनन्द–समुद्रको वर्द्धित करनेवाला है। संसारमें जितने भी प्रकारके सुख हैं वे पूर्वार्द्धमें सुख या आनन्द जैसे भासते हैं परन्तु उनका उत्तरार्द्ध नर्कमय होकर परम दुःखको प्रदान करनेवाला है। परन्तु यह कृष्ण नाम आनन्दका समुद्र है। ऐसा समुद्र नहीं है जो अंतवाला है अर्थात् नाशवान नहीं है। यह कृष्ण नाम निरंतर आनन्दकी वृद्धि करता है। जिस प्रकार कृष्ण नित्य है, उनका प्रेमानन्द भी नित्य है। वह निरंतर वर्धित होता है। अतएव कृष्ण नामका निरंतर जप करनेसे संसारके समस्त शोकोंका अंत होकर निरंतर नित्य आनंदका वर्द्धन होता है।

यह कृष्ण नाम पूर्ण अमृतका प्रतिपदपर आस्वादन कराता है। अमृत स्वर्गमें भी मिलता है जिसे पीकर देवता अमृत्वको प्राप्त होते हैं। परन्तु स्वर्गका अमृत भी सदैवके लिये अमृत्व प्रदान नहीं करता क्योंकि वह तभी तब तक अमृत्व प्रदान करता है जब तक कि शुभ कार्य करनेवाले प्राणीके कार्योंका शुभत्व शेष है। पुण्य कर्मोंका क्षय होनेपर जीव पुनः मृत्यु लोकमें आ जाता है। यदि यह अमृत प्रदान करता तो जीव शुभ कर्मोंका फल भोग कर पुनः मृत्यु लोकमें नहीं आता। यथा—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मृत्यर्लोकं विशन्ति।

(गीता ९।२१)

अतएव कृष्ण नामका अमृत ही जीवको शाश्वत सुख, परमानन्द तथा प्रेमा भक्ति प्रदान करता है।

कृष्ण नामका विस्मरण होना ही सबसे बड़ा मरण है एवं इसकी निरंतर स्मृति ही जीवन है। वे मनुष्य अभागे हैं जिनका अनुराग श्रीकृष्ण नाममें नहीं हुआ है। ऐसे परम विजयी एवं सर्व उत्कर्षमय कृष्ण नाम संकीर्त्तनका आश्रय ग्रहणकर निरंतर कृष्ण प्रेमकी लालसासे युक्त होकर कृष्ण नाम जप करना चाहिए।

अतएव हमें दृढ़ताके साथ असत्संगसे बचना चाहिए। श्रील गुरुदेवने कृपापूर्वक जो भक्ति बीजका वपन किया है उसके अंकुरित होनेपर कुसंग उसे नष्ट तो नहीं कर सकता क्योंकि भक्त, भक्ति, भगवान और उनका नाम, धाम, लीला और परिकर नित्य हैं, परन्तु असत्संगके प्रभावसे साधक कुपथगामी होकर भक्तिमार्गसे च्युत हो सकता है।

अंतर्गतोऽपि वेदानां सर्व शास्त्रार्थ वैधपि।
यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विधात् पुरूषाधमम्।।

(गरुड़पुराण २३१।१७७)

अर्थात श्रीकृष्ण-भक्तोंको ऐसे कुसंगसे सदैव सावधान रहना चाहिए। सम्पूर्ण वेद-वेदांगोंका ज्ञान एवं अन्यान्य शास्त्रोंका ज्ञान होनेपर भी जो भगवान श्रीकृष्णका भजन नहीं करता, उसे अत्यंत नीच पुरुष मानकर उसका संग त्याग कर देना चाहिए।

ऐसे वेदज्ञ एवं शास्त्रज्ञ लोग केवल ज्ञानका भार वहन करते हैं तथा लोक प्रतिष्ठा अर्जन करना एवं नवसाधकोंको पथभ्रष्ट करना ही उनका ध्येय होता है। ऐसे लोग न तो स्वयं भजन करते हैं और न दूसरोंको ही करने देते हैं। अनेक प्रकारके पंथोंका निर्माणकर शुद्ध भक्ति मार्गसे साधकोंका ध्यान हटाते रहते हैं। साधककी नवीन श्रद्धा होती है तथा अनेक जन्मोंका अनर्थपुंज संचित रहनेसे उसकी श्रद्धा डगमगा सकती है।

संभवतः व्यासदेवजीने उक्त श्लोककी अवतारणा ऐसे ही गुरुओंसे सावधान रहनेके लिए की है, जो शास्त्रोंके ज्ञाता तो हैं परन्तु मायाके प्रभावसे या तो स्वयंको ब्रह्म समझते है अथवा गुप्त रूपसे योषित (स्त्री) संग एवं उनके संगियोंका संग करते हैं। स्त्रियोंके पक्षमें पुरुषोंका संग भक्तिविरोधी है। ऐसे अभक्त या कृष्ण-विद्वेषियोंका संग वर्जनीय है।

जहाँपर परस्पर हरिचर्चा चलती है, नाम संकीर्त्तन होता है, भक्तिके साधन अंगोंका पालन होता है, शुद्धचित्त संतोंका निवास होता है, जिस स्थलपर कृष्णनाम जप होता है, जहाँ कृष्णमंदिर होता है, तुलसीजीका पौधा दीपकके साथ होता है, वह स्थल कृष्ण प्रेम बढ़ानेवाला होता है। भगवान कृष्ण ऐसे स्थलोंपर स्वयं विराजमान रहते हैं।

यथा—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्तो यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारदः।।

अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण अपनी उपस्थितिके विषयमें स्पष्ट करते हैं कि हे नारद जी मैं योगियोंके हृदयमें भी नहीं रहता हूँ। योग मार्गपर चलनेवाले पंथोंकी ऐसी अवधारणा है कि भगवान योगस्वरूप होनेसे योगियोंके ही हृदयमें रहते हैं—परन्तु भगवानने स्पष्ट घोषणा की है कि मैं योगियोंके हृदयमें नही रहता हूँ क्योंकि निरंतर योगमार्गका अवलम्ब करनेसे योगियोंका हृदय कठोर हो जाता है, उनका हृदय शुष्क रहता है, उनके हृदयमें प्रेम नहीं होनेसे मैं उनके हृदयमें भी नही रहता हूँ। फिर कहते हैं कि इस विचारमें भी कोई सार नहीं है कि मैं वैकुण्ठमें ही रहता हूँ। यद्यपि वैकुण्ठ उनका नित्य लोक है तथापि वे वहाँ नहीं रह पाते हैं क्योंकि उनके भक्तोंकी प्रेमाभक्ति उनको वैकुण्ठमें रहने ही नहीं देती है। भक्तोंके भक्तिसे आकर्षित होकर वे भक्तोंके हृदयांगनमें ही अपना आसन जमाये रहते हैं। योगियों के योग (हृदय) में भी नहीं रहते हैं, वैकुण्ठमें भी नहीं रहते हैं तो आखिर रहते कहाँ है? फिर कहते हैं कि मेरे भक्त जहाँ मेरे लीलाचरित्रों,

नाम तथा धामकी परस्पर चर्चा (सत्संग) करते हैं, मैं वहाँ सदैव खड़ा रहता हूँ। इस प्रकार शुद्धचित्त भक्तोंके हृदय, क्रियाओं तथा स्थलोंपर ही भगवान कृष्ण विराजते हैं। सदैव ऐसे ही शुद्धचित्त कृष्ण भक्तोंके निरंतर संगसे श्रीगुरुदेव द्वारा हृदयमें बोया गया भक्ति बीज—अंकुरित, पोषित, पल्लवित तथा प्रेम भक्तिके रूपमें फलित होता है।

कुछ योगमार्गियोंका भ्रम है कि योग साधनासे ही भगवानको पाया जा सकता है। योग साधनके बल पर योगीलोक आम लोगोंके समक्ष कुछ अलौकिक चमत्कार दिखा कर उनके चित्तको भ्रममें डाल देते हैं परन्तु भगवानने उक्त श्लोकमें ऐसे चमत्कारियोंसे साधकोंको सावधान रहनेका संकेत किया है। ऐसा इसलिये कि भगवान परम स्वतंत्र है। उनको कोई बाँध नहीं सकता है। प्रेमीजनोंके ही पीछे–पीछे उनकी चरणरजकी आकांक्षासे चलते हैं। ऐसे प्रेमी भक्तोंके निरंतर संगसे हृदय शुद्ध होता है, कृष्ण नाममें आसक्ति उत्पन्न होती है। जन्म–जन्मके संचित विषय विकार नष्ट होकर श्याम रंगमें रंग जाता है। ऐसे शुद्धचित्त भक्तोंकी कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। एक विचार दृढ़ताके साथ समझ लीजिए जिनकी थोड़ी भी संसार आसक्ति शेष है वे सच्चे वैराग्यवान नहीं हो सकते। वे निकट भविष्यमें वैराग्य पथका परित्यागकर संसार बंधनमें फस जाते हैं तथा जिनको थोड़ीसी भी शुद्ध आसक्ति श्रीराधारानी तथा श्यामसुन्दरके चरणोंमें हैं वे अधिक समय तक संसारके विषय जालमें फसे नहीं रह सकते। उनके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न होकर उनका संसार बंधन क्षय होकर श्रीगुरु चरणोमें एकान्तिक वास हो जायेगा। साधकको निरंतर वैराग्यवान होकर कृष्णोन्मुख होना चाहिए।

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नभिनन्दति।
क्रुध्यते जाति नो हर्ष दर्शने पतनानि षट्।।

(स्कंद पुराण)

अर्थात् वैष्णवोंको मारना, उनकी निंदा करना, उनसे विद्वेष करना, उनका अभिनन्दन न करना, उनपर क्रोध करना तथा उनको देखकर प्रसन्न न होना ये छः भक्ति मार्गसे पतनके कारण होते हैं।

यद्यपि उक्त छः कारण वैष्णव अपराधके अंतर्गत आते हैं जिसका कि विस्तृत उल्लेख आगे किया जायेगा। यहाँ पर केवल असत्संगसे दूर रहने तथा कृष्ण भक्तोंके प्रति उक्त छः कारणोंको त्यागकर उनका संग तथा सेवा करना परमावश्यक है। अन्यथा भगवान कृष्ण अपने भक्तोंके प्रति किये गये अपराधको कभी क्षमा नहीं करते। एक बार वे अपने प्रति किये गये अपराध या भूलको क्षमा कर सकते हैं। परन्तु उनके भक्त, उनके लिए अपने प्राण, हृदय, भाव, तथा प्रेमसे भी ऊपर हैं। वे पूरी तरहसे अपने भक्तोंके तथा भक्त उनके लिये पूरी तरहसे उनके हैं।

(क्रमशः)

✪✪✪

निरन्तर कृष्ण–नाम करो अर्थात् दैहिक कार्योंको पूरा करनेके लिए जितने विश्राम की आवश्यता हो, उसके अतिरिक्त सब समय आर्त्त होकर कृष्ण–नाम लो। इससे नामापराध क्षय होता है। दूसरे किसी भी शुभ–कर्म या प्रायश्चित्तसे नामापराधका क्षय नहीं होता।

—श्रीहरिनाम–चिन्तामणि

श्रीव्रजमण्डल परिक्रमा—१९९८

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ

मथुरा—२८१००१.

५	अक्टूबर–सोमवार		श्रीशरदपूर्णिमा, श्रीगुरुदेवका विरह महोत्सव, केशीघाटपर परिक्रमाका संकल्प।
६	”	मंगलवार (प्रतिपदा)	कालीय दह, सनातन गो. भजनकुटी, श्रीमदनमोहन, दानगली।
७	”	बुधवार (द्वितीया)	सेवाकुञ्ज, राधादामोदर, इमलीतला, गोपीनाथ गौड़ीयमठ, शृंगारवट, निधुवन, श्रीराधारमण, गोकुलानन्द, श्रीश्यामसुन्दर।
८	”	बृहस्पतिवार (तृतीया)	श्रीगोपीनाथ, धीरसमीर, वंशीवट, गोपीश्वर, श्रीगोविन्दजी, बनखण्डी।
९	”	शुक्रवार (चतुर्थी)	वृन्दावन अवशिष्ट दर्शन।
१०	”	शनिवार (पंचमी)	वृन्दावनसे श्रीमधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन।
११	”	रविवार (षष्टि)	वृन्दावनमें विश्राम।
१२	”	सोमवार (सप्तमी)	भद्रवन, भाण्डीरवन, मानसरोवर, दाऊजी, ब्रह्माण्डघाट, महावन, रावलसे मथुरा।
१३	”	मंगलवार (अष्टमी)	विश्रामघाटमें संकल्प, पिपलेश्वर, रंगेश्वर, कंसटीला।
१४	”	बुधवार (नवमी)	पूज्यपाद श्रीधरमहाराजका आविर्भाव, भूतेश्वर, जन्मभूमि, आदिकेशव, दीर्घविष्णु।
१५	”	बृहस्पतिवार (दशमी)	पद्मनाभ, आदिवराह, द्वारकाधीश, शतघड़ा ।
१६	”	शुक्रवार (एकादशी)	मथुरा परिक्रमा।
१७	”	शनिवार (द्वादशी)	विश्राम।
१८	”	रविवार (त्रयोदशी)	मथुरासे पैंठा, चन्द्रसरोवरसे गोवर्धन, मोदीभवनमें वास।
१९	”	सोमवार (चतुर्दशी)	गोवर्धन परिक्रमा, दानघाटी, आन्यौर, गोविन्दकुण्ड पूछरी, जतीपुरा सुरभिकुण्ड, शामको मानसीगंगा, हरिदेव।
२०	”	मंगलवार (अमावस्या)	दीपावली, दानघाटीमें अन्नकूट।
२१	”	बुधवार (प्रतिपदा)	उद्धवकुण्डके समीप अन्नकूट महोत्सव, राधाकुण्ड परिक्रमा, कुसुमसरोवर, मानसीगंगा, हरिदेव।
२२	”	गुरुवार (द्वितीया)	भैयादूज, गोवर्धन, आदिबद्री होकर डीगमें विश्राम।
२३	”	शुक्रवार (तृतीया)	डीगसे काम्यवन, वृन्दादेवी, गोविन्दजी, कामेश्वर, पञ्चपाण्डव विमलाकुण्ड, पिछल पहाड़ी, व्योमासुर गुफा, भोजनथाली, चरण पहाड़ी, बरसानामें विश्राम।
२४	अक्टूबर–शनिवार (चतुर्थी)		श्रीभक्तिवेदान्त स्वामी महाराजका तिरोभाव।

२५	अक्टूबर रविवार (पंचमी)	गहवरवन परिक्रमा।
२६	" सोमवार (षष्ठि)	उँचागाँव, पीली पोखर।
२७	" मंगलवार (सप्तमी)	बरसानासे नन्दगाँव, मार्गमें प्रेमसरोवर, संकेत, उद्धवक्यारी, ललिताकुण्ड, नन्दभवन बरसाना।
२८	" बुधवार (अष्टमी)	गोपाष्टमी, बरसानासे चरण पहाड़ी, पावनसरोवर, टेरकदम्बसे बरसाना।
२९	" गुरुवार (नवमी)	बरसानासे कोकिलावन, जावट, बैठान, चरण पहाड़ी, कोसीमें विश्राम।
३०	" शुक्रवार (दशमी)	कोसीसे रामघाट, विहारवन, चीरघाट, वत्सवन, गरुड़गोविन्दसे वृन्दावन।
३१	अक्टूबर–शनिवार (एकादशी)	वृन्दावन परिक्रमा, श्रीगौर किशोदास बाबाजीका तिरोभाव।
१	नवम्बर–रविवार (द्वादशी)	विश्राम।
२	नवम्बर–सोमवार (त्रयोदशी)	बेलवन।
३	नवम्बर–मंगलवार (चतुर्दशी)	विश्राम एवं दर्शन।
४	नवम्बर–बुधवार (पूर्णिमा)	वैष्णव होम, उर्ज्जाव्रत समापन।

हरि बोल!

वैष्णव व्रत तालिका

१६	आश्विन ३	अक्टूबर शनिवार	श्रील रघुनाथदास गोस्वामी, श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी एवं रघुनाथभट्ट गोस्वामीजीका तिरोभाव।
१८	आश्विन ५	अक्टूबर सोमवार	शरद पूर्णिमा, श्रीकृष्णकी शारदीया रासलीला, कार्त्तिकव्रत, ऊर्जाव्रत, दामोदरव्रत, नियम सेवा प्रारम्भ, ***ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीका तिरोभाव।***
२३	आश्विन १०	अक्टूबर सोमवार	त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिकुशल नारसिंह महाराजजीका तिरोभाव।
२५	आश्विन १२	अक्टूबर सोमवार	श्रील नरोत्तम ठाकुरजीका तिरोभाव।
२९	आश्विन १६	अक्टूबर शुक्रवार रमा	एकादशी व्रत, अगले दिन ९–२७ के पहले पारण।
१	कार्त्तिक १९	अक्टूबर सोमवार	छोटी दीपावली।
२	कार्त्तिक २०	अक्टूबर मंगलवार अमावस्या	दीपावली।
३	कार्त्तिक २१	अक्टूबर बुधवार	अन्नकूट महोत्सव, गोवर्धन पूजा, गोपूजा, रायरामानन्दप्रभुका आविर्भाव।
४	कार्त्तिक २२	अक्टूबर रविवार	भ्रातृद्वितीया(भैया दूज) यमद्वितीया।
१०	कार्त्तिक २८	अक्टूबर बुधवार	गोपाष्टमी, श्रीनिवास आचार्य, श्रीधनञ्जय पण्डित, श्रीगदाधर पण्डितजीका तिरोभाव।
१३	कार्त्तिक ३१	अक्टूबर शनिवार	उत्थान एकादशी व्रत, श्रील गौरकिशोर दास बाबाजी महाराजजीका तिरोभाव, अगले दिन ९–२८ से पहले पारण।

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४२ } श्रीगौराब्द ५१२
विक्रम संवत् २०५५–५६ कार्तिक मास, सन् १९९८, ५ अक्टूबर —४ नवम्बर { संख्या ८

श्रीकार्त्तिक–व्रत–माहात्म्यम्

व्रतन्तु कार्त्तिक मासे यदा न कुरुते गृही।
इष्टापूर्त्तं वृथा तस्य यावदाहूतनारकी।।
इष्ट्वा च बहुभिर्यज्ञैः कृत्वा श्राद्धशतानि च।
स्वर्गं नाप्नोति विप्रेन्द्र अकृत्वा कार्त्तिके व्रतम्।।

यदि गृहस्थ व्यक्ति कार्त्तिकमासमें व्रतका आचरण नहीं करे तो उसका इष्टापूर्त्त (कुँआ–तालाब खुदवाना) अथवा यज्ञकर्म विफल हो जाता है। वह महाप्रलय तक नरकमें वास करता है।।

हे विप्रराज! जो कार्त्तिक मासमें व्रत न रखकर अनेक यज्ञ और सैकड़ों श्राद्ध करे तथापि वह स्वर्गको प्राप्त नहीं होता।।

यद्दत्तञ्च परं जप्तं कृतञ्च सुमहत्तपः।
सर्वं विफलतामेति अकृत्वा कार्त्तिके व्रतम्।।७।।

जो कुछ दान किया है, जो कुछ जप किया है और जो कुछ महान् तप किया है, कार्त्तिकमें नियमोंका पालन नहीं करनेसे सब कुछ व्यर्थ हो जाता है।।७।।

नियमेन बिना चैव यो नयेत् कार्त्तिकं मुने।
चातुर्मास्यं तथा चैव ब्रह्महा स कुलाधमः।।८।।

हे मुने! जो व्यक्ति 'कार्त्तिक मास' अथवा चातुर्मास्य व्रतका नियमपूर्वक पालन नहीं करता हे, वह कुलाङ्गार ब्रह्महत्याका भागी होता है।।८।।

न गृहे कार्त्तिके कुर्याद्विशेषेणतु कार्त्तिकम्।
तीर्थे तु कार्त्तिकीं कुर्यात् सर्वयत्नेन भाविनि।।९०।।

हे कामिनि! कार्त्तिक मासमें खासकर कार्त्तिक व्रतका पालन घर पर नहीं बल्कि यत्नपूर्वक तीर्थोंमें ही कार्त्तिक व्रतका पालन करना चाहिये।।९०।।

विष्णोः पूजा कथा विष्णोर्वैष्णवानाञ्च दर्शनम्।
न भवेत् कार्त्तिके यस्य हन्ति पुण्यं दशाब्दिकम्।।१४।।

कार्त्तिक मासमें जो विष्णुकी पूजा नहीं करता, हरि–कथा (का श्रवण और कीर्त्तन) नहीं करता तथा वैष्णवोंका दर्शन नहीं करता, उसके सब पुण्य नष्ट हो जोते हैं।।१४।।

मेरूतुल्यसुवर्णानि सर्वदानानि चैकतः।
एकतः कार्त्तिको वत्स सर्वदा केशवप्रियः।।१७।।

हे वत्स! एक ओर पर्वतके समान सुबर्ण और समस्त प्रकारके दान हैं तथा दूसरी ओर केशवका अत्यन्त प्रित्य कार्त्तिक मास है।।१७।।

न कार्त्तिकसमो मासो न कृतेन समं युगं।
न वेदसदृशं शास्त्रं न तीर्थं गङ्गया समम्।।२१।।

हे ब्रह्मन्! कार्त्तिक मासके समान कोई मास नहीं, सत्ययुगके समान युग नहीं, वेदोंके समान कोई शास्त्र नहीं और गङ्गाजीके समान कोई तीर्थ नहीं है।।२१।।

प्रवृत्तानाञ्च भक्ष्याणां कार्त्तिके नियमे कृते।
अवश्यं कृष्णरूपत्वं प्राप्यते मुक्तिदं शुभम्।।

जिन–जिन वस्तुओंका सब समय भोजन किया जाता है, कार्त्तिक मासमें यदि उसमें कुछ कमी कर दी जाय तो अवश्य ही परम मङ्गलमय श्रीकृष्णका सारूप्य लाभ किया जा सकता है।।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा मुनिसत्तम।
वियोनिं न व्रजत्येव व्रतं कृत्वा तु कार्त्तिके।।

हे मुनिवर! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र भी यदि कार्त्तिक–व्रत करे तो वह खराव योनि कभी नहीं प्राप्त कर सकता है।।

कार्त्तिके मुनिशार्दूल सशक्त्या वैष्णवं व्रतं।
यः करोति यथोक्तन्तु मुक्तिस्तस्यकरे स्थिता।।२६।।

हे मुनि–शार्दूल! जो कार्त्तिक मासमें उक्त वैष्णव व्रतका पलन करता है, मुक्ति उसके करतलगत हो जाती है।।२६।।

प्रदक्षिणाञ्च यः कुर्यात् कार्त्तिके विष्णुसद्मनि।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलभागी भवेन्नरः।।

जो मनुष्य कार्त्तिक मासमें विष्णुके मन्दिरकी प्रदक्षिणा करता है वह कदम–कदम पर अश्वमेघ यज्ञके फलका भगी होता है।।

गीतं वाद्यञ्च नृत्यञ्च कार्त्तिके पुरतो हरेः।
यः करोति नरो भक्त्या लभते चाक्षयं पदम्।।३२।।

जो कार्त्ति क मासमें हरिके आगे भक्तिपूर्वक गायन, वाद्य और नृत्य करता है वह अक्षय पद लाभ करता है।।३२।।

सर्वधर्म्मान् परित्यज्य कार्त्तिके केशवाग्रतः।
शास्त्रावतरणं पुण्यं श्रोतव्यञ्च महामुने।।३५।।

हे महामुने! समस्त धर्मोंका परित्याग कर कार्त्तिक मासमें भगवान् केशवके आगे पुण्यस्वरूप शास्त्रोंका पाठ श्रवण करना चाहिये।।३५।।

सर्वान् धर्मान् परित्यज्य इष्टापूर्त्तादिकान्नरः।
कार्त्तिके परया भक्त्या वैष्णवैः सह संवसेत्।।३७।।

इष्टापूर्त्त—कुँआ, तालाव आदि खुदवाना तथा यज्ञ आदि कर्मोंका परित्याग कर मनुष्यको कार्त्तिक मासमें परम भक्तिके साथ वैष्णवोंका सङ्ग करना चाहिये।।३७।।

यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं मुने।
अष्टादशपुराणानां कार्त्तिके फलमाप्नुयात्।।३६।।

हे मुनि! जो कार्त्तिक मासमें यत्नपूर्वक प्रतिदिन भागवतके श्लोकोंका पाठ करता है, उसे अठारहों पुराणोंके पाठका फल प्राप्त होता है।।३६।।

कार्त्तिके भूमिशायी यो ब्रह्मचारी हविष्यभुक्।
पलाशपत्रं भुञ्जानो दामोदरमथार्चयेत्।।
सः सर्वपातकं हित्वा वैकुण्ठे हरिसन्निधौ।
मोदते विष्णुसदृशो भजनानन्दनिर्वृतः।।३८।।

कार्त्तिक मासमें भूमिपर शयन करनेवाला,ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला तथा पलाशके पत्तोंपर हविश्य भोजन करनेवाला जो व्यक्ति श्रीदामोदरका अर्चन करता है, वह समस्त पापोंको त्यागकर विष्णुके समान हो जाता है तथा भजनानन्दमें निमग्न होकर वैकुण्ठमें श्रीहरिके निकट आनन्द भोग करता है।।३८।।

विष्णोः शिवस्य वा कुर्य्यादालये हरिजागरं।
कुदर्याश्वत्थमूले वा तुलसीनां बनेषु च।।
आपद्गतो यदाप्यम्भो न लभेत् सवनाय सः।
व्याधितो वा पुनः कुर्याद्विष्णोर्नामापमार्जनम्।।४३।।

विष्णु-मन्दिर, शिव-मन्दिर, या पीपलके वृक्षकी पड़में अथवा तुलसीके बनोंमें हरि-जागरण (रातमें जागरण) करें। यदि आफतमें पड़ा हुआ मनुष्य स्नानके लिये जल न पा सके अथवा रोगी हो तो भगवान्के नामसे ही अङ्गमार्जन कर ले।।४३।।

—श्रीहरिभक्तिविलासके सोलहवें विलाससे

निषिद्धाचार

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'

सम्यक् रूपसे गमन करनेका नाम 'आचार' है। सुष्ठ्रूपमें पवित्र आचरण करनेवालेको 'आचार्य' कहते हैं। जीवमें असम्पूर्ण-धर्म होता है। इसलिये उनका आचरण भी असम्पूर्ण होता है। कर्मियों और मुमुक्षुओंके आचरण खण्डित और आंशिक होनेके कारण सम्पूर्ण नहीं होते। यही कारण है कि उनका आचरण कभी भी पूर्णताको प्राप्त नहीं होता। परन्तु भक्ति-मार्गका अवलम्बन करनेवाले नित्यमुक्त भक्तवृन्द परमपूर्ण-पुरुष भगवान्की नित्य-सेवामें निरत रहते हैं, इसलिये उनके आचरणमें कहीं भी मलिनताकी गन्ध तक रहनेकी सम्भावना नहीं। जीवके स्वरूपगत नित्य-धर्ममें जो स्वाभाविक आचरण या

वृत्ति पाई जाती है, वही अपरिवर्त्तनीय आचार है। वही आचार नित्य आचार है, सिद्ध–आचार है।

सिद्ध और निषिद्ध आचारोंमें भेद

जो आचार सिद्ध पुरुषोंके आचारण योग्य नहीं होता, जो शील या आचार नश्वर या अनित्य होता है—उसे निषिद्धाचार कहते हैं। सिद्ध किसे कहते हैं—जिनकी पूर्णता पहलेसे ही लक्षित है, जिनके सब तरहके अभाव दूर हो चुके हैं, जो मायाके बन्धनसे मुक्त हो चुके हैं—वे सिद्ध हैं। जो असिद्धोंके आक्रमणसे अपने स्थानसे विचलित नहीं होते, जो अक्षर–धर्ममें अवस्थित होते हैं––वे सिद्ध हैं। असिद्ध व्यक्ति ऊपरसे नीचेकी ओर पतित होता है और पुनः नीचेसे ऊपरकी ओर चढ़नेकी योग्यता लाभ करता है। धीर, शान्त और अचंचल व्यक्ति कभी भी विपथगामी होकर बुरे और नीचे स्तरका आदर नहीं करते।

अभावसे पूर्ण दरिद्र व्यक्तिका संग करनेसे धनवान्का दरिद्र होना निश्चित है, मूर्खका संग करनेसे ज्ञानीका ज्ञान ह्रास होता है अर्थात् मूर्खता और जड़ताका अनुशीलन करनेसे अचित् पदार्थोंके संग प्रभावसे ज्ञानीको अज्ञानमें रुचि होने लगती है तथा उसका ज्ञान आच्छादित सा हो पड़ता है। किन्तु विशुद्ध ज्ञानमें अवस्थित होकर अज्ञ व्यक्तियोंकी अविद्या दूर करनेसे ज्ञानीका पतन नहीं होता।

जब ज्ञानी अबोध कर्मोंका संग करता है, तभी उसका ज्ञान आवृत होता है। तथा उसी समय उसके सिर पर अज्ञानका भूत सवार होता है। पुनः वैष्णव आचार्यका चरणाश्रय करने पर वही ज्ञानी ब्रह्मचारी होकर ब्रह्मज्ञ बन जाता है। योगसे भ्रष्ट होने पर ब्रह्मचारीका पतन होता है। भगवद्भक्त ही यथार्थमें यागी और ब्रह्मचारी है। ब्रह्ममें विचरण करते–करते गुरुसे विमुख होनेपर जीव मायिक–राज्यमें विचरण करना आरंम्भ करता है अर्थात् वैकुण्ठ सेवाको परित्याग कर स्वतःसिद्ध ज्ञानका अपव्यवहार कर अपनेको मायिक वस्तुओंका भोक्त अभिमान कर उनका भोग करने लगता है। यही ब्रह्मचर्यका परित्याग कर रजोगुण ग्रहण करना है। मायिक वस्तुओंका भोग करते–करते उसमें क्रमशःराजसिक प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठती हैं। तब आत्म–ज्ञानसे रहित होकर वह अनात्म मायाको ही ब्रह्म मानने लगता है। इसीको कहते हैं—विवर्त्त। विवर्त्तग्रस्त जीवको तमोमयी बुद्धि आश्रय कर उसे मायावादी बना देती है—जीवोंके लिये यही नित्य निषिद्धाचार है।

पतित योगी योगसे भ्रष्ट होनेपर ब्रह्मचर्यसे च्युत होकर मायाके राज्यमें भटकने लगता है। उस समय उसके लिये कृष्ण–संसार बहुत ही दूर पड़ जाता है। वह कृष्ण–संसारको मायाका संसार तथा अविद्याको पराविद्या एवं तमोमय संसारकी विशेषरहित प्रलयावस्थाको ही ब्रह्मकी नित्य स्थिति मानकर घोर मायावादमें प्रविष्ट हो जाता है। योगी अपने ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट होकर भूलसे मायाको ही ब्रह्म, विशेष–रहित अवस्थाको मुक्ति ओर नश्वर जगत्के विनाशको ही चिद्–वृत्ति मानता है। किन्तु जब उसे आत्म–तत्त्वका ज्ञान हो जाता है तथा जब वह जान लेता है कि वह (शुद्ध–आत्मा) भोगमय जड़ जगत्का पथिक नहीं है, तब अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर आत्माकी नित्य–वृत्ति—भक्तिमें नित्य प्रतिष्ठित हो जाता है। जिस योग विद्याका चरम उद्देश्य भक्ति नहीं होता, उसे कदापि आचार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वैसा योग नश्वर और अनित्य धर्ममें ही अवस्थित होता है।

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित प्रेम–धर्म ही शुद्धाचार है

मुक्त पुरुषोंका भक्तिमें अवस्थित होनेका अर्थ है—अमिश्र तथा विशुद्ध आत्माका परमात्म–भूमिकामें विचरण करना। शुद्ध जीवात्मा और परमात्माकी नित्य–वृत्ति—प्रेम अनेक नहीं, बल्कि अखण्ड और अद्वितीय होता है। भगवान्की ह्लाद–प्रवृत्तिका सार–अंश ही प्रेममयी श्रीमती राधिका हैं तथा उनके विचित्र लीला–विलाससे उत्पन्न विचित्रता या शाबल्य ही रासस्थली है। वही चित्र (विचित्रता) ब्रह्मज्ञ भक्ति–योगके चित्तको उन्मादित करनेवाला होता है।

उसीको प्राप्त करना ही सदाचार है। उस सदाचारको प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय, श्रीराधागोविन्दके मिलित तनु श्रीगौरसुन्दरने वैष्णव-ब्राह्मणके वेशमें प्रकाशित किया है, जिसे श्रीगौराङ्गदेवके प्रियजनोंने अपना सर्वस्व मानकर अपने अनुगत सम्प्रदायको सम्पत्तिके रूपमें प्रदान किया है। उस सम्पत्तिकी रक्षा करनेके लिये यदि किसीको रुचि होती है, तो वे गौरसुन्दरकी निषिद्धाचार सम्बन्धी वाणियोंको श्रवण करें, तथा उनकी वेणीरूप वाणीमें अवगाहन कर स्वरूपके चरणश्रित होकर अपनेको प्रतिष्ठानपुरके मध्यवर्ती गौड़का अधिवासी जानकर उनके प्रदर्शित सिद्ध आचारमें नित्यकाल अवस्थित होंवे।

निषिद्ध आचारका परित्याग करने पर जीव ब्रह्मचारी बन सकता है और ब्रह्मचारी होने पर ही अपराविद्याका अनुशीलन छोड़कर भगवानका सान्निध्य-योग प्राप्त कर सकता है। ऐसा होनेपर ही उसके हृदयमें स्वतःसिद्ध भक्ति-वृत्तिका उदय होता है। अन्यथा योग-भ्रष्ट होकर समावर्त्तनपूर्वक (गुरुके गृहसे लौटकर) सकाम ब्राह्मण-धर्ममें उसे अवस्थित होना पड़ता है। कहाँ अनन्त क्लेशपूर्ण नश्वर संसार से निकलकर कृष्णके चरण-कमलोंकी सेवारूप नित्य कल्याणकी प्राप्ति! और कहाँ भक्ति-पथसे गिरकर अनात्म धर्ममें स्थिति!! अर्थात् योग-भ्रष्ट होकर ब्रह्मचर्यसे अनादि पतनकी योग्यता!! गुरुके आश्रमसे लौट हुआ स्नातक जड़-भूमिको भोग करनेकी कामनासे क्षत्रिय, धन-सम्पत्तिकी कामनासे वैश्य और अभावग्रस्त दरिद्र, शूद्र आदि जीवनोंमें कितना कष्ट भोग करता है—जिसकी कोई सीमा नहीं।

निषिद्धाचार कैसे दूर हो?

किन्तु इतना क्लेश पानेपर भी बद्ध-जीव उन क्लेशोंको क्लेश न मानकर सुख ही मानते हैं। विषयोंका ध्यान करते-करते उनको हरि-सेवाकी बातें कतई भी अच्छी नहीं लगती। वे अनित्य निषिद्धाचारको ही सदाचार और सिद्धाचार मानते हैं। अतएव जब तक वैसे मनका दमन नहीं कर लिया जाय, तब तक जीवका नित्य-कल्याण होना असंभव है। अभावके राज्यमें—मायाके राज्यमें भटकनेवाले पथिकको निषिद्धाचार छोड़ना पहले-पहले बहुत ही कठिन लग सकता है, परन्तु सिद्धाचारमें यत्नपूर्वक अवस्थित हो जाने पर निषिद्धाचारके प्रति उसे स्वतः ही घृणा पैदा हो जाती है तथा वह अपने आप दूर हो जाता है। ❑

संग-त्याग

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

'उपदेशामृत' में श्रीरूप गोस्वामीने लिखा है कि उत्साह, निश्चय, धैर्य, अनुकूल कर्मोंका प्रवर्त्तन, संगत्याग और सद्वृत्ति (साधु जीवन और साधु प्रवृत्ति) से भक्तिकी उन्नति होती है। इनमें उत्साह, निश्चय,धैर्य और अनुकूल कर्मोंका प्रवर्त्तनके सम्बन्धमें पृथक् पृथक् लेख लिखे गये हैं। प्रस्तुत लेखमें संग-त्यागका तात्पर्य बतलाया जा रहा है।

कुसंगके भेद

संग दो प्रकारके होते हैं—संसर्ग और आसक्ति। संसर्ग दो प्रकारके होते हैं—अभक्त-संसर्ग और योषित्-(स्त्री) संसर्ग। आसक्ति भी दो प्रकारकी होती है अर्थात् संस्कारासक्ति और द्रव्यासक्ति। भक्ति साधकोंको इन सबका यत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए, अन्यथा ध्वंश अनिवार्य है। गीताका निम्नलिखित उपदेश सर्वदा स्मरण रखने योग्य है—

सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
कोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धि-नाशो बुद्धि-नाशात् प्रणश्यति।।

(गीता २।६२-६३)

साधक यदि निषिद्ध संग करता है, तो धीरे-धीरे

उसकी 'आसक्ति' बढ़ती जाती है। आसक्ति जितनी ही बढ़ती है, परमार्थ–निष्ठा उतनी ही क्षीण होती जाती है। तात्पर्य यह कि जीव चिन्मय पदार्थ है; किन्तु मायाके बन्धनमें पड़कर अपना स्वरूप भूल जाता है तथा अनित्य जड़ वस्तुओंमें 'मैं' और 'मेरा' का अभिमान करने लगता है। शुद्ध अवस्थामें जीवका मायाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वहाँ (चित् जगत्में) जीवका समस्त संसर्ग ही चिन्मय होता है। अतः उस अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषोंका नित्य संग ही वांछनीय है। मायाबद्ध अवस्थामें जीवोंका संग दूषित होता है। अभक्त–संसर्ग, योषित्–संसर्ग, संस्कारासक्ति और द्रव्यासक्ति रूप अविद्याका संग जीवोंके कल्याण–मार्गमें बाधक है। चित्–संग जीवोंका स्वजातीय–संग है। अचित्–संग जीवोंके लिये विजातीय संग है। विजातीय–संगसे मुक्त होना ही जीवोंकी मुक्ति है। नीचे विजातीय–संगका विवेचन किया जा रहा है।

अभक्त–संसर्ग (ज्ञानी अभक्त है)

हमें सबसे पहले यह विचार करना है कि अभक्त कौन है? अभक्त उन लोगोंको कहा जाता है, जो भगवान्के अनुगत नहीं होते अर्थात् विमुख होते हैं। ज्ञानवादी पुरुष भगवान्के अनुगत नहीं होते। उनका कहना है—'मैं ज्ञान प्राप्त कर भगवान्के बराबर हो जाऊँगा; मैं ही ब्रह्म हूँ, ज्ञान ही सर्वोत्तम वस्तु है। जो ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें भगवान् अपने अधीन नहीं रख सकते। ज्ञान के कारण ही भगवान्की ब्रह्मता सिद्ध है और ज्ञानके द्वारा मैं भी स्वयं ब्रह्म हो जाऊँगा।' अतः जहाँ स्वयं भगवान् बनने अथवा उनके बराबर होनेकी इच्छा बलबती होती है, वहाँ भगवान्की अधीनता कहाँ रही? ज्ञानियोंके सारे प्रयत्न भगवान्से स्वतन्त्र होनेके लिये ही होते हैं। यह तो हुई ब्रह्म–ज्ञानियोंकी बात; आत्मज्ञानी और प्राकृत ज्ञानी भी भगवत् कृपाकी अपेक्षा नहीं रखते। वे ज्ञान और युक्तिकी सहायतासे ही अपनी अभीष्ट वस्तु पानेकी चेष्टा करते हैं। वे भगवत्कृपा प्राप्त करनेके लिये कोई प्रयत्न नहीं करते। अतः समस्त प्रकारके ज्ञानी ही अभक्त श्रेणीमें आ जाते हैं। यद्यपि कोई–कोई ज्ञानी साधन–कालमें भक्तिपथका अबलम्बन करते हैं, तथापि वे सिद्धि–कालमें भक्तिका विसर्जन कर देते हैं। उनकी किसी भी क्रियामें नित्य–भक्ति अथवा ईशानुगत्यका एक भी लक्षण दिखलाई नहीं पड़ता। सभी प्रकारके ज्ञानियोंके सम्बन्धमें यही बात लागू है। वे यथार्थ–ज्ञान नहीं प्रत्युत् ज्ञानका आभास मात्र लाभ करते हैं। यथार्थ ज्ञान तो शुद्ध–भक्तिकी एक अवस्था है, जिसे शुद्धभक्त जन केवल भगवत्कृपासे अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें सनातन को महाप्रभुने उपदेश दिया है—

ज्ञानी जीवन्मुक्त–दशा पाइनु करि माने।
वस्तुतः बुद्धि शुद्ध नहे कृष्ण–भक्ति बिने।।

अतएव जो लोग ज्ञानवादके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं, उन्हें अभक्तकी श्रेणीमें रखा गया है। उनका प्रधान उद्देश्य 'मुक्ति' होता है। भगवत्सेवा द्वारा भगवत्कृपा लाभ करना उनके जीवनका उद्देश्य नहीं होता।

कर्मी भी अभक्त हैं

कर्मवादी लोग भी भक्त नहीं हैं, अतः अभक्त हैं। जो कर्म केवल भगवत्कृपाको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे किये जाते हैं, उन्हें भक्ति' कहते हैं। परन्तु जो कर्म, किसी पार्थिव वस्तु या फल अथवा बहिर्मुख ज्ञानको उद्देश्य करते हैं, वे 'भगवद्विमुख कर्म' हैं। कर्मीजन केवल कृष्णकृपाका ही अनुसंधान नहीं करते। यद्यपि वे कृष्णको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, तथापि उनका मूल उद्देश्य सांसारिक सुखोंको ही प्राप्त करना होता है। अपने सुखके उद्देश्यसे किये जाने वाले कर्म ही 'कर्म' कहलाते हैं। इसीलिये कर्मी—अभक्त हैं।

योगी, देव–देवीपूजक, नैयायिक, विषयी आदि सभी अभक्त हैं

योगीजन कहीं-कहीं ज्ञानका फल-मोक्ष और कर्म का फल—विभूति (ऐश्वर्य) मान कर ज्ञान अथवा कर्मका साधन करते हैं। अतः इनको भी अभक्त ही कहा जा सकता है।

अनेक देव-देवियोंकी पूजा करनेवाले भी अभक्त हैं, क्यों कि वे अनन्य शरणागत नहीं होते। जो केवल शुष्क 'न्याय' आदि विचारोंके प्रति श्रद्धालु होते हैं, वे भी भगवद्विमुख अभक्त हैं। जो लोग भगवान्‌को एक काल्पनिक तत्त्व मानते हैं, उनकी तो बात ही छोड़िये, जो विषयोंमें आशक्त होनेके कारण भगवान्‌को स्मरण करनेका अवकाश नहीं पाते, वे भी अभक्त ही हैं। इन सब प्रकारके अभक्तोंके संसर्गसे थोड़े ही समयमें बुद्धि नष्ट हो जाती है और अभक्तोंके सारे दुर्गुण संसर्ग करनेवाले व्यक्तियोंमें प्रवेश कर जाते हैं। यदि किसीको सचमुच ही भक्ति लाभ करना है, तो उसे अभक्त लोगोंका कुसंग अवश्य ही वर्जन करना होगा।

द्वितीय-संग—योषित्-संसर्ग (त्यागियोंके लिये)

योषित् (स्त्री) संसर्ग अत्यन्त हानिकारक होता है। श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसनातनको शिक्षा दी थी—

असत्-संग त्याग—एई वैष्णव आचार।
स्त्री-संगी—एक असाधु 'कृष्णाभक्त' आर।।

(चै. च. म. २२।८४)

वैष्णव दो प्रकारके होते हैं—गृहस्थ-वैष्णव और त्यागी वैष्णव। गृहत्यागीके लिये किसी भी स्त्रीसे संभाषण करना निषेध है। श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं--

क्षुद्र-जीव सब मर्कट वैराग्य करिया।
इन्द्रिय चराञा बुले 'प्रकृति'-संभाषिया।।

(चै०च०अ०२।१२०)

वैष्णवी स्त्रियोंके साथ उनका व्यवहार त्यागियोंके लिये आदर्श है—

पूर्ववत् कैल प्रभु सबार मिलन।
स्त्री-सब दूर हैते कैल प्रभु दर्शन।।

(चै. च. अ. १२।४२)

योषित-संग (गृहस्थों लिये)

गृहस्थ वैष्णवोंके सम्बन्धमें विधि—गृहस्थ व्यक्ति पराई स्त्री या वेश्याका संग न करेंगे। विवाहिता पत्नि के साथ शास्त्र-विधियोंका उल्लंघन कर किसी दूसरे प्रकारका संग न करेंगे। आसक्ति और स्त्रैणभावका सर्वथा परित्याग करेंगे। स्मार्तजनोंके प्रति शास्त्रोंका यह उपदेश है—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
तया हि सहितः सर्वान् पुरषार्थान् समश्नुते।।

गृहस्थके लिएं गृहिणी आवश्यक है। गृहस्थ पुरुष अपनी गृहिणीकी सहायतासे पुरुषार्थोंका साधन करेंगे। साधारण लोगोंके लिये पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। वर्णाश्रम सम्बन्धी शास्त्रोंमें जिसे विधि माना गया है, उसे धर्म कहते हैं। निषेधोंका नाम ही अधर्म है। गृहस्थ व्यक्ति गृहिणीकी सहायतासे शास्त्र विधियोंका आचरण और निषेधोंका परित्याग करेंगे। धर्मका आचरण करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसे 'अर्थ' कहते हैं। रुपया-पैसा, अन्नादि द्रव्य, पुत्र-कन्या, गो-पशु—यह सब अर्थ है। अर्थको भोग करनेकी कामना ही 'काम' है। अर्थ, धर्म, और काम—इन तीनोंकी समष्टिका नाम 'त्रिवर्ग' है। कर्म-चक्रमें भ्रमण करते हुए जीव त्रिवर्गकी प्राप्तिको ही अपने जीवनका चरम लक्ष्य मानते हैं। त्रिवर्ग ही इनके प्राण हैं। गृहिणीके साथ त्रिवर्गको प्राप्त करना ही स्मार्त-गृहस्थका कर्तव्य है। गृहस्थ व्यक्ति दिन-रात स्त्रीके साथ त्रिवर्गके लिये साधन करेंगे। तीर्थ-यात्रा आदि कार्योंमें गृहिणी साथ रह सकती हैं। मनुष्यके हृदयमें जबतक परमार्थके प्रति रुचि नहीं पैदा हो जाती तबतक त्रिवर्गके अतिरिक्त विशृद्ध-धर्मका साधन वह कैसे कर सकता है?

जीवोंका चतुर्थ पुरुषार्थ है—मोक्ष। मोक्ष दो प्रकारका होता है—पहला 'अत्यन्त दुःखकी निवृत्ति' जिसमें दुःखोंकी सम्पूर्ण रूपसे निवृत्ति हो जाती है और दूसरा 'चित्सुखकी प्राप्ति'—जिसमें दुःखोंकी पूर्ण निवृत्ति तो होती ही है, चित्सुखकी प्राप्ति भी होती

है। शुष्क ज्ञानियों या मायावादियोंका चरम उद्देश्य—'अत्यन्त–दुःख–निवृत्ति' और विशुद्ध ज्ञानियों अर्थात् भक्तोंका—'चित्–सुखकी प्राप्ति' होता है। वह भक्त चाहे गृहस्थ हो, अथवा गृह–त्यागी।

अपनी गृहिणीके साथ चित् सुखके गृहस्थ वैष्णव उद्देश्यसे ही साधन करेंगे। इस प्रकार समस्त कर्मोंको करके भी वह स्त्रैण नहीं है। ऐसे जीवनमें योषित् संगका दोष नहीं आ सकता। अवैध स्त्रीके साथ संभाषण और विवाहिता पत्नीके प्रति अपरमार्थिक स्त्रैण–भावका सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर देना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें गृहस्थ वैष्णवोंके पालनीय कर्तव्योंका निर्देश पाया जाता है—

धर्मस्य ह्यपवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो–लाभाय हि स्मृतः।।
कामस्य नेन्द्रिय प्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्व–जिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।।
अतः पुंभिर्द्विज–श्रेष्ठा वर्णाश्रम–विभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरि–तोषणम्।।
तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्त्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा।।

(श्रीमद्भा. ११।२०।९)

उपरोक्त श्लोकमें कर्माधिकारमें स्थित पुरुषोंके लिये त्रिवर्गको ही धर्म बतलाया गया है। जो कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त–होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे विरक्त होकर ज्ञानाधिकारमें प्रवेश कर गये हैं, उनके लिये कर्ममार्ग सम्बन्धी विधि–निषेध आवश्यक नहीं हैं। वे लोग कर्माधिकारकी सीमासे परे शुष्क ज्ञानगत संन्यासके अधिकारी हैं। जन्म–जन्मांतरोंमें उपार्जित राशि–राशि सुकृतिके बलसे भगवान्की कृपासे जिनकी भगवत् कथाके श्रवण और कीर्तनमें श्रद्धा होती है, वे कर्माधिकारसे ऊपर होते हैं। ऐसे पुरुष ही वैष्णव कहलोनके योग्य हैं। इनमें गृहस्थ वैष्णव धर्म–आचरण द्वारा जो कुछ अर्थ उपार्जन करते हैं, वह उनकी कामना पूर्तिके लिये नहीं—बल्कि भक्तिके अनुकूल पवित्र जीवन–यात्रके निर्वाहके साथ–साथ तत्त्व–जिज्ञासामें सहायक होता है। यहीं पर धर्म और परमार्थमें भेद है। गृहस्थ–वैष्णव जीवन–यात्राके निर्वाहके लिये वर्णाश्रमोचित धर्मका पालन करते हुए गृहिणीके साथ एकमात्र भगवत् कृपाको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन करेंगे। किन्तु जब उनका घर–बार उनके साधनके प्रतिकूल हो जाय, तब उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने पर वे घर–बार छोड़ देंगे।

त्रिवर्ग धर्मके लिये निर्धारित क्रियाओंका ठीक–ठीक आचरण करनेसे सहसा वैष्णवका चरित्र निर्मल हो जाता है। इस प्रकारके निर्मल चरित्रवाले वैष्णवजन अनन्य शरणागत होकर भगवानके नाम, रूप, गुण और लीलाका श्रद्धापूर्वक श्रवण, कीर्तन और स्मरण करेंगे। गृहणीके संगोगसे सर्वदा परमार्थके लिये साधन करना गृहस्थ वैष्णवोंका कर्तव्य है। गृहणीको भी पतिकी अनुगामिनी होकर कन्या आदि अन्य स्त्रियोंकी सहायतासे परमार्थका साधन करना उचित है। ऐसा होनेसे स्त्री–पुरुष दोनोंको परस्पर योषित–संगका दोष स्पर्श नहीं करेगा। अतएव क्या गृहस्थ, क्या गृह–त्यागी, सभी साधकोंके लिये योषित–संग अवश्य ही वर्जनीय है। भक्तजन विशेष यत्नपूर्वक ऐसे संसर्गोंसे दूर रहेंगे।

आसक्ति–रूप कुसंग और उसके भेद

अब आसक्तिरूप कुसंगका विचार किया जा रहा है। आसक्ति दो तरहकी होती है—संस्कारासक्ति और जड़ द्रव्यासक्ति। संस्कार दो तरहके होते हैं—प्राक्तन और आधुनिक। जीव मायाके बन्धनमें पड़कर अनादिकालसे जो ज्ञान और कर्मकी क्रियाएँ कर चूका है, उनके फल–स्वरूप जीवके लिङ्ग–शरीर पर जो संस्कार पैदा होता है, उसे 'प्राक्तन–संस्कार' कहते हैं इसी संस्कारको स्वभाव कहा जा सकता है। जैसे गीतामें कहा गया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल–संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।

(गीता ५।१४)

श्रीबलदेव विद्याभूषण इसे और भी स्पष्ट कर देते हैं—

"अनादि-प्रवृत्ता प्रधान-वासनात्र स्वभाव शब्दे-नोक्त-प्राधानिक-देहादिमान् जीवः कारयति कर्ता चेति न विविक्तस्य तत्त्वम्" इति—(श्रीबलदेव) भाष्यकारः पुनः (१८।६०)—

स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।

ज्ञान-संस्कारको गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें बन्धन माना गया है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयं।
सुख-सङ्गेन बध्नाति ज्ञान-सङ्गेन चानघ।।

श्रीबलदेव विद्याभूषण इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

"ज्ञान्यहं, सुखमम्,-इति अभिमानस्तेन पुरुषं निवध्नाति।"

इस प्रकार पूर्व जन्मोंके कर्म और ज्ञानकी क्रियाओंके अनुरूप संस्कार पैदा होता है। उसी संस्कारके अनुसार आसक्ति और आसक्तिके अनुसार मनुष्यको कर्म अथवा ज्ञान आदिमें रुचि पैदा होती है। पूर्वोक्त श्लोकमें यह दिखलाया गया है कि मायावादियोंका ज्ञान बन्धन ही है। ❑

शक्तिपूजा (दुर्गा-पूजा) का रहस्य

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज

'दुर्गा'-नामका कारण

'दुर्गा'—शब्दके अनेक अर्थ हैं। द+उ+र्+ग+आ=दुर्गा। 'द'-दैत्योंके विनाश अर्थमें, 'उ'—विघ्न-विनाशके अर्थमें, 'रेफ'-रोगोंके विनाशके अर्थमें, 'ग'-पापोंको नष्ट करनेके अर्थमें तथा 'आ-भय और शत्रुओंके विनाशके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'दुर्ग'—शब्दसे दुर्गम भवसागर और संकटका भी बोध होता है; इसलिए चण्डीमें दुर्गम भवसागरको पार करानेवाली नौका स्वरूप होनेके कारण अथवा संकटसे रक्षा करनेवाली होनेके कारण देवीको 'दुर्गा' कहा गया है—

'दुर्गासि दुर्ग— भवसागर—नौरसङ्गा।'

'दुर्गायै दुर्ग पारायै' 'दुर्ग'—नामक एक असुरका बध करनेके कारण भी इनको 'दुर्गा' कहा गया है। 'ब्रह्म-संहिता' में दुर्गाको भगवान्की स्वरूप-शक्तिकी छाया स्वरूपा माना गया है। यह छाया-शक्ति—दुर्गा भगवान्की प्रेरणासे इस प्रापञ्चिक जगत्की सृष्टि, पालन, एवं लय करती है।

'सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका,
छायेव यस्य भुवनानि विभर्त्ति दुर्गा।
इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा,
गोविन्दमादिपुरुषं तहमं भजामि।।

उनका कार्य

चतुर्दशभुवनात्मक जगत्की अधिष्ठात्री देवीका नाम 'दुर्गा' है। ये संसाररूप दुर्गकी रक्षयित्री हैं। भगवान्की स्वरूपशक्तिको अन्तरङ्गा शक्ति अथवा योगमाया भी कहते हैं। योगमायाका सम्बन्ध केवल अप्राकृत जगत्से है। ये भगवान्की लीलामें सहायता किया करती हैं। इसी योगमायाकी छाया अर्थात् उनके अंशको 'महामाया' कहते हैं। यह भगवान्की बहिरंगा-शक्ति हैं। महामायाका सम्बन्ध प्राकृत जगत्से है। ये भगवद्-विमुख जीवों द्वारा पूजित होती हैं तथा उन्हें सांसारिक विषय-भोग आदि अनित्य और तुच्छ सुखोंको प्रदान कर दुःख पूर्ण संसार-सागरमें डुबो देती हैं। जो लोग सत्संगका सेवन करते हुए एकमात्र भगवान्की ही शरण ग्रहण करते हैं, दुर्गादेवी उन्हें इस प्रापञ्चिक जगत्से मुक्तिका पथ बतलाती हैं। अन्यथा समस्त प्रकारके सकाम उपासकोंको अर्थ, धर्म और काम रूप त्रैवर्गिक सुख

प्रदानकर उन्हें वंचित ही करती रहती हैं। भगवान्‌की कृपाके बिना इस दुस्तरा मायाको पार करना असंभव है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

(गीता ७।१४)

[क] मार्कण्डेय पुराणमें (चण्डीमें) दुर्गा देवीकी उत्पत्तिकी एक बड़ी रोचक कथा है—महिषासुर ब्रह्मासे बर प्राप्त कर देवताओं पर भीषण अत्याचार करने लगा। दुःखी देवगण ब्रह्माजीको अगुवा बनाकर हरिहरके पास पहुँचे और रो-रोकर अपना दुखड़ा सुनाया। महिषासुरके अत्याचारोंकी बातें सुन कर हरिहर क्रोधसे काँपने लगे। इसी समय इनके मूखोंसे एक-एक अद्‌भुत महातेज निकले। साथ ही ब्रह्मा और वहाँ उपस्थित सभी देवताओंके शरीरोंसे भी एक-एक तेज निकले। क्षण भरमें वे सभी तेज एक साथ मिल गये और उसीसे सिंहवाहिनी दसभुजाओं वाली दुर्गादेवी प्रकटित हुई। विष्णुके तेजसे उनकी दोनों भुजाएँ और शिवके तेजसे उनका मुख मण्डल बना। सब देवताओंने अपना-अपना अस्त्र देवीको दान किया। उस महा विकराल वदनीके विकट हास्य और भैरव नादसे दिग-दिगंत काँप उठा। देव, गन्धर्व और मुनिजन देवीकी स्तुति कर महिषासुरके अत्याचारोंसे अपनी रक्षाके लिए प्रार्थना करने लगे। देवी उन्हें अभय प्रदान कर महिषासुरकी तरफ लपकी। घोर युद्ध मच गया। शत्रु दलका संहार करते-करते अन्तमें अपने भयंकर खड्गसे महिषासुरका सिर काट डाला। इस प्रकार देवीने असुरोंका ध्वंस कर देवताओंकी रक्षा की थी।

[ख] स्वारोचिष मन्वन्तरमें चैत्रवंशमें सुरथ नामक एक राजा थे। कालके प्रभावसे अपने शत्रुओं द्वारा पराजित होकर राज्य छोड़कर जंगलमें भागनेके लिये विवश हुए। वहाँ उन्होंने देवीकी आराधना की और उनकी कृपासे अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया।

[ग] उसी समय समाधि नामक एक धनी वैश्यको उसके कुटुम्बियोंने घरसे निकाल दिया। उसने भी देवीकी महिमा श्रवण कर उनकी आराधना की। और देवीने कृपाकर निराश-चित्त समाधि वैश्यको ज्ञान प्राप्त होनेका वरदान दिया था।

श्रीरामचन्द्र और दुर्गापूजा (?)

यों तो चैत्रशुक्ल-पक्षके प्रथम नौदिनों तक दुर्गा पूजन का समय है; किन्तु आधुनिक दुर्गापूजा आश्विन मासकी शुक्ला सप्तमीसे नवमी तक खूब समारोहके साथ बंगालमें मनायी जाती है। बंगालकी देखी-देखी आजकल सारे भारतमें भी इस आधुनिक पूजाका प्रचार हो गया है। बहुतों की धारणा है—श्रीरामचन्द्रजीने रावणपर विजय प्राप्त करनेके लिए शरतकालमें महामाया दुर्गादेवीका पूजन किया था और देवीकी कृपासे दशमीके दिन रावणको मारा था। इसीलिये आश्विन मासकी शुक्ला दशमीको विजया-दशमी कहते हैं। परन्तु उनकी यह धारणा सम्पूर्ण भ्रामक है। क्यों कि मूल बाल्मीकि रामायण, श्रीमद्‌भागवत, पद्मपुराण आदि किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थमें इसका कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। उक्त अर्वाचीन मतका प्रचार एक अत्यन्त आधुनिक और कल्पित उपपुराण—कालका-पुराणसे तथा कीर्तिवास नामक एक कट्टर शाक्तके स्वकपोलकल्पित बंगला रामायणसे उपर्युक्त मतकी असत्यता सम्पूर्णरूपेण प्रमाणित होती है।

श्रीरामचन्द्रजीको योग्य जानकर तथा प्रजाओंके अनुरोधसे महाराज दशरथ उन्हें युवराज बनानेकी घोषणा करते हैं—

'चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्य पुष्पित काननः।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्पताम्।।
श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः।।

(अयोध्या काण्ड सर्ग ३-४)

'इस श्रेष्ठ और पवित्र चैत्र मासमें जब कि वन-उपवन सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंसे बड़े ही मनोहर हो रहे हैं—श्रीरामचन्द्रका यौवराज्य-पद पर अभिषेक करनेकी तैयारियाँ कीजिए। कल (अगले दिन) पुष्या नक्षत्रमें ही उनका युवराज-पद पर अभिषेक किया

जायेगा।'

परन्तु होना तो कुछ और था, दूसरे दिन रामको १४ वर्षका वनवास मिलता है और वे वनमें चले भी जाते हैं। भरत उनको लौटा लानेके लिये वनमें जाते हैं, परन्तु श्रीरामचन्द्रकी दृढ़ता और सुयुक्तियोंसे वे अन्त तक श्रीरामकी पादुका मस्तक पर धारण कर अयोध्या लौटनेके लिये विवश होते हैं। किन्तु लौटते समय एक कठोर प्रतिज्ञा भी करते जाते हैं—'हे रघुनन्दन! मैं समस्त राज कार्यको आपकी खड़ाउओंको अर्पण कर राज्यका प्रबन्ध करता रहूँगा, परन्तु जिस दिन चौदहवाँ वर्ष पूरा होगा, उस दिन भी यदि आपको अयोध्यामें न देखा, तो मैं अग्निमें जल कर भस्म हो जाऊँगा।'

अस्तु, रामको चौदह वर्ष पूरे होनेके दिन ही अयोध्या लौटना निश्चित था। जिस दिन उनको युवराज बनना था, उसी दिन उनका वनवास आरम्भ हुआ था। अर्थात् चैत्र मासके शुक्लपक्षकी पुष्यानक्षत्रमें उनका वनवास हुआ था। अतः चैत्र मास में ही रावणका बधकर चैत्रमासमें ही वे अयोध्या लौटे थे—इसमें दो मत नहीं हो सकते। युद्धकाण्डसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि चैत्र कृष्णचतुर्दशीको युद्ध समाप्त हुआ था। युद्ध समाप्तिका तात्पर्य रावण बधसे है। रावणको मार कर, विभीषणका लङ्काके राज्यसिंहासन पर अभिषेक करके ही श्रीराचन्द्र चैत्रमासमें शुक्लपक्षकी पुष्या नक्षत्रमें अयोध्या लौटे थे। अतः रवण-बध चैत महीनेमें हुआ था, न कि आश्विन मासमें। दूसरी बात, बाल्मीकि रामायणमें श्रीराम द्वारा दुर्गा पूजाका कहीं भी कोई उल्लेख नहीं हैं। अतः श्रीरामचन्द्रके द्वारा आश्विन मासमें देवीकी पूजा तथा आश्विन मासकी शुक्ल-दशमीके दिन रावण-बधकी बात सम्पूर्ण असत्य, अप्रामाणिक और कपोल-कल्पित है। यह बङ्गालके शाक्तकवि 'कृतिवास' की देन है।

कृतिवास एक प्रधान शाक्तकवि थे। उन्होंने भोली-भाली अज्ञ जनतामें शाक्तमतका प्रचार करनेके उद्देश्यसे उनके अतिशय आदरणीय रामचरित्रको स्वकपोल-कल्पित भावोंके साँचेमें ढाल कर उनके सामने रखा। उन्होंने सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीरामके द्वारा उनकी त्रिगुणात्मिका माया—दुर्गादेवीका पूजन कराया है अर्थात् दूसरे रूपमें श्रीरामचन्द्रकी अपेक्षा भी दुर्गाकी श्रेष्ठता स्थापना करनेका प्रयत्न किया है।

महामाया—दुर्गा भगवान्की बहिरंगा शक्ति हैं। जीवोंको मोहित कर संसार कारागारमें आबद्ध करना ही उनका कार्य है। उनका यह कार्य भगवान्को अच्छा नही लगता—वे स्वयं इसे अनुभव करती हैं। इसीलिये वे भगवान्के सामने आनेमें भी लज्जा बोध करती हैं—

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थान्ते ममाहमिति दुर्धियः।।

(श्रीमद्भा० २।५।१३)

अतएव जो शक्ति भगवान्के सम्मुख आने तकमें भी लज्जा बोध करती है, उस शक्तिकी भगवान्के द्वारा पूजा कहाँ तक सम्भव हो सकती है? विशेषतः, दासी अपने स्वामीकी पूजा—स्त्री अपने पतिकी पूजा कैसे अङ्गीकार कर सकती हैं? अतः श्रीराम द्वारा दुर्गा-पूजाकी बात प्रामाणिक होना तो दूर रहे, युक्तिसङ्गत भी नहीं ठहरती।

चण्डीमें दुर्गाका स्वरूप

चण्डीमें शक्तिको खूब बढ़ा-चढ़ा कर दिखलाया गया है। परन्तु इन अतिशयोक्तियोंसे मायामुग्ध जीव ही भ्रान्त हो सकते हैं, यथार्थ सिद्धान्तविद् तत्त्वज्ञानी व्यक्ति इन वचनोंको 'छलना' ही मानते हैं। चण्डीमें ऐसा कहा गया है कि हरिहर आदि भी अज्ञानताकी अधिकताके कारण देवीको तत्त्वसे जाननेमें असमर्थ हैं—

'न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा।'

किन्तु किसी प्राचीन विद्वान्ने इस श्लोककी टीकामें 'हरि' शब्दका अर्थ 'इन्द्र' लिया है। दूसरी बात यह कि पद्मपुराण, नारदपञ्चरात्र आदि शास्त्रोंमें ऐसा देखा जाता है कि पार्वतीदेवी एक अज्ञानीकी

तरह महादेवसे तत्त्वकी जिज्ञासा कर निरन्तर श्रवण करती हैं। अतः जो शिव जगद्गुरु हैं—सम्पूर्ण वैष्णव जगत्के गुरु हैं, वे अपनी शक्तिके सम्बन्धमें अज्ञ है, यह कहाँ तक सम्भव है—विचारणीय है। इसका प्रकृत सिद्धान्त यही हो सकता है कि भगवान् व्यास देवने राजसिक स्वभाववाले जीवोंकी क्रमोन्नतिके लिये ऐसा लिखा है। उन्होंने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक स्वभाववाले त्रिविध प्रकारके लोगोंके कल्याणके लिये सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—त्रिविध प्रकारके पुराण लिखे हैं। सात्त्विक स्वभाव वाले व्यक्तियोंकी सात्त्विक पुराणोंके प्रति रुचि होना स्वाभाविक है। उसी प्रकार राजसिक स्वभाववालोंका राजसिक पुराणोंके प्रति तथा तामसिक स्वभाववालोंका तामसिक पुराणोंके प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक है। अतः राजसिक स्वभाव वाले व्यक्तियोंका राजसिक पुराणन्तर्गत चण्डीके प्रति श्रद्धालु होना स्वाभाविक ही है। गीतामें रजोगुणका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा सङ्ग समुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्म सङ्गेन देहिनाम्।।

(गीता १४।७)

रजोगुण—रागात्मक होता है। राग=अनुराग या आसक्ति। इसके प्रभावसे जीव इस शरीर और स्त्री, पुत्र तथा परिवारधनमें 'मैं और मेरा' की मिथ्या अभिमान करने लगता है। इस मिथ्या अभिमान और कर्तापनके अभिमानसे उसमें भोग वासना पैदा होती है। इसीलिए संसारी जीव महामायाकी पूजा कर उन्हें संतुष्ट कर—'रूपं देहि, जयं देहि, यसो देहि, द्विषो देहि, सौभाग्यं देहि, पत्नी मनोरमां देहि,—इत्यादि देहि–देहिका वरदान माँगता है; संसारसे मुक्त होनेका वर नहीं माँगता। मुक्ति माँगे भी तो कैसे? देवी तो सांसारिक सम्पदाएँ तक ही देती है। राजा सुरथने दुर्गाकी आराधना द्वारा अनित्य राज्य–सुख ही तो प्राप्त किया था। दुर्गाने किसीको मुक्ति प्रदान की हो—ऐसा कहीं नही सुना जाता।

त्रिगुणात्मिका मायाके अधीनस्थ जीव जागतिक विषय–भोग आदि अनित्य सुखोंकी ही कामना करता है। इसीलिए वह त्रिगुणात्मिका मायाके प्रति ही श्रद्धालु हुआ करता है। गीताके अनुसार त्रिगुणको पार करने पर ही जन्म–मरण जरा आदि दुःखोसे मुक्त होकर जीव अमृतका अधिकारी होता है। यही जीवोंके लिये चरम प्राप्य अर्थात् प्रयोजन है।

शक्ति–पूजा और ब्राह्मण

एक बात और भी विचारणीय हैः—चण्डीमें क्षत्रियों और वैश्योंके द्वारा ही दुर्गा–पूजाका विधान देखा जाता है। परन्तु ब्रह्मज्ञ व्यक्ति अर्थात् ब्राह्मण गण एक मात्र भगवान्की ही आराधना करेंगे। वे अन्यान्य देव–देवी, भूत–प्रेत पिशाच, यक्ष और गन्धर्वोकी आराधना पूजा नहीं करेंगे। इसका शास्त्रीय प्रमाण है—

'ब्राह्मणोऽपि मुनिर्ज्ञानी देवमन्यं न पूजयेत्।
मोहेन कुरुते यस्तु सद्यश्चाण्डालतां व्रजेत्।।
सदान्यदेवता भक्तिर्ब्राह्मणानां गरीयसी।
विदूरयति विप्रत्वं चाण्डालत्वं प्रयच्छति।।

(नारदीय पुराण)

तात्पर्य यह कि सतत् मननशील मुनि अथवा सत्–असत् विवेकयुक्त ब्राह्मण एक मात्र भगवान् श्रीहरिके अतिरिक्त अन्यान्य देव देवियोंकी पूजा न करेंगे। यदि मोहके वशमें होकर भी वे ऐसा करेंगे तो वे पुनः चाण्डालत्वको प्राप्त हो जायेंगे। अतः देवीपूजा अत्यन्त प्रशंसनीय होने पर भी ब्राह्मणोंके द्वारा करणीय नहीं है; क्योंकि इससे उनका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है और वह चाण्डाल हो पड़ता है।

केवल शक्ति द्वारा जगत्–सृष्टि असंभव है

कोई–कोई प्रकृतिको (दुर्गाको) सृष्टि–स्थिति और प्रलय आदि कार्योंका मूलकारण मानते हैं। परन्तु वेदान्त सूत्रमें इस मतका सम्पूर्ण रूपसे खण्डन किया गया है—'उत्पत्त्यासंभवात्' (२।२।४३) सूत्रकी, गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण महोदयने जो टीकाकी है, उसका तात्पर्य यह है कि शक्तिवाद वेदविरुद्ध मत है। क्योंकि केवल शक्ति द्वारा सृष्टि

आदि कार्य असंभव हैं। पुरुष-संसर्गके बिना अकेली स्त्री सन्तान उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। पुरुष द्वारा अनुगृहीत शक्ति संसारकी कर्त्री है—ऐसा कथन भी दोषसे रहित नहीं है। क्योंकि ब्रह्मसे ही जगत्की उत्पत्ति सुनी जाती है।

आधुनिक दुर्गा-पूजाका इतिहास

दुर्गा-पूजाका यथार्थ समय चैत्र मास है। परन्तु आधुनिक दुर्गा-पूजा आश्विन मासमें होती है, जो बंगालसे प्रचलित होकर सारे भारतमें फैल गयी है। इस आधुनिक दुर्गा पूजाकी एक कहानी है—मुगल सम्राटके राजत्वकालमें बंगालके राजशाही जिलाके अन्तर्गत ताहिरपुरके राजा कंसनारायण बंगालके सूबेदार और दीवान थे। एक बार उन्होंने बंगालके समस्त बड़े-बड़े स्मार्त पण्डितोंको बुलाकर उनसे कोई महायज्ञ करनेकी व्यवस्था देनेकी अनुमति माँगी। उस समय नाटोरके निकटवर्ती वासदेवपुरके श्रीरमेश शास्त्री राजपुरोहित थे। वे उस समय बंगाल और बिहारके सर्व-प्रधान पण्डित माने जाते थे। उन्होंने राजासे कहा—'विश्वजित, राजसूय, अश्वमेध और गोमेध—इन चार यज्ञोंको महायज्ञ कहा जाता है। विश्वजित और राजसूय यज्ञ करनेका यथार्थ अधिकारी सार्वभौम राजा है तथा अश्वमेध और गोमेध कलियुगमें निषिद्ध हैं। दूसरी बात यह है कि इन यज्ञोंको करनेका अधिकार केवलमात्र क्षत्रिय राजा को ही है। आप ब्राह्मण हैं। अतः इन यज्ञों का अनुष्ठान करना आपका कर्त्तव्य नहीं है। प्राचीन कालमें राजा सुरथने दुर्गादेवीकी आराधना करके अपना मनोवांक्षित फल प्राप्त किया था। इसलिए आप भी इस शरतकालमें ही दुर्गादेवीका पूजन करें। इससे आपकी मनोकामना—स्वर्गादि प्राप्तिकी कामना पूर्ण होगी।' तदनुसार राजाने सन् १५८० ई॰ में बहुतसा धन खर्चकर असमयमें ही—चैत्रमास के बदले आश्विन मासमें ही दुर्गाका पूजन किया। इसीलिए इसे 'अकाल बोधन' भी कहा जाता है धीरे-धीरे यह आधुनिकी दुर्गापूजा सारे बंगालमें और बंगालसे सारे भारतमें फैल गयी। इस आधुनिकी दुर्गापूजाके आदि प्रवर्त्तक रमेश शास्त्री है, इसे शास्त्रानुमोदित या प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। ❑

हे गुरुदेव! रक्षा करें

—डा. मधु खण्डेलवाल

परमाराध्यतम गुरुदेवके श्रीपूज्य चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम स्वीकार हो।

ब्रज-रसके रसिक भाई-बहनों,

एक बार एक हाथी जलमें डूब रहा था तभी दैवयोगसे श्रीकिशोर और किशोरीजू आकाशमें गरुड़ पर बैठकर जा रहे थे, श्रीश्यामसुन्दरने उसको देखा, उसके कर्म, पात्रता और प्रारब्ध को देखा। देखा-केवल उसकी जरा सी सूँड़ पानीके ऊपर थी। तभी किशोरीजू ने एक लीलाकमल उसकी रक्षाके लिए फेंक दिया। हम सबकी गति इसी हाथीके समान है—सब कुछ माया-मोह में डूब रहा है। हाथी की जो जरा सी सूँड डूबनेसे बच गई है—वही सत्संग की महिमा है। कृष्ण तो मात्र देखने का काम कर रहे हैं—जो मात्र देखेगात्र, वह दया क्या करेगा। किशोरीजूके द्वारा प्राक्षिप्त *हस्तकमल* ही डूबते का सहारा है—वह हस्तकमल क्या है सत्संग और सत्संगसे तात्पर्य है माया-मोहके आवरणसे रहित शुद्ध सत्त्व विशेष नाम जप-हे राधे राधे, हे गोविन्द गोविन्द। नाम जप किसी पुण्य-पुञ्ज का परिणाम नहीं है—यह तो रसिक संत का कृपाप्रसाद है। किशोरीजीके कमल फेंकनेका अभिप्राय है किसी अपने प्रिय पात्रको जगत् कल्याणार्थ धराधाम पर भेजना—श्रीगुरुदेव वेही कृपा पात्र हैं जो सम्पूर्ण जगत् को राधा-कृष्णमय बनानेके लिए कटिबद्ध है। इन श्रीराधाजी की महिमा का वर्णन

श्रीगुरुदेवके ही वश की बात है। वे अनन्त कोटि वैकुण्ठोंकी स्वामिनी हैं, स्वयं श्रीलक्ष्मीजी आपकी पूजा करती हैं तथा श्रीपार्वतीजी, इन्द्राणीजी और सरस्वतीजीने भी आपकी पूजाकर—आपसे वरदान पाये है। आपके श्रीचरणकमलों की एक अंगुलीके नखकी चन्द्रिका का ध्यान–मात्र करनेसे ही अपार सिद्धियोंका समूँह विद्युरित होने लगता है। वे सर्व्रश्वरी है, श्रीकृष्ण द्वारा आराधिता एवं उपास्या हैं, वे करुणा की निधान हैं।

वृन्दावनवासियों की तो बात ही क्या, वहाँके पात–पात, डाल–डाल भी राधा–राधा ही पुकारते हैं। जब श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती वृन्दावन महिमामृतम्के १० हजार–श्लोक लिख कर खड़े थे कि श्रीकृष्ण आए, बोले–कहो बाबा, क्या बात है। उत्तर मिला, तुम ठहरो, मैं तुमसे न कुछ पूछ रहा हूँ, न कुछ कर रहा हूँ—

'श्रीवृन्दावन धाम पट्टमहिषी राधैव संव्या मम।'
'राधानाम सुधारसं रसयितुं जिह्वास्तु मे विह्वला।'

सुन रहे हो, तुम्हारी भी जो स्वामिनी हैं, वही मेरी आराध्या हैं, उनके नाम रूप सुधारसास्वादन हेतु मेरी जिह्वा सदैव लालायित रहती है। श्रीकृष्ण स्तब्ध देखा, मेरे भक्तों की अदा। ये कुछ प्रसंग हैं जो श्रीमहारजजी की कृपा वृष्टिके अंश रूपमें उनके भक्तों को उपलब्ध होते रहते हैं।

मथुरा धामकी बैटी होनेसे मुझे ब्रजमंडलके रस–सिद्ध संतोका दर्शन और कृपा सहज रूपसे प्राप्त होती रही है। जब कभी भी इस कृपाका स्मरण होता है मेरी वाणी मूक हो जाती है, मन–प्राण स्तब्ध रह जाते हैं। जब स्वयं गुरुदेव मेरे सम्मुख होते हैं तो बस मुझे रोमांच सा ही होता रहता है, हृदय आनन्दसे ओतप्रोत हो जाता है। मैने श्रीमहाराजजीको सदैव अति विलक्षण रूप में देखा है। जब मथुरा–वृन्दावन में नगर संकीर्तन होता है तो आपको बड़ी भावपूर्ण मुद्रामें हरि बोल, हरि बोल का उच्चारण करते हुए ठुमका लगाते हुए देखा जा सकता है, जब कभी भागवत रसिक विद्वानों पर अनुगृह–वर्षण करना होता है, तो मथुरा–वृन्दावनके सभी भागवत मंथन प्रेमियोंको बुलवाकर भावी पूर्ण तत्त्वों पर विचार–गोष्ठी करा उनहें उचित मार्गदर्शन देते हैं। विदेशी भक्त सामने हों तो फर्राटेदार अँग्रेजी भाषामें उसकी जिज्ञासाओंको शान्त कर उन्हें भक्तिका वरदान प्रदान करते हैं। जो भी महाराजजीके थोड़े भी संपर्कमें आता है, उसे अलौकिक अनुभूतियाँ होने लगती हैं—

आध्यात्मिकता के उत्तुंग शिखस्पट
रसमयता के मुखारित निर्झर
धन्य हुआ जीवन हम सबका
हुए है कृत्कृत्य आपका दर्शन पाकर

मुझे मालुम है जितने भी दिन महाराजजी बाहर रहते हैं, ब्रज जैसे सूना हो जाता है। सदैव व्रजवासियों को संकीर्तनके आनन्दमें व्यस्त रखने वाले महाराजजीके बिना मैंने सभीको रोते देखा है। आज मांगलिक प्रथात है कि इतने सरस वातावरणमें श्रीमहाराजजीके दर्शन हम सबको हो रहे हैं। राधा परिकर संस्थाके प्रयास स्तुत्य है जिनके परिणामस्वरूप जगद्गुरू श्रीपूजयवर हम सबके मध्य विराजमान है। श्रीमहाराजजीके द्वारा कई पुस्तकों का रचयन, सम्पादन एवं अनुवाद हुआ है जो उनके भक्तिके विशुद्ध सिद्धान्त शुद्ध भक्तके लसम और माधुर्य रसकी सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन हुआ है। श्रीमहाराजजी द्वारा अनुदित और सम्पादित श्रीमद्भगवतगीता की टीका एवं श्रास्य अद्भुत है और वैष्णवजनोंके द्वारा घर–घरमें इसका स्वागत किया जा रहा है। जन–मन का कल्याण करने की भावनासे श्रीगौडीय वेदान्त समितिके तत्त्वाधानमें करीब २५ मठों का निर्माण हुआ है, जो विशाल, भव्य, सुविधापरक एवं भक्तिके उत्स हैं। विदेशोंमें भी कई आश्रय श्रीमहाराजजी की प्रेरणासे शुद्ध

सिद्धान्तोंके प्रचार-प्रसारके लिए बनाए जा रहे हैं।

श्रीमहाराजजी का अन्तःकरण अति सरस और सरल हैं। उनके नेत्रों की तेजस्विता और मुस्कान की अर्जस्विता सम्पूर्ण पाप-तापों का, तनावों का, तर्को-कुतर्को का विनाश कर असीम और स्थायी आनन्द प्रदान करती है। श्रीदेव भगवत्तच्व ज्ञान और व्रजभक्ति ऐसे सागर हैं, जिसका ओर-छोर नहीं है—अद्‌भुत विलक्षण, विचक्षण कोटिके संत हैं आप दिन-रात अलांकिक रस-माधुरी में डूबे हुए होने पर भी इन्हें बच्चों जैसी मधुरताके साथ छेड़छाड़ करते भी देखा जा सकता है। इनका हृदय सदैव राधा-कृष्ण की माधुर्य एवं महाभावमयी लीलाओं से विभाजित रहता है। वे सुप्त आन्तरिक अध्यात्मिक अनुभूतियों को क्षण-मात्रमें जाग्रत कर देते हैं—क्षणिक रूपमें नहीं, स्थायी रूपसे हमेंह राधाजीका ही बना देते हैं। श्रीमती राधाजीका परम अद्‌भुत महाभाव ही श्रीदिव्यपुरुषका प्राणस्वरूप है। मुझे तो यह समाप्त श्रीराधाजीकी अनुकम्पा ही प्रतीत होती है कि वे अपने रस-कलशकी कतिपय बूँदें बड़ी उदारताके साथ हमहक पर उड़ेलनेके लिए पधारे हैं।

ॐ विष्णुपाद, श्री श्रीमद्‌भक्ति-प्रज्ञान, आचार्य गौडीय केसरी, केशव गोस्वामी महाराजके परम प्रियतम शिष्य श्रीगुरुवर श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके निर्भीक प्रचारक हैं। श्रीराधा-भाव कान्ति सुवलित श्रीचैतन्य महाप्रभूकेह वे विशेष कृपास्पद हैं।

चार-पाँच वर्ष पूर्व श्रीमहाराजजी अपने सन्यास गुरुभाई संन्यास श्रीभक्ति वेदान्त स्वामी महाराज द्वारा संस्थापित इस्कॉन-हरेकृष्ण मन्दिर जुहूमें भक्तगणोंके विशेष आग्रह पर ठहर जाते थे—पर जब कभी भी रसयात्रा निकालनेसे, भगवान् की लीलाओं को अपनी इच्छानुसार कमर्थियाल बना देनेसे महाराजजीने इस संस्थाका परित्याग कर दिया—विदेशोंमें जाने पर उनके कई शिष्योंने महाराजश्रीका आनुगत्य प्राप्त कर लिया है। पर जो सिद्धान्तों की गूढ़ता नहीं समझते उनको ये सब बातें प्रकाशित नहीं होती।

वन्दऊँ गुरु पद पदुम परागा
सुरुचि सुवास सरस अनुरागा

यदि हम यह चाहें कि जीवन रूपी कमल खिलता रहे, सदैव पुलकित रहे तो महाराजजी द्वारा दिया गया तत्वज्ञान विशुद्ध भक्ति पथका सूर्य बन जाता है। यदि हम यह इच्छा करें कि मस्तिष्कसे सब कुंठाऐं, अशान्ति, तर्क-वितर्कका संझावात निर्मूल हो जाय तो श्रीदेवके चरणों की धूल चन्दन बन जाती है और यदि यह अभिलाषा हो कि हृदयमें श्रीराधा-कृष्ण सदैव अति प्रेमके साथ नृत्य करें तो महाराजजी की कलित-ललित वाणी की झंकार घुंघरूओंका काम करती है। श्रीगुरुदेव भगवत् कृपा की साक्षात् मूर्ति है। वे भक्त-मालके वे सुमेरू हैं जहाँ श्रीप्रिया प्रियत्तम सदैव आरूढ़ रहते हैं।

तत् धाम वृन्दावनं—रम्या काचिदुपासना व्रजवधूगर्वेण या कल्पिता—व्रजवधुओं द्वारा सम्पादित जो विलक्षण उपासना है—उसी उपासनाके आराधक और पथ-प्रदर्शक श्रीगुरुदेव हैं। एक अनुपम, कालजयी, विराट व्यक्तित्व—न भूतो न भविष्यति।

अन्तमें, हे गुरुदेव! उपस्थित सकल जन समुदाय की ओरसे आपके चरणोंमें प्रगति करती हूँ कि अन्तः प्राणोंका सिंचन करते हुए हृदय-भूमि को ऐसा उपजाऊ बनादे कि श्रीराधा-कृष्णके प्रेमके मन्दार विकसित हो सकें और उसकी सुगन्धसे सम्पूर्ण चित्र-मन-प्राण-देश सुवासित और प्रकाशित हो जाएँ। श्रीराधाजी हमारे हृदयमें इस तरह आसीन हो जाएँ कि हम मात्र आज ही नहीं हमेशा-हमेशा अपने हृदयमें उन्हें लाड़-लड़ाते रहे-बधाई गाते रहें।

वांछा कल्पतरू श्यश्च कृपा सिन्धुश्य एव च।
पतितानां पावनेश्यो वैष्णवेश्यों नमो नमः।।

श्रीगुरुकृपाभिलाषिणी
—डा॰ मधु खण्डेलवाल

कलियुगमें श्रीकृष्ण नाम जप साधना

—डा॰ सत्यपाल गोयल

कर्मफल, फल भोगके पश्चात् नष्ट हो जाता है क्योंकि उसकी नियति नष्ट होनेमें ही है। उसका जागतिक भोगोंसे अधिक संबन्ध है। भक्ति राज्यमें इसीलिये कर्म काण्डी सिद्धान्तोंको प्रश्रय नहीं दिया गया है। यद्यपि जीव कर्म किये बिना नहीं रह सकता है—ऐसा गीतामें भगवान श्रीकृष्णने कहा है, क्योंकि जब तक शरीर (मानव योनि में) है तब तक शास्त्रीय कर्मतो अवश्य करना पड़ेगा। परन्तु जब कर्म वासनाके अधीन किया जाता है तो वह भोगने वालेका कर्म बन जाता है और जब इस भावके साथ किया जाता है कि मैं तो कर्ता हूँ ही नहीं क्योंकि मैं ब्रह्म हूँ तो वह अहंकार होकर ब्रह्मवादी विचार धाराका पोषण करता है, जो अंततः नर्क का ही हेतु है। परन्तु जब कोई कर्म भगवानके अपर्ण करके किया जाता है तो वह निष्कामभाव होकर, भक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। श्रीभगवानने श्रीगीताजीमें स्थापित किया है। परन्तु सुकृति किसी संत महात्मा की अनायास सेवा, मंदिर की परिक्रमा तथा भगवत् प्रसादका सेवन, आदिके सम्पन्न होने पर होती है।

कर्मके फल की भांति सुकृतिका फल नष्ट नहीं होता है, अपितु सुकृत्ति का फल तो केवल भक्ति प्रदान करता है, इसीलिये पूर्व कथित श्लोकमें सुकृति पूर्व संचितैः कहा गया है। अतएव सावधानी पूर्वक निरंतर साधुसंग, तुलसी सेवा, श्रीविग्रह परिक्रमा, भागवत श्रवण, आदि की परम आवश्यकता है ताकि इनकी कृपासे श्रीकृष्ण नाम जपमें निरन्तर निष्ठा, लगन तथा प्रीति उत्पन्न हो। यूँ तो जीव का नित्य धर्म ही कृष्ण दासत्व है, उसे उक्त सुकृतियोंके द्वारा जाग्रत भर करना है अर्थात् मन की वृन्ति को कृष्णमय करना है। यद्यपि मन भी नाशवान तत्व है तथापि उसका आत्माका अत्यन्त समीपका संम्बन्ध है यथा मूंगफलीके दाने पर चिपका हुआ लाल छिलका।

कभी–कभी गुरु वैष्णवों तथा भगवान की कृपासे भी विशुद्ध भक्तोंका संग प्राप्त हो जाता है। भगवान कृष्ण जिसे वरण करना चाहते हैं उस पर किसी भी प्रकार कृपा कर सकते हैं। वे कृपा करने, न करनेके लिये परम स्वतंत्र हैं, परन्तु अपने भक्तोंके अधीन हो जाते हैं। उनके लिये वे अपनी स्वतंत्रता भी उन भक्तोंके यहाँ गिरवी रख देते हैं, अपनी प्रतिज्ञा भी भंग कर देते हैं तथा अपना मान–सम्मान तक भी ताक पर उठाकर रख देते हैं—यह उनकी अपनी स्वतंत्रता है। उन्हें ऐसा करनेके लिये किसी भी शास्त्र और सिद्धांतसे बाध्य नहीं किया जा सकता।

अत आत्यंतिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघा।
संसारेअस्मिन क्षणार्धोऽपि सत्संग सेवधिर्नृणाम्।।

(श्रीमद्भागवत ११।२।३०)

अर्थात् है विशुद्ध चित्त महात्माओ! हम लोग यह जानना चाहते हैं कि परम कल्याण क्या है? इस संसारमें आधे क्षणका सत्संग भी मनुष्योंके लिये परम निधि है।

मनुष्योंके लिये परम कल्याण क्या है, यह कैसे प्राप्त हो सकता है? इसका समाधान सत्संगसे ही हो सकता है। सत्संग वह जूना (वर्तन साफ करने की रस्सी की बनी पिण्डी) है जिससे निरंतर हृदयकी मैल (गंदगी) साफ होती रहती है। मन शुद्ध होता रहता है। जन्म जन्मांतरोंसे विषय वासनाओंमें लिप्त मनको, कृष्ण नाम तथा हरिकथामें सहज में ही

प्रीति नहीं होती है। प्रारम्भमें इस ओर समय देनेकी इच्छा नहीं रहती है, संसारके विषय भोगोंके संग्रह और भोग जितने रुचिकर लगते हैं, उतना कृष्ण नाम और हरिकथा प्रियकर नहीं लगती है। परन्तु निरंतर साधुसंग और हरिकथा श्रवणसे पापवृत्ति नष्ट होने लगती है तथा मन और हृदय दोनों हरि कथा हरिकथा श्रवण तथा कृष्ण नामके प्रति क्रमशः आकृष्ट होने लगते हैं। यह साधुसंग भी बिना भगवानकी कृपाके नहीं मिलता—

बिनु हरि कृपा मिले नहि संता
अब मोहि भा भरोस हनुमंता

(सुन्दरकाण्ड रामचरितमानस)

प्रत्येक प्राणी अपना हित साधन चाहता है। आनन्द चाहता है। सुख चाहता है। खुशी चाहता है। उसका परम हित किसमें है, इसका ज्ञान उसे भक्ति रस रसिक शुद्ध चित्त वैष्णव जनोंके संग में ही मिल सकता है। जिनके हृदयमें निरंतर श्रीकृष्ण नृत्य करते है, जिन्हें उनकी लीलाओंका भावमय प्रत्यक्षीकरण होता है, जो निरंतर गोपी भावसे भावित रहते है जिनके एक मात्र परमधन श्रीयुगलकिशोर हैं, जिनके नेत्रोंसे कृष्ण प्रेमकी मस्ती झलकती है, रसना पर निरन्तर कृष्ण नामका कीर्त्तन होता रहता है—ऐसे भक्तोंके संगसे ही जीवका परम कल्याण हो सकता है परन्तु कुछ विषय लोलुप लोग भक्तका वेष धारणकर स्वंय को कृष्ण मानकर स्त्रियोंके साथ विषय तृप्ति करते हैं उनसे सावधान रहने की आवश्यकता है। सरल चित्त जीव (मनुष्य) जिन्होंने न सत्संग किया हो और न शास्त्र श्रवण किया हो—ऐसे जीव सहजिया लोगोंके कपट पूर्ण बातोंमें फंसकर सही मार्गसे भटक सकते हैं।

पारस पत्थर तो अपने स्पर्शसे लौह धातुको स्वर्ण बना सकता है, लोहे को पारस नहीं—परन्तु अहैतुकी कृपा युक्त सद्गुरु वैष्णव एवं संतजन अपने सम्पर्कमें आने वाले जीव (मनुष्य) को भी संत बना देते हैं, यहाँ उनका औदार्य है। परम वैष्णव, बलरामजीके अवतार निताईजीने जगाई मधाई जैसे पाप कर्मियोंको भी परम संत बना दिया—यह क्या संतों की कृपा का कम प्रमाण है।

दुराचारियोंके क्षण मात्रके कुसंगसे यदि मनुष्योंके हृदयमें भोग वासनाएं बलवती हो जाती है तो संतोंके मिलनसे मनुष्योंकी भोग वासनाओंका अंत होकर श्रीकृष्णके चरणोंमें विशुद्ध भक्तिका उदय क्यों नहीं होगा। यही जीवका परम हित है, यही एकमात्र साध्य भी है। यदि निरतंर साधुसंग करने पर भी हृदयमें कृष्ण भक्तिका उदय नहीं हो रहा हो तो निश्चय ही किसी असाधु का संग हो रहा है, क्योंकि शुद्धचित्त कृष्ण भक्तका मिलन अतीव दुर्लभ है परन्तु असंभव नहीं है। आज भी वृन्दावन, मथुरा, बरसाना, नंदगांव, गोवर्धन, राधाकुण्ड, नवद्वीप, अयोध्या, चित्रकूट आदि स्थलों पर शुद्धचित्त कृष्ण एवं राम भक्तोंका अभाव नहीं है परन्तु उन्हें पहचान पाना कठिन है। क्योंकि वे चमत्कारके चक्करमें नहीं रहते हैं अपितु वे अपनेको छिपाकर रखते हैं वे लोक संग्रहसे दूर रहते हैं, सहज और सरल उनकी वेष भूषा होती है, उनकी वाणीमें कृष्ण प्रेम, हृदयमें कृष्ण रूप, रसना पर कृष्ण नाम रहता है तथा संग्रह परिग्रह की भावनासे रहित अयाचित वृत्तिसे भजनशील रहते हैं।

श्रीमद्भागवतमें कृष्ण प्रेमियोंकी सुदुर्लभताके विषयमें कुछ इस प्रकार कहा गया है—

रजोभिः सम संख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः।
तेषां ये केचने हन्तेश्रेयो वै मनुजादयः।।
प्रायो मुमुक्षुवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तमः।
मुमुक्षुणां सहस्त्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यतिः।।
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः।
सुदुर्ल्लभः प्रशन्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।

(श्रीमद्भागवत ६।१४।३-५)

अर्थात् पृथ्वीके धूल कणोंके समान ही इस

संसारमें अनन्त प्राणी हैं उनमेंसे कुछ श्रेष्ठ जीव ही अपने कल्याणका प्रयास करते हैं। उन कल्याण चाहने वालोंमें से भी विरले ही संसारके आवागमनसे मुक्त होनेकी इच्छा रखते हैं। ऐसे करोड़ों मुक्ति चाहने वालोंमें से कोई एक ही मुक्ति संबंधी सिद्धि प्राप्त कर पाता है। उन करोड़ो सिद्ध और मुक्त जीवोंमेंसे कोई एक कृष्ण परायण मिलना सुदुर्लभ है।

उक्त स्थिति दर्शाती है कि शुद्ध चित्त कृष्ण परायण सिद्ध भक्त करोड़ोंमें एक होता है। अनेकों पंथोने जो जीवों को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं, अनेक प्रकारके आकर्षक नारे, भगवानसे मिलानेके वायदे देने वालोंने धर्मकी ओर मुड़ने वाले मनुष्योंको भ्रमित कर दिया है। आज तो साधुका वेष धारण किये हुए अनेकों साधु (स्वनामधन्य भगवान) मिलते हैं जो संसारसे मुक्त करानेका पासपोर्ट अपने पास रखते हैं। चार अक्षर अंग्रेजीके पढ़कर, धर्म प्रचारके लिये सीधे विदेशोंको पलायन करते हैं। ऐसा लगता है भारतमें या तो सभी लोग धर्म सम्मत आचरण करने लगे हैं तथा धर्म प्रचारका क्षेत्र सीमित रह गया है। मूल रूपसे विदेशियोंको धर्मका अर्थ समझाना उद्देश्य गौण है तथा करोड़ो रुपये की सम्पदा अर्जित कर बड़े–बड़े आश्रयोंका निर्माण कर उनमें आधुनिक विलास सामग्री जुटाना प्रधान उद्देश्य रहता है। भारतका कोई ऐसा पंथ या सम्प्रदाय नहीं बचा है जिनके प्रचारकोंने अधिकसे अधिक शिष्य बनाकर सम्पत्ति अर्जन करनेके उद्देश्यसे शुद्ध भक्ति सिद्धांतोंको तोड़ मरोड़ कर विदेशियोंके सामने परिवेशन न किया हो। फलस्वरूप वे दिग्भ्रमित हो गये है।

महिला शिष्योंका तांता लगा रहता है। महाप्रभू चैतन्य देवके आदर्श की भी निरंतर उपेक्षा कर रहे हैं। महाप्रभुजीने छोटे हरिदासजीको ६० वर्षकी वृद्ध महिलासे चावल मांग कर लाने पर उन्हें त्याग दिया था क्योंकि वे संन्यासियोंके स्त्रियोंसे वार्तालाप, सम्पर्क, स्पर्शके विरुद्ध थे परन्तु आजके संन्यासियों का विचार है कि महिलाओंसे सम्पर्क करना स्थूल दृष्टिसे अहितकर है, स्वरूपसे वह भी श्रीकृष्णका अंश है तथा कृष्ण दासी है। अतएव उनको भी भक्ति मार्गमें लानेके लिये संन्यासी अपनी स्थूल और सूक्ष्म इंद्रियों पर नियंत्रण कर, उनके सम्पर्कमें आना दोष युक्त नहीं मानते। उनका मानना है कि छोटे हरिदासका माधवी दीदीसे चावल लाना दोष युक्त नहीं था अपितु उनका महिलाओंके प्रति कोई आकर्षण शेष था जिसे महाप्रभूजीने समझ लिया था। इसलिए उन्हें दण्ड दिया। हमारा उद्देश्य तो उन्हें कृष्ण भजनमें लगाना है। इस पिष्टपेषनके फलस्वरूप आज तो संन्यासियोंका महिलाओंसे ही अधिक सम्पर्क है। संभव है वे महाप्रभुसे और आगे निकल गये हों तथा उन्होंने अपनी इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो। मैं (लेखक) नहीं समझता हूँ कि इन विलासिता सामग्रियोंसे सज्जित आश्रमोंमें भक्ति भाव हो। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे स्त्रियों की मांसलताका नेत्रोंसे तो विषय सेवन होता रहता है। काम पर विजय प्राप्त करने वाले शिव भी, विष्णुके मोहिनी रूपको देखने मात्रसे काम मोहित होकर उनके पीछे–पीछे भागने लगे थे। संभव है आजके साधु संन्यासी शिवजीसे भी अधिक कामजयी हो गये हों तथा महाप्रभु चैतन्य देवसे अधिक चितंनशील हों।

हमारे आश्रमसे भी ॐ विष्णुपाद त्रिदण्डि स्वामी नारायण महाराजजी विदेशोंमें फर्म प्रचार हेतु जा रहे है किन्तु उनका विदेश गमन विदेशी कृष्ण भक्तोंके परमाग्रह पर ही है। उनका उद्देश्य किसी प्रकारका लोक संग्रह अथवा धन संग्रह करना नहीं है अपितु जो दोषपूर्ण सिद्धांत हीन प्रचार अन्य पंथ या सम्प्रदाय वालों द्वारा किया जा रहा है उसको समाप्तकर शुद्ध भक्ति तत्वका प्रचार कर लोगों

को कृष्ण अनुरागी बनाना है जो नितांत प्रयोजनीय है। अतएव शुद्ध चित्त कृष्ण भक्तोंका संग करनेसे अपना अन्तर्मन शुद्ध होकर कृष्ण प्रेम हृदयमें स्फूर्त होने लगता है।

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे–
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्संगभो यर्हि तदैव संङ्गतौ
परवरेशे त्वयि जायते रतिः।।

(श्रीमद्भागवत १०।५१।१३)

अर्थात् जीव अनादिकालसे जन्म मृत्युरूप संसारके आवागमनके चक्करमें भटक रहा है। जब उसका इस आवागमनसे छूटने का समय आता है तब उसे सत्संग प्राप्त होता है जिसक्षण उसे यह सत्संग मिलता है निश्चय ही उसी क्षण संतोंके आश्रय श्रीकृष्णमें, जीव की बुद्धि अत्यंत निष्ठाके साथ लग जाती है।

भागवत् भक्तिरस शास्त्र है इसमें जो भी लिखा है वह अंशतः परिक्षित तथा जीवका हित साधन करने वाला है। जिन लोगों को सदगुरु पदाश्रय मिल गया है उन पर अवश्य ही भगवान कृष्ण प्रसन्न हैं तभी तो भक्ति राज्यमें प्रवेश अधिकार देनेके लिये उन्होंने सदगुरु का पदाश्रय दिलाया। परन्तु सावधान, जहाँ तड़क-भड़क ज्यादा है वहाँ अप्रत्यक्ष रूपसे विषय सेवन ही अधिक हो रहा है। हमें उन संतोंका संग करना चाहिए जो रूपानुग भक्ति मार्ग पर चल रहे हैं जिनका रूप, सनातन तथा रघुनाथ दास गोस्वामी जैसा उत्कट वैराग्य है तथा युक्त वैराग्यवान होकर कृष्ण भजनमें लगे हुए हैं। जिनका एकमात्र प्रयोजन कृष्ण प्रेम है। कृष्ण नाम ही अभिधेय है तथा कृष्णसे ही उनका संबन्ध है। धन संग्रह और विशालकाय मठ मंदिरोंका निर्माण और लाखों शिष्य बनानेका प्रयास नहीं है। श्रील ॐ विष्णुपाद जगन्नाथ दास बाबाजी महाराज बड़े-बड़े अखाड़ों और आश्रमोंके निर्माणके विरुद्ध थे क्योंकि इनमें संयोजन और व्यवस्थामें ही जीवनका अधिकांश समय निकल जाता है। किसी व्यापारी की भांति निरंतर वैभव वृद्धिका लक्ष्य बना रहता है। कालांतरमें शिष्यके रूपमें अनेक दुष्ट व्यक्ति घुस आते हैं तथा पूर्वार्जित वैभवका विषय लोलुप की भांति उपयोग करते हैं। ऐसा नहीं है कि सभी आश्रमोंमें ऐसा हो रहा है परन्तु जहाँ विषय, स्त्रियाँ तथा ध***नका जमाव अबाध गतिसे बढ़ रहा है, वहाँ जुड़नेमें सावधान रहना परम आवश्यक है।***

वरं हुतवहज्वाला पञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः
न शौरि चितां विमुख जन संवास वैशसम्
(श्रीहरि भक्ति विलास १०।२२४)

अर्थात् चाहे आगमें जल मरूं अथवा पिजड़ेमें हमेशाके लिये बंद रहूँ तो भी कृष्ण चिंतासे रहित विमुख लोगोंका मैं संग नहीं चाहता।

कहने का तात्पर्य यह है कि असत् लोगोंका संग कितना भयंकर होता है। मात्र गेरू वस्त्र धारण कर लेनेसे कोई शुद्ध साधु नहीं होता है और विलास सामग्रीके मध्यमें रहने वाला भी विषयासक्त हो, आवश्यक नहीं है। उसका उन्नत भाव अभिप्रेत है। श्रीमान् रायरामानन्दजी विलास वैभवके मध्य रहकर अंदरसे विरक्त थे, कृष्ण प्रेमसे उनका हृदय ओतप्रोत था—महाप्रभुजीने उनको भक्ति राज्यमें अत्यंत उच्च स्थान दिया। परन्तु जो केवल धन, स्त्री, शिष्योंके संग्रहमें ही लिप्त है उनके संगकी अपेक्षा आगमें जलकर प्राणोंका उत्सर्ग कर देना कहीं उत्तम है क्योंकि इससे दुष्कर्मो की ओर तो प्रवृत्ति नहीं होगी। ❑

(क्रमशः)

मनुष्यका कर्त्तव्य

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्ल्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूल्येन नभस्वतेरितं
पुमान भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।।
(भाः ११।२०।१७)

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीसे कहा हैः—

"मानव देह समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है। यह अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गयी है। इस संसार सागरसे पार जानेके लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। श्रीगुरुदेव इसके पतवारको सञ्चालन करनेवाले कर्णधार हैं तथा मैं अनुकूल वायुके रूपमें उसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार–सागरसे पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्माका हनन—अधःपतन कर रहा है।

श्रीमद्भागवतके उपयुक्त श्लोकके अनुसार हम जान पाते हैं कि मनुष्य शरीरसे ही जीव परम गति प्राप्त कर सकता हैं और यह जन्म थोड़े पुण्यसे नहीं मिलता अधिकन्तु यह जीवन दुर्लभ है। दूसरे प्राणियोंके साथ मनुष्यका आहार, निद्रा, भय और मैथुन—इन चार विषयोंमें समानता है। केवल धर्मज्ञान ही उसे दूसरे प्राणियोंसे पृथक करता है। अतः शास्त्रकारोंने धर्मज्ञान हीन पुरुषोंको पशु बतलाया है।

अब जिज्ञासा हो सकती है कि धर्म क्या है? धर्मका साधारण अर्थ है धारण करना—"ध्रियते धर्म इत्याहु स एव परमो मतः।" अच्छा क्या है? बुरा क्या है? पाप किसे कहते हैं? पुण्य किसे कहते हैं? ये सब बातें धर्म ही हमें सिखलाता है। धर्म पशु पक्षी सभीके होते हैं, परन्तु धर्मज्ञान केवल मनुष्यमें होता है। सभी कालोंमें, सभी देशोंमें, सभी जातियोंके लिये मनुष्यमात्रका धर्म एक होता है। वह हिन्दु, मुसलमान और ईसाइयोंके लिये पृथक्–पृथक् नहीं होता। फिर संसारमें इतने धर्म सम्प्रदाय क्यों देखे जाते हैं? इनके मतोंमें परस्पर भेद क्या है? उत्तर यह है कि जीवका त्रिविध शरीर होता है—(१)स्थूल शरीर (२)सूक्ष्मशरीर (३)आत्मशरीर। इन त्रिविध शरीरोंके अनुसार उसके धर्म त्रिविध होते हैं—(१)स्थूल शरीरभूत धर्म (२)सूक्ष्मशरीरभूत धर्म (३)आत्मशरीरभूत धर्म, स्वरूप–धर्म या सनातन धर्म। जीव भगवान् श्रीकृष्णका सनातन अंश है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्वयं कहा है—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।" श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दविग्रह हैं। अतः जीव इनका अंशभूत होनेके कारण सच्चिदानन्दमय है। भगवान् विभु चिदानन्द हैं, पर जीव अणु चिदानन्द है भगवान् विभु या बृहत्तम वस्तु और जीव अणु या क्षुद्र होनेके कारण इनमें परस्पर स्वामी–सेवक भाव नित्यसिद्ध होता है। आचार्य श्रीशङ्कर भगवद्भक्त साक्षात् शङ्करजीके अवतार थे। भगवान्का आदेश पालन करना ही उनका धर्म है। इसलिये उन्होंने भगवान्की आज्ञासे प्रच्छन्न बौद्धवादका प्रचार किया। किन्तु प्रच्छन्नबौद्धवाद उनका अन्तर्निहित विचार नहीं है। बाह्यतः प्रच्छन्न बौद्धवाद या मायावाद प्रचार करनेपर भी उन्होंने अपना आन्तरिक विचार इस प्रकार व्यक्त किया है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।।
(षट् पदी–स्तोत्रम्)

"अर्थात् हे नाथ! मुझमें और तुममें वस्तुगत भेद न होनेपर भी मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो, क्योंकि (समुद्र और तरङ्गमें भेद न होनेपर भी)

समुद्रका अंश तरङ्ग होता है, तरङ्गका अंश समुद्र कदापि नहीं होता।"

उपर्युक्त श्लोकमें "मैं तुम्हारा हूँ, किन्तु तुम मेरे नहीं हो, " इसका तात्पर्य यह है कि मैं भगवानके अधीन अर्थात् दास हूँ, किन्तु भगवान् मेरे अधीन नहीं हैं, क्योंकि वे स्वामी हैं। किन्तु शङ्करके अनुयायी लोग श्रीशङ्करके मायावादसे—जिसका आचार्य शङ्कर ने भगवत् आदेशसे प्रचार किया था—मोहित होकर इस उक्त श्लोकके तात्पर्य को समझनेमें असमर्थ हैं।

उपर्युक्त शास्त्र प्रमाणसे भी यही सिद्ध हुआ कि कृष्णदास्य ही जीवका स्वरूप धर्म है। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने तो श्रीचैतन्य चरितामृतमें जोरदार और स्पष्ट शब्दोंमें लिख डाला है—

"जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।"

और श्रीमद्भागवतमें इसी स्वरूप धर्मके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति।।

(भा. १।२।६)

"अर्थात् मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें श्रवण आदि लक्षणोंसे युक्त भक्ति हो—जिस भक्तिमें किसी प्रकारकी कामना न हो तथा जो ऐकान्तिकी, स्वाभाविक और निरपेक्ष हो। ऐसी भक्तिसे अनर्थ दूर होकर आत्मा प्रसन्नता लाभ करती है।"

इस स्वरूपधर्मके अतिरिक्त जीवके स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंका भी धर्म होता है। साधारण पुण्य कर्म, नर-सेवा (जनता रूपी जनार्दनकी सेवा?), विभूति सिद्धि तथा मनुष्योचित गुणोंकी वृद्धि—आदि धर्म, जो अनेक सम्प्रदायोंमें देखे जाते हैं, वे सभी स्थूल या सूक्ष्म शरीरके धर्म हैं, क्योंकि इनके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है। दृष्टान्तसे इस विषयको इस प्रकार समझाया जा सकता है—सभी पदार्थोंका अपना अपना एक स्वभाव होता है, वही स्वभाव उस पदार्थका धर्म है। जैसे जलका स्वभाव है—तरलता और निम्नगामी। अतएव यही उसका स्वरूप धर्म है। किन्तु जब जल अधिक ठण्डके कारण जमकर बर्फ हो जाता है तब उसका स्वभाव या धर्म भी बदल जाता है तथा निम्नगामी नहीं रह जाता है, बल्कि स्थिर हो जाता है। यह जलका स्वरूप धर्म नहीं है, नैमित्तिक धर्म है। क्योंकि ठण्ड रूप निमत्तसे यह बदला हुआ धर्म है। उसी प्रकार जीवस्वरूपतः कृष्णका दास होनेके कारण 'कृष्णदास्य' ही उसका स्वरूप धर्म है। मायासे स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर मैं आत्मबुद्धि हो जानेके कारण जीव अपने स्वरूप धर्मसे विच्युत हो जाता है, तब स्थूल और सूक्ष्म शरीरके जो नैमित्तिक धर्म हैं, उन्हींको अपना धर्म समझ बैठता है। इस तरह वह मायाके दलदलमें फँसकर कभी सुख, कभी दुःख, कभी स्वर्ग और कभी नरकमें भटकता फिरता है। ऐसे समयमें सौभाग्यवश (अज्ञात सुकृतिसे) यदि साधु सङ्ग मिल जाता है तो साधु सङ्गके प्रभावसे उसे अपना स्वरूप ज्ञान हो जाता है और उसे कृष्णभक्तिपर—जो जीवमात्रका स्वरूप धर्म है—श्रद्धा हो जाती है। उस भक्तिके अनुष्ठानसे वह क्रमशः भगवत्-प्रेम लाभकर परमशान्ति प्राप्त करता है। इस स्वरूप-धर्मको दूसरे शब्दोंमें जैवधर्म, वैष्णव धर्म, या सनातन धर्म कहते हैं।

कृष्ण-भक्ति कोई मतवाद या साम्प्रदायिक भावना नहीं है। जो सबको अपनी ओर आकर्षण करता है तथा आनन्द देता है, वही 'कृष्ण' है। कौन सबको अपनी ओर खींचते हुए आनन्द दे सकता है?—जो सत् है तथा स्वयं आनन्दरूप है वही ऐसाकर सकता है—वह परब्रह्म है, तथाहि—

कृषिर्भू वाचकः णश्च निर्वृतिवाचकः
तयोरैक्यं परं ब्रह्म इत्यभिधीयते।।

(म. भा. उ. प. ७१अ. ४र्थ श्लोक)

"अर्थात्—'कृष्' धातु 'भू' अर्थात सत्तावाचक है। जिसका कभी नाश नहीं होता, जो तीनों कालोंमें रहता है, उसे सत् वस्तु कहते हैं। 'सत्ता' शब्दसे

उसे ही समझना चाहिए। वही पर-ब्रह्म है। श्रुति भी कहती है—"सदेव सौम्य आसीत"। 'ण'-शब्द निवृत्ति या आनन्दवाचक है। ब्रह्म ही आनन्दरूप है। श्रुतिका कहना है—"आनन्द ब्राह्मणो विद्वान् नविभेति कदाचन।"

इस प्रकार 'कृष्' धातुमें 'ण' प्रत्यय करनेसे दोनों मिलकर 'कृष्ण' ही पर-ब्रह्म सिद्ध हुए। अतः जीवमात्रको कृष्ण भक्तिका ही अनुष्ठान करना चाहिए। ❑

प्रचार-प्रसङ्ग

महानगरी दिल्ली, मुम्बई तथा जयपुरमें शुद्ध भक्तिका प्रचार विदेश यात्रासे लौटते ही महानगरी दिल्लीके श्रद्धालू नगरवासियोंने श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति सहसभापति एवं सम्पादक श्री श्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण महाराजजीसे दिल्लीके हरिनगर, मानसरोवर गार्डन, पहाड़गञ्ज, राजेन्द्र नगर आदि स्थानोंमें शुद्धि भक्तिका प्रचार करनेके लिए पुनः-पुनः अनुरोध किया। श्रील महाराजजी तदनुसार. .....श्रीमान शुभानन्द ब्रह्मचारी, श्रीनवीनकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी, श्रीवक्रेश्वरदास ब्रह्मचारी, श्रीकृष्णकांति ब्रह्मचारी, श्रीद्विजकृष्णदास ब्रह्मचारी, श्रीराधामाधव ब्रह्मचारी, श्रीधीरकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीब्रजनाथ ब्रजवासी, श्रीराधानाथ दास ब्रह्मचारी आदिके साथ सर्वप्रथम राजौरी गार्डनमें उपस्थित हुए। वहाँकी धर्मसभामें शुद्धभक्तिका स्वरूप तथा उसमें प्रवेश करनेके लिए साधकोंके कर्तव्यके सम्बन्धमें एक दिन प्रवचन करनेके पश्चात् हरिनगर सनातन धर्म मन्दिरमें लगातार सबेरे एवं शाम वहाँके विशाल सभाग्रहमें सनातन धर्मका स्वरूप, श्रीचैतन्य महाप्रभू द्वारा आचरित एवं प्रचारित विशुद्ध भक्ति, हरिनामकी महत्ता, सत्सङ्गकी महिमा आदि विषयों पर श्री श्रीमहाराजजीके, श्रीशुभानंद ब्रह्मचारी भागवतभूषण, नवीनकृष्ण विद्यालंकार तथा श्रीरामचन्द्र दासाधिकारी आदिके आजस्विनी पाठ एवं प्रवचन हुए। प्रातःकाल तथा सांयकालमें श्रीशुभानंद ब्रह्मचारी, श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी, श्रीवक्रेश्वरदास ब्रह्मचारी, श्रीविनोद विहारी दासाधिकारीके संचालनमें दिल्ली महानगरीके विभिन्न आँचलोंमें नगर संकीर्तन सम्पन्न हुआ। सभा स्थलमें हजारों श्रद्धालु भक्त हरिकथा श्रवण करते थे। तत्पश्चात कीर्तिनगर, मान सरोवर गार्डन, राजेन्द्र नगर एवं पहाड़गञ्जकी धर्मसभाओंमें भी शुद्ध भक्तिका प्रचारकर २६ अगस्तको मथुरा लौट आए।

मुम्बई नगरमें प्रचार

तदनन्तर मुम्बईनगरके श्रद्धालुओंके विशेष अनुरोधसे श्रील महाराजजीने पूर्वोक्त ब्रह्मचारीयोंके साथ ५ सितम्बरको मुम्बईके लिए शुभविजय किया। वहाँ मीरा रोड, मुम्बईमें स्थित गौड़ीय वेदान्त समितिके शाखा मठमें ६ सितम्बरसे ९ सितम्बर तक रहकर तथा वहाँसे बम्बईके बहुतसे स्थानोंमें शुद्ध भक्तिका प्रचार किया। विशेषतः गोरेगाँवमें मुम्बईके प्रसिद्ध व्यवसायी योगेन्द्र कुमार अग्रवालके वास भवन, बजाज हाल मैलौड, अन्धेरी कम्पास कौर्नर आदि स्थानोंमें बड़े उल्लासपूर्वक श्रीमती राधिकाके बधाईका उत्सव बड़े समारोहके साथ सम्पन्न हुए। बजाज हाल मैलौडमें श्रील महाराजजीका विशेष अभिनंदन किया गया जो नीचे दिये जा रहे हैं—

अभिनन्दन

जयपुरमें शुद्धभक्तिका प्रचार

तदनन्तर १३ सितम्बरको श्रील महाराज प्रचार पार्टीके साथ राजस्थानकी राजधानी गुलाबी नगरी, जयपुरमें पधारे। वहाँ सञ्जय कालौनीमें स्थित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके अनुगृहित श्रीओमप्रकाश ब्रजवासी एम ए. एल-एल बी साहित्यरत्नके वास भवनमें अवस्थानकर वहाँसे जौहरी बाजार मालवीय नगर आदि विभिन्न स्थानोंमें शुद्ध भक्तिका प्रचारकर १७ सितम्बरको श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरामें लौट आए।

बम्बईमें महाराजजीके अभिनंदनमें श्रीकृष्ण प्रिया 'राधा-बधाई' महोत्सव

श्रीराधा-परिकर-संस्था द्वारा विगत २८-८-९८ई. को प्रेमपुरी आश्रममें श्रीराधा जन्म-महोत्सव मनाया गया था। इसी शृंखलामें ३० अगस्तको श्रीसत्संग आश्रम, विलेपाल और ३१ अगस्त को श्रीओक्षाजीके घर पर भी उत्सव कार्यक्रम हुए। पूर्णाहुति बधाई-महोत्सवके रूपमें बजाज—हॉल, मलाड़में ॐ विष्णुपाद त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्ति वेदान्त श्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजीके श्रीचरण-कमलोंके संरक्षणमें सम्पन्न हुई। लोगोंसे खचाखच भरे हॉलमें कार्यक्रमके प्रमुख आयोजक श्रीमहाराजजीके प्रमुख शिष्य श्रीयोगेन्द्र अग्रवाल, एवं शिष्या डा॰ मधु खण्डेवाल द्वारा महाराजजीका अभिनन्दन पत्र पढ़ा गया, जिसे प्रस्तुत किया जा रहा है—

"मैं आपका सेवक हूँ"
श्रीयोगेन्द्र अग्रवाल

आज हम सबके लिए परम सौभाग्यका विषय है कि परमाराध्यतम पूज्यपाद श्रीगुरुदेव महाराजके पूज्य श्रीचरण-कमल यहाँ पधारे हैं, श्रीमहाराजजीका परिचय देनेकी सामर्थ्य किसमें है। परम भागवतों की क्रिया-लीलाको भला कौन समझ सकता है। परिव्राचकाचार्य श्रीमहाराज अभी कुछ ही समय पूर्व अपनी पाँचवी विदेश यात्रा पूर्ण कर लौटे हैं। सम्पूर्ण विश्वमें जन-जन को श्रीराधा-कृष्ण-मय बनानेके लिए ही आप इस धराधाम में आविर्भूति हुए हैं। यों तो महाराजजीके भक्तों की संख्या अगणित है पर हर शिष्य, यहीको अनुभव होता है कि वे मात्र उसीके हैं, उसीके बहुत अपने हैं। भारतीय वैदिक संस्कृतिके उपासक, विशुद्ध ब्रज भक्ति-रसके आराधक श्रीमहाराजजी श्रीगौर धाम नवद्वीपके भी हैं—जब मार्चमें मैं श्रीमहाराजजीसे अपने विशेष प्रयोजनके लिए आशीर्वाद लेने पहुँचा तो मैनें देखा कि करीब २०-२५ हजार भक्त श्रीचैतन्य महाप्रभू की लीला-स्थलीमें अति भावपूर्ण स्थितिमें महाराजजीके आनुगत्य में परिक्रमा दे रहे हैं। कार्त्तिक मासमें ब्रज-धाम की परिक्रमा तो दर्शनीय है ही, ब्रज का एक-एक वासी श्रीमहाराज की कृपाके लिए आतुर देखा जा सकता है। बहुत ही कम समयके लिए मैं महाराजजी का सान्निध्य लाभ कर सका हूँ पर अपने हृदयमें उनकी कृपाका अनुभव कर रहा हूँ। मेरे विशेष अनुरोध आग्रह पर पूज्यचरण बम्बई पधारे हैं, उसके लिए मैं उनका चिरऋणी रहूँगा। बहन डा॰ मधु खण्डेलवाल का परम सौभाग्य है कि उन्होंने गुरुदेवके निर्देशनमें अपना भागवतीय शोध कार्य किया है। उन्हें महाराजजीका अधिक सान्निध्य मिला है मैं उनसे श्रीमहाराजजीके विषयमें अधिक परिचय देने का अनुरोध करूंगा।

कृपा-प्रार्थी
श्रीयोगेन्द्र अग्रवाल

श्रीश्रीगुरु-गौरांगौ जयतः

श्रीव्रजमण्डल परिक्रमा एवं श्रीविग्रह-प्रतिष्ठाका विराट आयोजन

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ. प्र.)
दिनांक—१८-९-९८

सादर सम्भाषणपूर्वक निवेदन,

पूर्व पूर्व वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति ५ अक्टुबर १९९८, शरद पूर्णिमा, सोमवारसे ४ नवम्बर १९९८ रासपूर्णिमा, बुधवार तक कार्तिक ऊर्जाव्रत, नियमसेवाके उपलक्षमें

समितिके वर्तमान सभापति परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराजजीके आनुगत्यमें विशेषरूपसे पालन करने जा रही है, इसके उपलक्ष्यमें श्रीव्रजमण्डल परिक्रमाका विराट आयोजन किया गया है। श्रीनियमसेवा एवं व्रजमण्डल परिक्रमाके अन्तमें श्रीदुर्वासा ऋषि गौड़ीय आश्रमके (ईशापुर) नव निर्मित विशाल श्रीमन्दिरमें श्रीश्रीगुरु–गौरांग, श्रीश्रीराधा बिनोदविहारीजी, श्रीयमुनाजी एवं महर्षि श्रीदुर्वासाके श्रीविग्रहोंकी प्रतिष्ठाका भी विराट आयोजन किया गया है।

श्रीविग्रह प्रतिष्ठा समितिके उप–सभापति एवं सम्पादक त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्तिवेदान्त नारायण महाराज एवं त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराजके पौरहित्यमें सम्पन्न होगा। इसके अतिक्ति श्रीसमितिके त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त पर्यटक महाराज, त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त आचार्य महाराज आदि सभी प्रमुख संन्यासी, ब्रह्मचारीगण दैनन्दिन श्रीमद्भागवत, श्रीचैतन्यचरितामृत आदि भक्ति ग्रन्थोंसे पाठ, प्रवचन एवं धाम माहात्म्य आदिकी व्याख्या करेंगे।

प्रार्थना है कि आप इष्ट मित्र, बन्धु बान्धवोंके साथ इस महदनुष्ठानमें योगदान कर भक्ति उन्मुखी सुकृति अर्जन करें।

निवदेक—

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके सेवकवृन्द

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

वर्ष ४२ } श्रीगौराब्द ५१२
विक्रम संवत् २०५५–५६ मार्गशीर्ष मास, सन् १९९८, ५ नवम्बर — ३ दिसम्बर { संख्या ९

श्रीश्रीरामलीलासारः

१—तस्यापि भगवानेष साक्षाद्ब्रह्ममयो हरिः।
अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः।।
रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना इति संज्ञया।।२।।

२—गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम्।
वैरूप्याच्छूर्पनख्याः प्रियविरहरुषाऽऽरोपितभ्रू विजृम्भत्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः कोशलेन्द्रोऽवतान्नः।।४।।

३—विश्वामित्राध्वरे येन मारीच्याद्या निशाचराः।
पश्यतो लक्ष्मणस्यैव हता नैर्ऋतपुङ्गवाः।।५।।

४—यो लोकवीरसमितौ धनुरैशमुग्रं सीता–स्वयंवर–गृहे त्रिशतोपनीतम्।
आदाय बालगजलील इवेक्षु–यष्टिं सज्जीकृतं नृप विकृष्य बभञ्ज मध्ये।।६।।

५—यः सत्यपाश–परिवीत–पितुर्निदेशं स्त्रैणस्य चापि शिरसा जगृहे सभार्यः।
राज्यं श्रियं प्रणयिनः सुहृदो निवासं त्यक्त्वा ययौ वनमसूनिव मुक्तसंगः।।८।।
६—रक्षःस्वसुर्व्यकृत रूपमशुद्धबुद्धेस्तस्याः खरत्रिशिरदूषणमुख्यबन्धून्।
जध्ने चतुर्दशसहस्रमपारणीयकोदण्डपाणिरटमान उवास कृच्छ्रम्।।९।।
७—सीताकथाश्रवण–दीपित–हच्छयेन सृष्टं विलोक्य नृपते दशकन्धरेण ।
जध्नेऽद्भुतैणवपुषाश्रमतोऽपकृष्टो मारीचमाशु विशिखेन तथा कमुग्रः।।१०।।
८—रक्षोऽधमेन वृकवद् विपिनेऽसमक्षं वैदेहराजदुतहितर्यपयापितायाम् ।
भ्रात्रा वने कृपणवत् प्रियया वियुक्तः स्त्रीसंगिनां गतिमिति प्रथयंश्चराचर।।११।।
९—दध्वात्मकृत्यहतकृत्यमहन् कबन्धं सख्यं विधाय कपिभिर्दयितागतिं तैः।
वुद्ध्वाथ वालिनि हते प्लवगेन्द्र–सैन्यैर्वेलामगात् स मनुजोऽजभवार्चिताङ्घ्रिः।।१२।।
१०—कामं प्रयाहि जहि विश्रवसोऽवमेहं त्रैलोक्य–रावणमवाप्नुहि वीर पत्नीम्।
वध्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः।।१५।।
११—बद्ध्वोदधौ रघुपतिर्विविधाद्रिकूटैः सेतुं कपीन्द्रकरकम्पितभूरुहाङ्कैः।
सुग्रीव–नील–हनुमत्–प्रमुखैरनीकैर्लंकां विभीषणदृशाविशदग्रदग्धाम्।।१६।।
१२—रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत् ते।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्ववीर्यः।।२२।।
१३—एवं क्षिपन् धनुषिसन्धितमुत्सर्जं वाणं स बज्रमिव तद्धृदयं विभेद।
सोऽसृग्वमन्दशमुखैर्न्यपतादविमानाद्धाहेति जल्पति जने सुकृतीव रिक्तः।।२३।।
१४—ततो ददर्श भगवानशोकवनिकाश्रमे।
क्षामां स्वविरह–व्याधिं शिंशपामूलमाश्रिताम्।।३०।।
१५—आरोप्यारुरुहे यानं भ्रतृभ्यां हनुमद्युतः।
विभीषणाय भगवान् दत्त्वा रक्षोगणेशताम।
लङ्कामायुश्च कल्पान्तं ययौ चीर्णवतः पुरीम् ।।३२।।

—श्रीमद्भागवत ९ म स्कन्ध १० म अध्याय

अनुवाद—

१—देवताओंकी प्रार्थनासे साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीहरि ही अपने अंश और अंशांशसे रूप धारण करके राजा दशरथके पुत्र हुए। उनके नाम हुए— राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न।

२—भगवान् श्रीरामने अपने पिता राजा दशरथके सत्यकी रक्षाके लिये राजपाट छोड़ दिया और वे वन–वनमें फिरते रहे––उन्हीं सुकुमार चरण–कमलोंसे, जिनसे परम सुकुमारी श्रीजानकीजीके कर–कमलोंका स्पर्श भी सहन नहीं होता था, वे ही चरण जब बनमें भ्रमण करते–करते श्रांत हो पड़ते, तब बानरराज हनुमान अथवा सुग्रीव और भ्राता लक्ष्मण उन्हें दबा–दबाकर उनकी पथ–श्रांति दूर करते। सूर्पनखाके नाक–कान काट कर उसे विरूप कर देने के कारण उन्हें अपनी प्रियतमा श्रीजानकीजीका वियोग सहना पड़ा। इस वियोगके कारण क्रोधवश उनकी भौंहें तनी हुई देखकर समुद्र तक भयभीत हो गया। इसके बाद समुद्रकी प्रार्थनासे वे सेतु–बन्धन कर लंकामें गये और वहाँ उन्होंने रावण आदि दुष्ट राक्षसोंके

जङ्गलको दावाग्निके समान दग्ध कर दिया। वे कौशल नरेश भगवान् श्रीरामचन्द्र हमारी रक्षा करें।।४।।

३—जिन्होंने विश्वामित्रके यज्ञमें लक्ष्मणके सामने ही मारीच आदि अनेक बड़े-बड़े राक्षसोंको मार डाला था, वे श्रीराम हमारी रक्षा करें।।५।।

४—परीक्षित! जनकपुरमें सीताजीका स्वयंवर हो रहा था। संसारके चुने हुए वीरोंकी सभामें शिवजीका भयंकर धनुष रखा हुआ था। वह इतना भारी था कि तीन सौ वीर बड़ी कठिनाईसे उसे स्वयंवर सभामें ला सके थे। भगवान् श्रीरामने बातकी-बातमें उठाकर उस पर डोरी चढ़ा दी और खींचकर बीचों-बीचसे उसके दो टुकड़े कर दिये—ठीक वैसे ही जेसे हाथीका बच्चा खेलते-खेलते ईख तोड़ डाले।।६।।

५—महाराज दशरथ कैकयीको वचन दे चुके थे, इसलिये सत्यके बन्धनमें बँध गये थे। अतः भगवान् श्रीरामने पिताके वचनको सत्य करनके लिये उनकी (पिताकी) आज्ञा शिरोधार्य कर आनन्दके साथ प्राणोंके समान प्यारे राज्य, लक्ष्मी, प्रेमी, हितैषी मित्र और महलोंको छोड़कर अपनी पत्नीके साथ बनकी यात्रा की— ठीक वैसे ही जैसे विषयोंमें अनासक्त योगी आनन्दके साथ प्राण परित्याग करे।।८।।

६—वनमें पहुँचकर भगवान्ने रावणकी बहन सूर्पनखाको नाम-कान काटकर विरूप कर दिया, क्योंकि उसकी बुद्धि बहुत ही कलुषित और कामवासनाके कारण अशुद्ध थी। और हाथोंमें महान धनुष लेकर सूर्पनखाके पक्षपाती खर, दूषण, त्रिशिरा आदि प्रधान-प्रधान बन्धुओं तथा चौदह हजार राक्षसोंको मारकर अनेक कठिनाइयोंसे पूर्ण वनमें इधर-उधर विचरते हुए निवास करते रहे।।९।।

७—परीक्षित्! जब रावणने सूर्पनखासे सीताजीके रूप, गुण, सौन्दर्य आदिकी बात सुनी तो उसका हृदय कामवासनासे भर उठा। उसने सीताको हरण करनेकी इच्छासे श्रीरामचन्द्रजीको आश्रमसे दूर लिवा ले जानेके लिये अद्भुत हरिणके वंशमें मारीचको उनकी पर्णकुटीके पास भेजा। वह धीरे-धीरे भगवान्को वहाँसे दूर ले गया। अन्तमें भगवान्ने अपने बाणसे उसे बात-की-बातमें मार डाला, जैसे मृगके रूपमें दौड़ते हुए प्रजापतिको रुद्रने अपने बाणोंसे मारा था।।१०।।

८—जब श्रीरामजी जङ्गलमें दूर चले गये, तब (लक्ष्मणकी अनुपस्थितिमें) राक्षसाधम रावण सीताजीको ठीक वैसे ही हर ले गया जैसे गड़ेरियेकी अनुपस्थितिमें भेड़िया भेड़के बच्चेको उठा ले जाता है। तदनन्तर श्रीराम अपनी प्राण-प्रिया वैदेहीके विरहसे कातर होकर अपने भाई लक्ष्मणके साथ दीनकी भाँति एक वनसे दूसरे वनमें घूमने लगे। इस प्रकार उन्होंने यह शिक्षा दी कि स्त्रियोंमें आसक्ति रखनेवालोंकी यही गति होती है।।११।।

९—इसके बाद भगवान्ने उस जटायुका दाह-संस्कार किया, जो सीताजीकी रक्षाके लिए युद्धमें रावण द्वारा मारा गया था। फिर उन्होंने कबन्धका विनाश किया। तदनन्तर सुग्रीव आदि वानरोंसे मित्रता करके बालीका बध किया। इसके पश्चात् वानरोंके द्वारा प्राण-प्रियका पता पाकर वे भगवान् श्रीरामचन्द्र जिनके चरणोंकी वंदना ब्रह्मा और शिव किया करते हैं, मनुष्यकी सी लीला करते हुए वानरी सेनाके साथ समुद्रतट पर पहुँचे।।१२।।

१०—(समुद्र बोले—) वीरशिरोमणे! आप अपनी इच्छाके अनुसार मुझे पार कर लंका जाइये और त्रिभुवनको रुलानेवाले विश्रवाके कुपूत रावणको मारकर अपनी पत्नी सीताजीको प्राप्त कीजिये। किन्तु एक प्रार्थना है। आप यहाँ मुझपर एक पुल बाँध दीजिये। इससे आगे चलकर जब बड़े-बड़े दिग्विजयी नरपति यहाँ आकर इस अद्भुत कर्मको देखेंगे तब आपका यश-विस्तार करेंगे।।१५।।

११—बड़े-बड़े बन्दरों द्वारा लाये गए काँपते हुए वृक्षोंकी शाखाओंसे परिपूर्ण अनेकानेक पर्वतशिखरोंके द्वारा पुल बाँधकर विभीषणकी सलाहसे भगवान् श्रीरामने सुग्रीव, नील, हनुमान आदि प्रमुख वीरों और वानरी सेनाके साथ उस लंकामें प्रवेश किया, जो हनुमानके द्वारा सीताजीकी खोज करनेके समय पहले ही जलायी जा चुकी थी।।१६।।

१२—भगवान् रामचन्द्रजीने रावणसे कहा—'नीच राक्षस! तू कुत्ते की तरह मेरी अनुपस्थितिमें मेरी प्रियतमा पत्नीको हर लाया है। तूने दूष्टताकी हद कर दी। तेरे जैसा निर्लज्ज और निंदनीय और कौन होगा? जैसे काल पापीपुरुषोंको उसके कर्मोंचित फल अवश्य ही प्रदान करता है, वैसे ही आज मैं तुझे तेरी करनीका फल चखाता हूँ"।।२२।।

१३—इस प्रकार रावणको फटकारते हुए श्रीरामजीने अपने धनुष पर चढ़या हुआ वाण उस पर छोड़ा। उस बाणने वज्रकी तरह उसके हृदयको विदीर्ण कर दिया। वह अने दसों मुखोंसे खून उगलता हुआ विमानसे उसी प्रकार गिरा, जिस तरह पुण्यात्मा लोग भोग समाप्त होने पर स्वर्गसे गिर पड़ते है। उस समय उसके आश्रितजन हाहाकार करने लगे।।२३।।

१४—इसके अनन्तर भगवान श्रीरामने अशोकवाटिकाके आश्रममें अशोक वृक्षके नीचे बैठी हुई, उन्हींके विरहकी व्याधिसे पीड़ित और क्षीण हुई सीताजीको देखा।।३०।।

१५—इसके बाद भगवान् श्रीराम पहले सीताजीको पुष्पक विमान पर बैठाकर स्वयं बैठे। वे विभीषणको राक्षसोंका स्वामित्व, लङ्कापुरीका राज्य और एक कल्पकी आयु देकर वनवासका व्रत पूरा कर भाई लक्ष्मण, सुग्रीव और हनुमानके साथ वे अयोध्या लौटे।।३२।।

कर्मवीरकी फूटी कौड़ियाँ

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'

मनुष्यमें तीन प्रकारकी सत्ताएँ वर्त्तमान हैं। मनुष्यका स्थूल शरीर, उसका मन और स्वयं देही, अर्थात् आत्मा। आत्मा विशुद्ध चेतन है, उसका मन चेतन (चेतनाभास) होनेपर भी अचेतनकी धारणामें सर्वदा व्यस्त रहता है, और स्थूल शरीर विशुद्ध अचेतन है।

चिन्मय आत्माके संबन्धमें दो प्रकारके मत हैं। पहला यह कि आत्मा और परमात्मा दो नहीं—एक हैं, अज्ञानसे दो जैसा भासते हैं। इसे 'निर्विशेष मत' कहते हैं। दूसरे मतमें आत्मा और परमात्माका नित्य अभेदत्व अस्वीकार कर उनको परस्पर सेवक-सेव्य सम्बन्धसे युक्त 'सविशेष' तत्त्व माना गया है।

आत्मा अपने स्थूल शरीर और चिदाभास मनके आवरणसे मुक्त होनेपर या तो निर्भेद ब्रह्मकी ओर अग्रसर होती है अथवा नित्य भगवत् सेवाको प्राप्त करती है। मनुष्यमें जब तक स्थूल शरीर और मनकी सत्ताएँ प्रबल रहती हैं, तब तक वह ज्ञान और भक्तिका आदर नहीं कर सकता। वह त्रिगुणात्मिका मायाके अशान्तिमय राज्यमें भटकता रहता है। विशुद्ध आत्मा सांसारिक नश्वर फलोंकी कामना नहीं करती, कर भी नहीं सकती; क्योंकि यह ऐसा करनेमें असमर्थ है। किन्तु अनात्म-प्रतीति प्रबल होने पर आत्मधर्मका विपर्यय हो जाता है। ऐसी दशामें मनुष्य देह और मनको ही आत्मा—"मैं"

मानने लगता है। यही जीवका विवर्त्त या उसकी भ्रान्ति है।

अनात्म देह और मन कर्मफल भोग करते हैं। मायावद्ध जीव नित्य हरिसेवाकी क्रियाओंको भी जड़ भोगमय कर्मकी श्रेणीमें मानता है। वास्तवमें अनात्म शरीर-मनके कर्म और हरि-सेवामें आकाश-पातालका अन्तर है। दोनों समजातीय क्रियाएँ नही हैं। बाह्य-दर्शनसे दोनोंकी क्रियाएँ एक सी दीख पड़ने पर भी यथार्थ दर्शनमें दोनों एक नहीं हैं। जो देह और मनके दायरेमें बन्द हैं, उनके लिये कर्ममार्गके अतिरिक्त कोई गति नहीं है। वे आत्माको भी स्थूल देह और मनसे अभिन्न मानते हैं। सुतरां वे आत्माकी नित्यवृत्ति—हरिसेवाको स्थूल देह और मनकी क्रिया—कर्मके अतिरिक्त और क्या मान सकते हैं?

हरि-सेवा और कर्ममें अन्तर यह है कि जड़ कर्मका फल अनित्य होता है तथा वह कर्म करने वालेके उद्देश्यसे फल उत्पन्न करता है। किन्तु हरिसेवा नित्य होती है और इसका फल एकमात्र हरिका सन्तोष है। कर्मका फल—सुख-दुःख मिश्रित होता है और हरि सेवाका फल है—सुख-दुःख-द्वन्द्वसे अतीत सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीहरिका नित्य-आनन्द विधान।

कर्म दो प्रकारका होता है—सत्-कर्म और असत्-कर्म या कुकर्म। सात्त्विक कर्मोंको सत्कर्म और राजस तथा तामस कर्मोंको कुकर्म कहते हैं। अतः सत्कर्म करनेवाला कर्मी सत्कर्मी और रज-तम गुणोंका अवलम्बन कर कुकर्मोंमें रतकर्मी कुकर्मी है। इनको कर्मवीर और कुकर्मवीर भी कहा जा सकता है। सत्कर्मी स्थूल देह और सूक्ष्म मनके प्रति दया भावसे युक्त होता है; किन्तु असत्कर्मी अहंकारमें मत्त और सब समय परहिंसामें तत्पर होता है। कुकर्मी अपने स्वार्थ-साधनके लिए नाना-प्रकारके पाप कार्योंमें लिप्त रहता है और अपने किये हुए पाप कर्मोंकी वैधता प्रमाणित करनेके लिये असंख्य प्रकारकी युक्तियाँ उपस्थित करता है। अन्तमें पुण्यमय सात्विक कर्मियोंके द्वारा लांछित, अपमानित और ताड़ित होकर कुकर्मोंसे संयत होता है। मनुष्य जब तक देह और मनके द्वारा चालित होकर कुकर्ममें लगा रहता है, तब तक उसमें स्वेच्छाचारिता प्रबल रहती है। इस निरंकुश स्वेच्छाचारिताका दमन करनेके लिए कर्मवीरोंको सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित होना अत्यन्त आवश्यक है।

पूर्वोक्त विवेचनका निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रवृत्ति और अहंकारके अधीन होनेपर जीव सत्त्वगुणसे च्युत हो जाता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दोनों नित्य-आत्मधर्मके विरोधी और अनित्य भावनाएँ हैं। सांसारिक वस्तुओंको ग्रहण करना प्रवृत्ति है तथा उनके त्यागको निवृत्ति कहते हैं। ये दोनों वृत्तियाँ नश्वर हैं। इन दोनोंकी सहायतासे चिन्मय तत्त्वकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। रज और तमको दूर करना ही सत्कर्मीका धर्म है। यही प्रवृत्ति मार्गका रहस्य है।

निवृत्ति मार्ग और त्रिविध संन्यास

कुकर्मी लोग कहा करते हैं कि वर्णाश्रम धर्ममें चतुर्थाश्रमकी कोई उपयोगिता नहीं है। चतुर्थाश्रमका तात्पर्य संसारसे निवृत्त हुए संन्यासी-सम्प्रदायसे है। संन्यासी तीन प्रकारके होते हैं—कर्म-संन्यासी, ज्ञान-संन्यासी और भक्त-संन्यासी। ये तीनों कर्मसे निवृत्त होते हैं। क्योंकि इनमें देह और मन सम्बन्धी समस्त प्रकारकी चंचलताका अभाव होता है। कर्म-संन्यासी कर्मफलके भोगकी स्पृहा नहीं रखता। अतः सर्वदा सांसारिक द्वन्द्वोंसे अतीत और शान्त होता है। शान्तिमय जीवन ही उसका लक्ष्य होता है।

ज्ञानी कर्म-संन्यासको नित्य अवस्था नहीं, बल्कि अनित्य अवस्था मानता है, उसके फलको नश्वर बतलाता है। अतः निर्भेद ब्रह्मका अनुसंधान ही ज्ञानी को अभीष्ट होता है।

भक्तोंका कथन है—अभेद-ज्ञानसे युक्त ज्ञानी ब्रह्मसे अभिन्न होनेकी कामनासे सर्वदा अशान्त रहता है। उनकी वैसी वृत्ति उनके अस्तित्व तकको मिटा देती है। भगवान्‌की नित्य-सेवाको प्राप्त करना ही संन्यासका चरम उद्देश्य है। इस प्रकार देह और मनरूपी स्थूल और लिङ्ग शरीरोंके आवरणोंसे मुक्त, भगवानकी नित्यसेवामें प्रविष्ट शुद्ध जीव ही 'भक्त' है। भक्तमें समस्त प्रकारकी सांसारिक कामनाओंका अभाव होता है। ये निर्भेद ब्रह्मानुसंधानकी त्रुटियोंसे तथा उससे होनेवाली ध्वंसात्मक क्रियाओंसे परिचित होते हैं। अतएव भोग और त्याग—प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंको त्याग कर भगवच्चरणोंमें शरणागत होते हैं। ऐसे शरणागत भक्त ही वास्तव अर्थोंमें संन्यासी हैं तथा वे ही विषयोंका ठीक-ठीक अर्थमें त्याग करनेमें समर्थ होते हैं।

संन्यासी कहनेसे ऐसे व्यक्तियोंका बोध होता है जो सांसारिक विषयों द्वारा प्राप्त सुखको नश्वर, अस्थिर और दुःखपूर्ण जानकर उन विषयोंकी सेवा न करनेका संकल्प कर चुके हैं। यह स्थिति कुकर्मियोंकी अवज्ञाकी वस्तु नहीं है। वे एक ऐसी सक्रिय अवस्थामें पहुँचे हुए हैं, जिसकी कल्पना कर्मवीर हजार जन्मों तक नहीं कर सकते। अक्रियताकी चरम सीमा पर पहुँचे हुए अपनेको कर्मवीर कहलानेवाले कुछ लोगोंका कहना यह है कि संन्यासी-सम्प्रदाय चुपचाप हाथपर हाथ रखे मौज करते हैं। इन्हें श्रमिकोंके द्वारा उपार्जित अन्न-वस्त्र आदिका व्यवहार करनेका अधिकार नहीं हैं, अतः हम कर्मवीरोंका कर्त्तव्य है कि संन्यासी सम्प्रदायको इन वस्तुओंके व्यवहारसे वंचित रखें। किन्तु अबोध कर्मवीर यह नहीं जानते कि कर्मसे अवसर प्राप्त ये महाबीर अपने ही संचित कर्मोंका भोग करते हैं; वे नहीं जानते कि संन्यासियोंके संचित अर्थसे ही सारा समाज लालित-पालित होता है, अन्न-जल आदि प्राप्त होकर जीवित है, अन्यथा कर्मवीर-समाजका अस्तित्व ही खतरेमें पड़ जाता। आज बदलेमें उसी जगत्‌का महान् उपकार करनेवाले परम विरक्त संन्यासी सम्प्रदायको तथाकथित कर्मवीर-दल मुट्ठी भर अन्न और जीर्ण-आवास देना भी अन्याय समझने लगा है। यह उनकी अकृतज्ञताका ही ज्वलंत उदाहरण है।

संन्यासी समाजके भार नहीं—प्राण हैं। इन्हें भारतीय समाजसे अलग करना शरीरसे प्राणकों अलग करना है। प्राणहीन शरीरकी तरह संन्यासी रहित भारतीय-समाज या संस्कृतिका कोई मूल्य नहीं। कर्मवीरोंकी तो यह राय है कि संन्यासी संन्यास-धर्मको छोड़कर पुनः मजदूरी करें, कर्मवीर बनें। यह उनकी मूर्खताकी चरम सीमा नहीं तो और क्या है?

यदि नैतिक दृष्टिकोणसे भी देखा जाय तो समाज त्यागी-सम्प्रदायके द्वारा जितना उपकृत है, जितना फल लाभ करता है, उसके बदलेमें उसको मुट्ठी भर अन्न और जीर्ण आवास देकर समाजका भार समझना सरासर अन्याय है। शास्त्रोंकी शिक्षा है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।

(गीता ३।२६)

सारांश यह कि शरीर और मनकी उद्दाम चेष्टाओंसे ज्ञानशून्य कर्मवीरोंकी बुद्धि इतनी कुंठित हो जाती है कि उनकी जड़ता दूर करना असंभव हो जाता है। अतः उनकी मूर्खता दूर करनेके लिए तनिक भी प्रयत्न न करो।

हम इन तथाकथित कर्मी-संघों, समाजों और मिशनोंको यह परामर्श देते हैं कि वे अपनी मूर्खता का ढिढोरा अधिक न पीटें। उन संघोंके पण्डे लोग चतुर्थाश्रमके प्रतिकूल जिन मूर्खतापूर्ण और असङ्गत युक्तियोंको पेश करेंगे, उन्हें कोई भी बुद्धिमान मनुष्य माननेको तैयार न होगा। यदि समस्त समाजमें कर्मकी ही श्रेष्ठता स्वीकृत होती, तो पृथ्वीके चित्रपटसे ज्ञान और भक्तिके पथ कभीके मिट गये होते।

कर्मवीरके कर्मोंकी निष्फलता

कर्मवीरके कर्मोंका प्राप्यफल है—संन्यास अर्थात् सर्वस्व-त्याग। जड़ जगत्के इतिहासमें हम 'मृत्युं' और 'निष्फल' नामक दो अवस्थाओंका अधिष्ठान लक्ष्य करते हैं। अर्थात् मृत्यु अनिवार्य है, और जिन कर्मोंको कर्मी जगत् अपने सुखके लिये बड़ी लगनके साथ करता है, वे एक दिन निष्फल सिद्ध होते हैं। कोई कितना भी बड़ा कर्मवीर क्यों न हो, उसे सब कुछ छोड़ कर बलात् मरना ही पड़ेगा। विषयभोगको संकुचित करनेका नाम ही संन्यास है। जिन विषयोंका भोग चिरकाल तक नहीं किया जा सकता, निर्विषयी सम्प्रदायने जिन विषय-भोगोंकी संज्ञा अमृत नहीं—'विष' दे रक्खी है, जिन विषयोंका त्याग मृत्युके समय अनिवार्य है, उन्हें समय रहते-रहत क्यों न त्याग करके अमृत-स्वरूप भगवद्भक्तिका अनुसन्धान किया जाय?

अस्तु, यथार्थ त्यागी संन्यासी-सम्प्रदायको बाधा देना निर्बुद्धिताकी चरम सीमा और पाशविक बलका प्रदर्शन मात्र है। भक्त-संन्यासी समाजके लिये कितना उपकारी है, उसे विषयोंमें आसक्त, संकीर्ण बुद्धिवाले तथाकथित कर्मवीर लोग समझनेमें असमर्थ हैं। विषयी लोगोंके साथ प्रतियोगिता करना अथवा उनकी हिंसा करना विरक्तोंका उद्देश्य या धर्म नहीं है। सभ्य मानव समाजमें जबतक द्रव्य और श्रमके बदले उचित मूल्य लेने-देनेकी नीतिका आदर रहेगा, तबतक समाज चतुर्थाश्रमी संन्यासी-सम्प्रदायका कृतज्ञ बना रहेगा तथा उन्हें उचित रूपमें आवश्यक वस्तुएँ तथा उचित सम्मान देनेके लिये बाध्य रहेगा।

संगत्याग

—ॐ विष्णुपाद श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

संस्कारसे उत्पन्न आसक्ति

गीतामें कर्म-सङ्गीके सम्बन्धमें कहा गया है:—

न बुद्धि-भेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
योषयेत् सर्व-कर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।।

(गीता ३।२६)

पूर्व-पूर्व जन्मोंके कर्म और ज्ञानादिके संस्कारोंके अनुरूप वर्तमान जन्ममें कर्म-संग या ज्ञान-संग होता है। संस्कार-संग अत्यन्त प्रबल और अपरिहार्य होता है। इससे पीछा छुड़ाना कठिन ही नहीं असंभव-सा होता है। यहाँ तक कि आत्म-हत्या तक करने पर भी पूर्व-संस्कारोंको त्यागा नहीं जा सकता है। संस्कार दो प्रकारके होते हैं। पूर्व-संस्कार और आधुनिक संस्कार। पिछले जन्मोंके कर्म आदिसे जिस संस्कारका गठन होता है, वह 'पूर्व-संस्कार' कहलाता है। वर्त्तमान जन्मके कर्म और संगसे जो संस्कार गठित होता है, उसे 'आधुनिक-संस्कार' कहते हैं। जगतके सम्पूर्ण प्राणी इन्हीं दो संस्कारोंके अधीन होकर कर्मचक्रमें भ्रमण कर रहे हैं। जीव जिस समय मायाके बंधनमें नहीं होता है, उस समय उसका स्वभाव निर्मल कृष्णदास्य होता है। किन्तु मायाजालमें बँधे हुए जीवका वह शुद्ध-स्वरूप आच्छादित हो जाता है। इस समय जीव पूर्व और आधुनिक संस्कारोंको छोड़नेमें असमर्थ होता है। वर्त्तमान जन्ममें पूर्व-संस्कार मनुष्यके द्वितीय संस्कारके रूपमें प्रकाशित होता है।

संस्कारासक्तिको दूर करनेका उपाय—साधुसंग

इस अपरिहार्य संस्कारासक्तिको केवल साधु-संगसे ही शोधन किया जा सकता है। साधु-संग ही इस

महारोगकी एक मात्र औषधि है। जब तक संस्कार–संग शुद्ध नहीं होता, भक्तिकी सिद्धि किसी प्रकार नहीं हो सकती है।

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते।।

(श्रीमद्भा॰ ३।२३।५५)

असत्पुरुषोंके साथ किया हुआ संग संसार–बन्धनका कारण होता है, वह संग चाहे ज्ञानवश, अज्ञानवश ही क्यों न हो। वही संग सत्पुरुषोंके साथ किये जाने पर असंगता प्रदान करती है। और भी कहते हैं—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा।।
व्रतानि यज्ञच्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथाऽवरुन्धे सत्संगः सर्वसङ्गापहो हि माम्।।

(श्रीमद्भा॰ ११।१२।१–२)

संस्कार–संग अतिशय दुष्ट होता है। उसे नष्ट करनेमें एकमात्र सत्संग ही समर्थ है। यही कारण है कि सत्संग जिस प्रकार मुझे (श्रीकृष्णको) वशमें कर लेता है वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्म–पालन, न स्वाध्याय, न तपस्या, न त्याग, न इष्टापूर्त्ति और न दक्षिणा। कहाँ तक कहूँ, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम–नियम भी सत्संगके समान मुझे वश करनेमें समर्थ नही हैं। क्योंकि इनका बहुत दिनों तक साधन करने पर भी संग–दोष नष्ट नहीं होता है।

कुसंस्कार का फल

कुसंस्कारसे ही जीवोंमें राजसी और तामसी प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं। खान, पान, शयन और भिन्न–भिन्न क्रियाओंके सम्बन्धमें मनुष्यकी जो सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं, संस्कार ही उनका मूल कारण है। कुसंस्कारके ही फलस्वरूप कर्मियों और ज्ञानियोंमें वैष्णवोंके प्रति अवज्ञाका भाव पैदा होता है। जब तक यह कुसंस्कार नष्ट नहीं हो जाता, तब तक दस नामापराध सम्पूर्ण रूपसे दूर नहीं होते। कर्माभिमान और ज्ञानाभिमानसे ही सन्तोंके चरणोंमें अपराध होता है। कुसंस्कारके कारण ही साधुनिन्दारूप नामापराध अभक्तजनोंके हृदयमें अपना घर बना लेता है। कुसंस्कारके कारण ही जीव कृष्णके चरणोंमें अनन्य भावसे शरण नहीं ले पाता, बल्कि वह अन्य–अन्य देवताओंको स्वतन्त्र ईश्वर मानकर कभी एक देवताकी; कभी अन्य देवताकी शरण लेता फिरता है। कुसंस्कारके कारण ही जीव गुरुकी अवज्ञा करता है, शास्त्रोंकी निंदा करता है, नामके फलको अतिशयोक्ति मानता है, भगवन्नामको दूसरे–दूसरे शुभ कर्मोंके समान मानता है, नामके बलपर पाप करता है, देह तथा स्त्री–पुत्र–परिवार–धनको 'मैं' और 'मेरा' मानता है, अनधिकारी व्यक्तियोंको हरिनाम देता है इत्यादि; दस अपराधोंमें मत्त रहता है। ऐसी दशामें जीवका कल्याण कैसे हो सकता है? इसलिए कहते हैं—

असद्भिः सह सङ्गस्तु न कर्त्तव्यः कदाचन।
यस्मात् सर्वार्थ हानिः स्यादधः पातश्च जायते।।

तात्पर्य यह कि असत्पुरुषोंका संग कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे अर्थ–धर्म–काम और मोक्ष एवं भक्ति आदि समस्त प्रकारके अर्थ नष्ट हो जाते हैं। सत्संगमें ही कुसङ्गका दोष धोया जा सकता है तथा उसीसे समस्त प्रकारके अर्थोंकी प्राप्ति हो सकती है।

विशुद्ध वैष्णव–संगका प्रभाव

कुछ दिनों तक निरन्तर शुद्ध वैष्णवोंका सङ्ग करनेसे भाग्यवान पुरुषोंकी संस्कार–आसक्ति नष्ट हो जाती है—ऐसा देखा गया है। देवर्षि नारदके सङ्ग–प्रभावसे व्याध और रत्नाकर दस्यु (बाल्मीकि ऋषि) के कल्याण होनेकी बात कौन नहीं जानता? श्रीरामानुजाचार्यका यह उपदेश सब समय स्मरण रखनेके योग्य है कि—यदि तुम अपनी हजार चेष्टाओंके द्वारा अपनेको सुधारने असमर्थ हो रहे

हो, तो वैष्णव साधुओंके पास बैठा करो, तुम्हारे सब पाप धुल जायेंगे, शीघ्र ही तुम्हारा कल्याण हो जायेगा।' साधु-संगमें रहते-रहते कुछ ही दिनोंमें मन फिर जाता है, विषयासक्ति नष्ट हो जाती है, हृदयमें भक्तिका अंकुर पैदा हो जाता है। धीरे-धीरे वैष्णवोंके आचार-व्यवहारके प्रति रुचि पैदा हो जाती है। बहुतोंको स्त्री संगकी कामनाको, अर्थ-पिपासाको, भोग और मोक्षकी वासनाको, ज्ञान और कर्मके प्रति आदरकी भावनाको, मद्य-मांस और मैथुनकी स्पृहाको धूम्रपान और ताम्बूल (पान) सेवनकी आदतको—साधुसंगके प्रभावसे छोड़कर सदाचार अवलम्बन करते—शुद्धि भक्तिका आचरण करते देखा गया है। वैष्णवोंके अव्यर्थकालत्व धर्म (निरन्तर कृष्ण सेवामें व्यस्तता-रूप धर्म) से प्रभावित होकर बहुतोंको अलसता, परचर्चा, परनिंदा आदि अनर्थोंसे मुक्त होते देखा गया है।

हमने ऐसा देखा है कि वैष्णवोंके संसर्गसे बहुतों की दुष्टता और बहुतोंकी प्रतिष्ठाकी कामना दूर हो गयी है। यदि वही संग कुछ श्रद्धाके साथ किया जाय तो आश्चर्यजनक फल होता है। लोगोंके स्वभाव सम्पूर्ण रूपसे परिवर्तित हो जाते हैं, संसार-आसक्ति दूर हो जाती है, युद्धमें जय-प्राप्तिकी लालसा दूर हो जाती है। कहाँ तक गिनाया जाय, सत्संगके प्रभावसे राजा राज्यका लोभ छोड़कर, भोगी भोगकी वासना त्याग कर, धनी धनकी लोलुपता त्याग कर, कामी कामिनीका परित्याग कर, राजनीतिज्ञ राजनीति को तिलाञ्जलि देकर, ग्राम्यकवि ग्राम्य-कवितादिका व्यसन छोड़कर, तार्किक जगत्को अपने तर्कसे पराजित करनेके स्वप्नसे उठकर, अपने भौतिक या आणविक विज्ञानके चमत्कारसे विश्वको विनाशकी छोर पर लानेवाला जड़ वैज्ञानिक अपनी वैज्ञानिक गवेषणाको लात मारकर भगवानका अनन्य भक्त हो जाता है। वैष्णव-संगके बिना संस्कार-आसक्तिको दूर करनेका दूसरा उपाय नहीं दीख पड़ता।

द्रव्यासक्ति सबके लिये त्याज्य है

द्रव्योंके प्रति होने वाली समस्त प्रकारकी आसक्तियोंको दूर करनेका विशेष रूपसे प्रयत्न करना चाहिये। घर-बार, स्त्री-पुत्र, सुन्दर-सुन्दर आभूषण और वस्त्र, शरीर, भोजन, वृक्ष, पशु, पक्षी तथा अपने व्यवहारकी वस्तु आदिके प्रति गृही लोगोंकी निसर्गसे ही आसक्ति होती है। कुछ लोगोंको धूम्रपानमें, बहुतोंको मद्य-मांस आदि भोजनमें तथा दूसरोंको मादक द्रव्योंके सेवनमें इतनी अधिक आसक्ति होती है कि वे बुरी आदतें परमार्थ-साधनमें बड़ी बाधक सिद्ध होती है। कुछ लोग मद्य-मांस आदिके सामने भगवानके प्रसादका भी निरादर करनेमें आगा-पीछा नहीं करते। बार-बार धूम्रपानकी आदत भक्ति ग्रन्थोंके पाठका, उनके श्रवण और कीर्त्तनका अधिक देर तक रसास्वादनमें बाधक होती है। ऐसी आदतसे लाचार व्यक्ति मन्दिरमें अधिक देर तक नहीं ठहर पाते, सत्संगका सुख अधिक समय तक नहीं पा सकते। जब तक इन द्रव्यासक्तियोंको सम्पूर्ण रूपसे दूर नहीं किया जाता, तब तक भजन-सुखका अनुभव नहीं हो सकता है। सत्संग द्वारा ये सब आसक्तियाँ दूर हो जाती हैं; फिर भी साधन-भक्तिकी क्रियाओंके द्वारा इन छोटी-मोटी आसक्तियोंको दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। भगवद्भक्ति सम्बन्धी व्रतोंके पालनसे ये आसक्तियाँ दूर हो सकती हैं।

एकादशी आदि व्रतोंके पालनसे आसक्तिका दूर होना

एकादशी, जन्माष्टमी, गौरपूर्णिमा, रामनवमी, नृसिंहचतुर्दशी आदि व्रतोंका श्रद्धाके साथ नियम-पूर्वक पालन करनेसे ये आसक्तियाँ सहज ही दूर हो जाती हैं। व्रत और नियमोंका एक उद्देश्य आसक्तियोंको दूर करना भी है। व्रतोंके दिन सब प्रकारके भोगोंका वर्जन करके एकान्त मनसे भगवानका भजन करना ही एकमात्र विधि है।

भोग-द्रव्य दो प्रकारके होते हैं—प्राण-रक्षक द्रव्य

और इन्द्रिय–सुखकर द्रव्य। अन्न–जल आदि द्रव्य प्राण रक्षक हैं तथा मद्य, मांस, पान, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू आदि इन्द्रिय–सुखकर–द्रव्य हैं। व्रतोंके दिन इन्द्रिय सुखकर–द्रव्योंका सम्पूर्णरूपसे त्याग करना आवश्यक है। अन्यथा व्रतपालन नहीं होता। प्राण–रक्षक द्रव्योंका भी जितना तक हो सके संकोच करना चाहिए। शारीरिक अवस्थाके अनुसार कमसे कम जितना हो सके अनुकल्प स्वीकार करनेकी व्यवस्था है। परन्तु इन्द्रिय–सुखकर द्रव्यों द्वारा अनुकल्प की विधि नहीं है—उनका सम्पूर्णरूपसे त्याग करना ही विधि है।

भोग प्रवृत्तिको क्रमशः संकोच करना व्रत पालनके उद्देश्योंमें से एक उद्देश्य है। यदि कोई ऐसा सोचे कि आज व्रतके दिन किसी प्रकारसे कष्ट सहकर अमुक वस्तुका व्यवहार नहीं करूँगा, कल खूब मन भर इसका भोग करूँगा, तो व्रतका उद्देश्य सफल नहीं होता। क्योंकि क्रमशः अभ्यासके द्वारा उन द्रव्योंका संग त्याग करनेके लिये ही व्रत पालनकी व्यवस्था दी गई है। साधारणः व्रत तीन दिन व्यापी होता है। इस प्रकार तीन दिनों तक विषयोंका संग वर्जन करते–करते मास व्यापी चांद्रायण और चार मास व्यापी चातुर्मास्य आदि व्रतोंके द्वारा क्रमशः उन द्रव्योंको सदाके लिये छोड़ देना होगा। जिन लोगोंको व्रत पालनके समय 'क्षिप्रंभवति धर्मात्मा'—गीताकी यह वाणी याद नहीं रहती उनका वैराग्य हाथीके स्नानकी तरह क्षणिक होता है।

योषित और अभक्तोंका संग त्याज्य है

जो लोग शुद्ध भक्ति लाभ करना चाहते हैं, उनके लिए अभक्तोंका संग तथा योषित (स्त्री) का संग सर्वथा वर्जनीय है। इसके लिये सत्संगकी नितांत आवश्यकता है। साथ ही द्रव्यासक्तिको दूर करनेके लिये वैष्णव व्रतोंका पालन करना भी जरूरी है। इनमें लापरवाही करना उचित नहीं। यदि अश्रद्धापूर्वक इनका पालन किया भी जाय तो फल नहीं होता, बल्कि उत्तरोत्तर अहंकार और कपटताकी वृद्धि होती है और जन्म–जन्मान्तर तक श्रवण–कीर्तन होने पर भी उनके लिये हरिभक्ति दुर्लभ होती है।

संग और संग–त्याग किसे कहते हैं?

संग और संग–त्यागके सम्बन्धमें बहुतसे लोगोंको अनेक प्रकारके सन्देह उत्पन्न होते हैं। सन्देह होने की बात भी है; क्योंकि यदि असत् व्यक्तियों या वस्तुओंके निकट जानेको ही संग कहा जाय, तो ऐसे संग को दूर करनेका उपाय नहीं है। जब तक शरीर है, तब तक जीवन निर्वाहोपयोगी द्रव्यों या वस्तुओंका सङ्ग कैसे त्यागा जा सकता है? गृहस्थ वैष्णव परिवारके लोगोंको कैसे छोड़ सकते हैं? घर पर रहा जाय या वनमें रहा जाय, शरीर निर्वाहके लिये असत् लोगोंके पास अवश्य ही जाना पड़ेगा। इसलिए सङ्ग और सङ्गत्यागकी सीमा निर्द्धारित करते हुए रूप गोस्वामीने उपदेशामृतमें लिखा है।

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुंक्ते भोजयते चैव षड् विधं प्रीतिलक्षणम्।।

हे साधकजन! शरीर–यात्रा निर्वाहके लिये सत् और असत् दोनों प्रकारके लोगोंके निकट अवश्य ही जाना पड़ेगा। इस विषयमें क्या गृही, क्या गृहत्यागी दोनों समान हैं। किन्तु एक उपाय है, निकटता भी होगी और सङ्ग करना भी नहीं होगा। परस्पर लेन–देन, परस्पर कथोपकथन और परस्पर भोजन आदि कार्य यदि प्रीतिपूर्वक किये जाँय, तभी सङ्ग होता है। भूखेको जो भोजन और गरीबोंको जो सहायता दी जाती है तथा धार्मिक दातासे जो ग्रहण किया जाता है, वह केवल कर्त्तव्य समझ कर दिया लिया जाता है—इन कार्योंमें प्रीतिके अभावके कारण दाता और ग्रहीताका परस्पर सङ्ग नहीं होता। परन्तु ये सब कार्य प्रीतिपूर्वक होनेपर सङ्ग कहलाते हैं। अतः अवैष्णव अर्थात् बुरे लोगोंके साथ इन व्यवहारोंको

प्रीतिपूर्वक करनेसे कुसङ्ग होता है और शुद्ध वैष्णवोंके साथ करनेसे सत्सङ्ग होता है।

मान लो, कोई असत् व्यक्ति तुम्हारे पास आया। अब तुम्हें चाहिये कि तुम उसके साथ जैसा आवश्यक हो कर्त्तव्य समझकर व्यवहार करो; किन्तु गूढ़ बातचीत न करो। गूढ़ बातचीतसे साधारणतः प्रीति हो जाया करती है और प्रीति होते ही संग-दोष उपस्थित हो जाता है। यदि तुम्हारे निकटके बन्धु-बाँधवोंमेंसे कोई आ जाय, तो तुम उससे आवश्यक बातें कर सकते हो। किन्तु उसके साथ हृदयकी बातें प्रीति-पूर्वक नहीं करनी ही उचित हैं। यदि तुम्हारा वही बन्धु वैष्णव हुआ तो वे ही बातें प्रीतिपूर्वक करनी चाहिये। ऐसा होनेसे बन्धु-बाँधवोंसे कोई विरोधकी संभावना न होगी। व्यवहारिक बातोंसे सङ्ग नहीं होता। बाजारमें कुछ खरीदने या बेचनेके समयसे किसी नये खरीददार या विक्रेतासे जैसे व्यवहार होता है, ठीक उसी प्रकारका व्यवहार साधकको साधारण लोगोंके साथ निर्लिप्त होकर करना उचित है। परन्तु शुद्ध भक्तोंके साथ वे ही व्यवहार प्रीतिपूर्वक होने उचित हैं।

भूखेको अथवा विद्या-व्यवसायियोंको भोजन कराते समय उनके साथ अतिथि जैसा व्यवहार करो, परन्तु विशेष प्रीति करनेकी आवश्यकता नहीं। यत्नमें कोई त्रुटि न हो, फिर भी उससे प्रीति न करो। केवल साधुसन्तोंको प्रीतिपूर्वक खिलाओ और उनके द्वारा दिये गये प्रसादको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करो। स्त्री-पुत्र, दास-दासी और आगन्तुक तथा आने-जानेवाले लोगोंके साथ उपरोक्त प्रकारसे व्यवहार करनेसे असत्संगका दोष नहीं लगता, और सत्सङ्ग करना भी हो जाता है। इस प्रकार सोच-समझ कर कुसंगका परित्याग नहीं करनेसे कृष्ण-भक्ति प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं।

संग-त्यागके सम्बन्धमें श्रीरूपगोस्वामीके उपदेश

गृहत्यागी वैष्णवोंको उचित है कि सद्गृहस्थोंके घरमें मधुकरी द्वारा जो कुछ पावें, विचार कर ग्रहण करें। उन्हें सब समय स्थूल और मधुकरी भिक्षाका अन्तर स्मरण रखना चाहिये। गृहस्थ वैष्णव सच्चरित्र गृहस्थोंके घरपर ही प्रसाद और अन्न ग्रहण करेंगे। अभक्त और दुराचार व्यक्तियोंके यहाँ सदा सावधानीसे प्रसाद-सेवा करेंगे। इस विषयमें अधिक उपदेशकी आवश्यकता नहीं है। सुकृतिसम्पन्न जीवको थोड़ी बातोंसे ही भक्तिके प्रति श्रद्धा हो जाती है। कृष्णकी कृपासे उनमें कुछ-कुछ बुद्धियोगका उदय हो गया होता है। उसी बुद्धियोगके द्वारा वे आचार्योंके उपदेशोंका मर्म सहज ही समझ लेते हैं। अतः ऐसे लोगोंके लिये संक्षेपमें कुछ उपदेशोंकी आवश्यकता है। परन्तु सुकृतिहीन लोगोंमें श्रद्धाका अभाव होता है। ऐसे लोगोंको अधिक उपदेश देनेपर भी कुछ फल नहीं होता। इसीलिए रूप गोस्वामीने थोड़े ही शब्दोंमें साधकोंके लिए उपदेश दिये हैं।

वैष्णव व्रत तालिका

२७ अग्रहायण	१४ दिसम्बर सोमवार	सफला एकादशी व्रत, अगले दिन ९-४५ से पहले पारण।
२ पौष	१८ दिसम्बर शुक्रवार	अमावस्या।
५ पौष	२१ दिसम्बर सोमवार	श्रील जीव गोस्वामी एवं श्रीजगदीश पण्डितका तिरोभाव।
१३ पौष	२९ दिसम्बर मंगलवार	पुत्रदा एकादशी व्रत, अगले दिन ९-५२ से पहले पारण।
१७ पौष	२ जनवरी शनिवार	पूर्णिमा।

पाञ्चरात्रिक गुरु–परम्परा और भागवत–परम्परा

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज

आजकल कुछ दिनोंसे श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें श्रीगुरु परम्पराके सम्बन्धमें नए–नए प्रश्नोंके आविष्कार हो रहे हैं। कुछ लोगोंका विचार यह है कि श्रीबलदेव विद्याभूषण मध्व–सम्प्रदायमें दीक्षित वैष्णव हैं। वे गौड़ीय वैष्णव नहीं थे। गौड़ीय वैष्णवोंका संग प्राप्त होनेपर भी मध्व सम्प्रदायका प्रभाव इनके ऊपर इतना अधिक था कि इन्होंने स्वरचित ग्रन्थोंमें हठपूर्वक श्रीचैतन्यमहाप्रभु एवं उनके अनुगत श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायको मध्व सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त किया है। अतः इन्हें श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायका आचार्य नहीं माना जा सकता। कुछ अनभिज्ञ लोग कहते हैं—जगद्गुरु श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादजीने एक नवीन भागवत–परम्पराकी सृष्टि की है। इस भागवत–परम्परामें इन्होंने श्रील भक्तिविनोद ठाकुरको वैष्णव सार्वभौम श्रील जगन्नाथदास बाबाजी महाराजका शिष्य तथा श्रीगौरकिशोरदास बाबाजी महाराजको श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरका शिष्य बतलाया है। कुछ सहजिया वैष्णव लोग यह भी शंका उपस्थित कर रहे हैं कि श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वतीने स्वयं ही संन्यास ग्रहण किया है, अतः इनकी भी गुरु–परम्परा ठीक नहीं है। इन समस्त आक्षेपोंका परमाराध्यतम श्रील गुरुदेवने सबल युक्तियों एवं शास्त्रोंके सुदृढ़ प्रमाणोंके द्वारा खण्डन किया है। उसका विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आजकल श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादके शिष्य एवं प्रशिष्य सारे विश्वमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके आचरित एवं प्रचारित शुद्ध कृष्णभक्ति और श्रीहरिनामका व्यापकरूपसे प्रचार कर रहे हैं। इनके व्यापक प्रचारसे विश्वके अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेलजियम, कनेडा, आस्ट्रेलिया, इण्डोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर आदि प्रधान–प्रधान समस्त राष्ट्रोंमें, नगरों एवं ग्रामों यहाँ तक कि गली–गलीमें हरिनामकी ध्वनि गुंजित हो रही है और विदेशी युवक एवं युवतियाँ भी शुद्धभक्तिके अनुशीलनमें बड़े उत्साहके साथ लग रहे हैं। भारतीय वैष्णवोंके साथ मिलकर सर्वत्र हरिनाम संकीर्तन एवं शुद्ध भक्तिका प्रचार कर रहे हैं। इससे क्षुब्ध होकर कतिपय अनभिज्ञ नामधारी सहजिया वैष्णवलोग सारस्वत गौड़ीय वैष्णव धाराके प्रति झूठमूठका आक्षेप उपस्थित कर साधारण जनताको दिग्भ्रान्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। श्रील गुरुदेवने गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव नामक स्वरचित प्रबन्धमें इस विषयमें एक युक्तिपूर्ण सुसिद्धान्त की स्थापना की है। हम उस प्रबन्धसे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहे हैं—

भाष्यकारकी गुरु परम्परा

'भाष्यकारकी गुरुपरम्पराका विचार करनेपर हम जिस ऐतिहासिक सत्यकी उपलब्धि करते हैं' उसे आपलोगोंके निकट वर्णन किया जा रहा है। उन्होंने सर्वप्रथम विरक्त शिरोमणि पीताम्बरदासके निकट भक्तिशास्त्रमें विशेष निपुणता लाभ की। पश्चात् कान्यकुब्जवासी शौक्र ब्राह्मण कुलोद्भूत श्रीराधादामोदरदास नामक एक वैष्णवके निकट पाञ्चरात्रिकी दीक्षामें दीक्षित हुए। श्रीराधादामोदरदास रसिकानन्द मुरारिके पौत्र थे। उन्होंने एक दूसरे कान्यकुब्जीय ब्राह्मण श्रीनयनानन्ददेव गोस्वामीके निकट दीक्षा ग्रहण की। रसिकानन्द प्रभु भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणके पाञ्चरात्रिक गुरु–परम्परामें चतुर्थ पुरुष हैं। श्रीरसिकानन्द प्रभु श्रीश्यामानन्द प्रभुके शिष्य थे।

पहले जिन नयनानन्ददेव गोस्वामीका उल्लेख किया गया है वे श्रीरसिकानन्दके पुत्र थे। श्रीश्यामानन्दके गुरु श्रीहृदय-चैतन्य और हृदय चैतन्यके गुरु गौरीदास पण्डित थे, श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुने गौरीदास पण्डितके ऊपर कृपाकी थी। श्रीश्यामानन्द प्रभु आचार्य हृदय-चैतन्यके शिष्य होनेपर भी परवर्तीकालमें उन्होंने श्रीजीवगोस्वामीका शिष्यत्व ग्रहण किया। श्रीजीवगोस्वामी भी रूपगोस्वामीके शिष्य और श्रीरूपगोस्वामी श्रीसनातन गोस्वामीके शिष्य थे। श्रीसनातन गोस्वामी श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत परिकर थे।

भाष्यकारकी शिष्य-परम्परा

श्रीमन्महाप्रभुसे प्रारंभकर भाष्यकार श्रीबलदेव विद्यभूषण तक की पाञ्चरात्रिक परम्पराका उल्लेख किया गया है। नीचे शिष्य-परम्पराका उल्लेख किया जा रहा है—श्रीउद्धरदास, कहीं-कहीं उद्धवदासका भाष्यकारके शिष्यरूपमें उल्लेख देखा जाने है। किसी-किसी मतसे ये दोनों पृथक् व्यक्ति हैं। जैसा भी हो उद्धवदासके श्रीमधुसूदनदास नामक शिष्य थे। जगन्नाथदास बाबाजी महाराज इन्हीं मधुसूदनदासके शिष्य थे। ये सिद्ध जगन्नाथदासके नामसे कुछ दिन पूर्व माथुर मण्डल, क्षेत्र मण्डल और गौड़ मण्डलमें सार्वभौम वैष्णवके रूपमें प्रसिद्ध हुए। इन सिद्ध जगन्नाथ दास बाबाजी महाराजको ही श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने भागवत परम्परा क्रमसे भजन शिक्षागुरु रूपमें ग्रहण किया। श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने वैष्णव-सार्वभौम जगन्नाथदास बाबाजी महाराजके निर्देशानुसार श्रीमन्महाप्रभुके जन्मस्थल श्रीधाम मायापुरका प्रकाश किया था। श्रीगौरकिशोर दास बाबाजी महाराजके शिक्षागुरु या भजनगुरु श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर थे। श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी महाराजजीने मेरे गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद' को दीक्षामन्त्र आदि प्रदानकर अपने शिष्यके रूपमें वरण किया था, जो लोग इस परम्पराको स्वीकार करनेमें अक्षम हैं वे श्रीतोताराम बाबाजी महाराज द्वारा उल्लिखित तेरह प्रकारके अपसम्प्रदायोंमें परिगणित हैं अथवा चौदहवें अपसम्प्रदायके सृष्टिकर्ता हैं।

पाञ्चरात्रिक परम्परा एवं भागवत परम्परा

उल्लिखित गुरु-परम्परासे हम जान पाते हैं कि श्रीबलदेव विद्याभूषण श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत श्रीश्यामानन्द परिवारके अन्तर्गत हैं। आचार्य श्रीश्यामानन्दके श्रीजीवगोस्वामीका आनुगत्य स्वीकार करनेके कारण तथा श्रीजीवगोस्वामीके एकान्त रूपानुग होनेके कारण श्रीबलदेव विद्याभूषण भी रूपानुग वैष्णव हैं। जो लोग बलदेव विद्याभूषणको रूपानुग नहीं मानकर श्यामानन्द परिवार भुक्त कहकर यह मानते हैं कि वे उन्नत उज्ज्वल रसके परमोच्चतम सेवाभावके अधिकारी नहीं हैं; वे निश्चय ही भ्रान्त एवं अपराधी हैं। श्रीबलदेव विद्याभूषणके श्रीदामोदरदासके निकट पांचरात्रिक दीक्षामें दीक्षित होनेपर भी उन्होंने श्रीमद्भागवत एवं गोस्वामियोंके भक्तिशास्त्रोंकी शिक्षा ग्रहण की थी। पाञ्चरात्रिक परम्परासे भागवत-परम्पराका श्रेष्ठत्व है। भागवत परम्परा भजन-निष्ठाके तारतम्यके ऊपर प्रतिष्ठित है। भागवत परम्परामें पाञ्चरात्रिक परम्परा अनुस्यूत रहनेके कारण भागवत परम्पराका माधुर्य एवं श्रेष्ठत्व है। इसमें कालगत व्यवधान नहीं होता। शुद्धभक्तिके विचारसे पाञ्चरात्रिक और भागवत दोनों ही मत एकार्थ प्रतिपादक हैं। श्रीचैतन्य चरितामृतमें कहा गया है—पाञ्चरात्रे भागवते एइ लक्षण कय (चै. च. म. १९/११९) प्राकृत सहजिया सम्प्रदाय जिस प्रकार श्रीरूपगोस्वामीके अनुगतजनके रूपमें अपना परिचय देकर आचार्य श्रीजीवगोस्वामीके चरणोंमें अपराध सञ्चय करते हैं, उसी प्रकार आजकल जाति गोस्वामी उनका उच्छिष्ट ग्रहण करने वाले कतिपय सहजिया कर्ताभजा किशोरीभजा, भजन खाजा, सम्प्रदायके लोग चक्रवर्ती ठाकुरके अनुगत

होनेका अभिमान करते हुए भी भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणके प्रति नाना प्रकारके अवज्ञासूचक वाक्योंका प्रयोगकर अत्यन्त घृणित एवं नरकगामी हो रहे हैं।

हम यहाँपर पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा एवं भागवत परम्पराकी तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसके द्वारा पाठकवर्ग श्रीभागवत-परम्पराका वैशिष्ट्य अच्छी तरह समझ सकेंगे तथा इसके द्वारा पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा भागवत परम्पराके अन्तर्भुक्त है—यह भी समझ सकेंगे।

इस तालिकाके द्वारा हम श्रीश्यामानन्द प्रभु, श्रीनरोत्तम ठाकुर, श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी, श्रीबलदेव विद्याभूषण, श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर तथा श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर आदिकी पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा तथा भागवत परम्पराका उल्लेख करेंगे।

श्रीश्यामानन्द प्रभु—पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परामें श्रीनित्यानन्द प्रभुके शिष्य गौरीदास पण्डित हैं और उनके शिष्य हृदयचैतन्य श्यामानन्द प्रभुके दीक्षागुरु हैं। भागवत परम्परामें श्रीचैतन्य महाप्रभुके शिष्य श्रीसनातन गोस्वामी, उनके शिष्य रूप गोस्वामी, उनके शिष्य श्रीजीव गोस्वामी हैं। इन्हीं श्रीजीव गोस्वामीके शिक्षा-शिष्य हैं—श्रीश्यामानन्द प्रभु। यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि श्रीजीवगोस्वामी तत्त्व, रस, भजन आदि सभी विषयोंमें श्रीहृदयचैतन्यसे श्रेष्ठ थे। इसीलिए श्रीहृदयचैतन्यने स्वयं ही उन्नत भजनशिक्षाके लिए श्रीश्यामानन्द प्रभुको श्रीजीव गोस्वामीके पास भेजा और श्रीश्यामानन्द प्रभुने श्रीजीव गोस्वामीका आनुगत्य स्वीकार किया। अतः यहाँ यह विचारणीय है कि श्रेष्ठत्व किसका है—पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्पराका अथवा भागवत परम्परा का?

श्रीनरोत्तम ठाकुर—इसी प्रकार पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परामें श्रीनरोत्तम ठाकुरके गुरु हैं—श्रीलोकनाथ गोस्वामी। किन्तु श्रीलोकनाथ गोस्वामीके पाञ्चरात्रिक दीक्षा गुरुका उल्लेख नहीं मिलता। श्रीगौड़ीय-वैष्णव-अभिधान आदिमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको इनका गुरु बतलाया गया है, किन्तु यह सर्वविदित तथ्य है कि श्रीमन्महाप्रभुने किसीको पाञ्चरात्रिक प्रणालीके अनुसार शिष्य नहीं बनाया। अतः यदि श्रीमन्महाप्रभु श्रीलोकनाथ गोस्वामीके गुरु हैं, तो वह भागवत परम्पराके आधारपर ही हैं। दूसरी ओर श्रीनरोत्तम ठाकुर श्रीलोकनाथ गोस्वामीके पाञ्चरात्रिक शिष्य होनेपर भी भागवत-परम्परामें वे भी श्रीजीव गोस्वामीके ही शिष्य हैं और उन्हींका आनुगत्य करते हुए भजनशिक्षामें निष्णात हुए।

श्रीरघुनाथ दास गेस्वामी पाञ्चरात्रिक परम्परामें श्रीयदुनन्दनाचार्यके शिष्य हैं, जो कि श्रीअद्वैताचार्यकी पाञ्चरात्रिक शाखामें अवस्थित हैं। दूसरी ओर श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीके जीवन चरित्रपर यदि हम गम्भीरतासे विचार करें, तो पाते हैं कि श्रीस्वरूप-दामोदर और श्रीरूप गोस्वामीकी भजन-शिक्षाका अमिट प्रभाव सुस्पष्ट है। श्रीस्वरूपदामोदर और श्रीरूप गोस्वामी भागवत-परम्परामें इनके गुरु हैं। यहाँ भी यदि हम पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्परा और भागवत परम्पराकी तुलना करें, तो भागवत परम्पराका श्रेष्ठत्व सूर्यकी भाँति प्रकाशमान पाते हैं।

श्रीबलदेव विद्याभूषण—पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्पराके विचारसे श्रीश्यामानन्द प्रभुकी परम्परामें श्रीराधादामोदरके ये पाञ्चरात्रिक शिष्य हैं। दूसरी ओर भागवत-परम्पराकी दृष्टिसे ये श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके शिष्य हैं। श्रीराधादामोदरने स्वयं ही श्रीबलदेव विद्याभूषणको श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके निकट श्रीमद्भागवत एवं अन्यान्य गोस्वामी-ग्रन्थोंके अनुशीलन तथा उच्च भजन-शिक्षाके लिए भेजा था। श्रील बलदेव विद्याभूषणके जीवनमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका आनुगत्य सर्वविदित है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके आनुगत्यमें ही इन्होंने गलतागद्दीमें

पाञ्चरात्रिक गुरु–परम्परा तथा भागवत–परम्परा

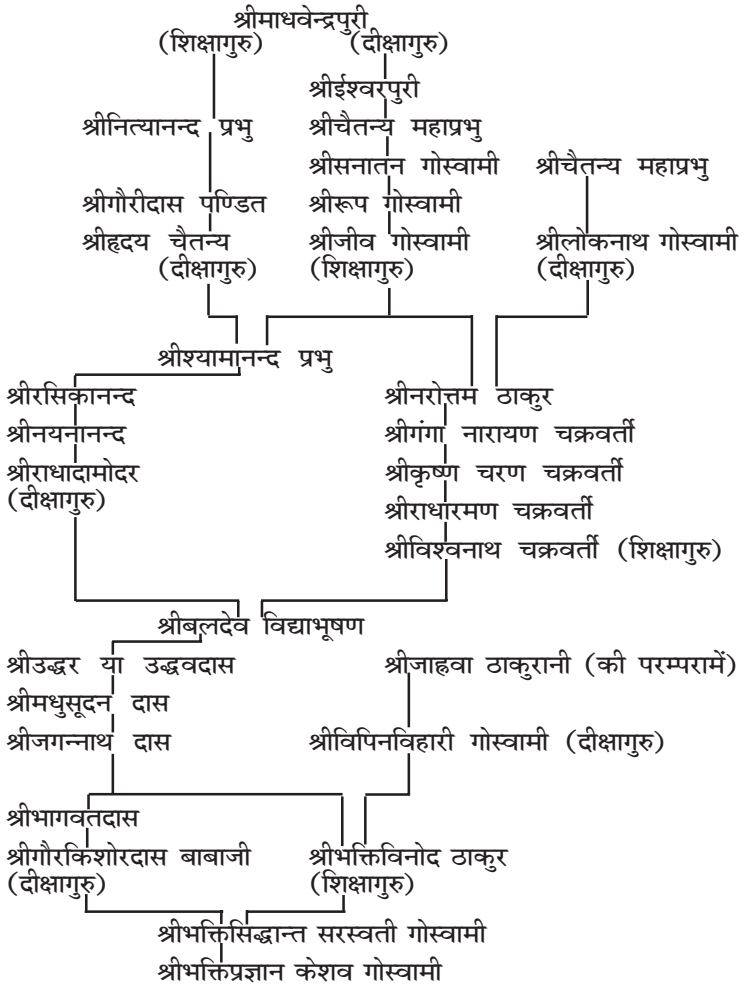

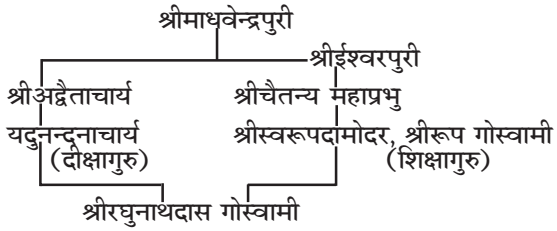

श्रीवैष्णवोंको परास्तकर श्रीश्रीराधागोविन्दजीकी सेवा-पूजाको अक्षुण्ण रखा तथा उन श्रीगोविन्ददेवका प्रसाद प्राप्तकर श्रीगोविन्दभाष्यकी रचना की, जो श्रीरूप गोस्वामीके आराध्य देव थे। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके रूपानुगत्वके विषयमें संशयका कोई स्थल ही नहीं है। अतः श्रीलचक्रवर्ती ठाकुरके अनुगत होनेके कारण इनके भी रूपानुगत्वमें कोई संशय नहीं है। दूसरी ओर यह सर्वविदित तथ्य है कि इन्होंने श्रीगोविन्ददेवकी कृपा प्राप्तकर उन्हींकी सेवाको अक्षुष्ण रखा, जो कि श्रीरूपगोस्वामीके प्राणधनस्वरूप थे। अतः इस दृष्टिकोणसे भी श्रीरूपगोस्वामी और उनके आराध्यदेव श्रीगोविन्ददेवकी कृपा प्राप्त करनेके कारण क्या इनके रूपानुगत्वमें कोई संशय रह जाता है?

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर—पाञ्चरात्रिक गुरु-परम्पराके विचारसे श्रीविपिन विहारी गोस्वामी इनके दीक्षा गुरु हैं, जो श्रीश्रीजाह्नवा ठाकुरानीकी पाञ्चरात्रिक-परम्परामें अवस्थित हैं। दूसरी ओर वैष्णव सार्वभौम श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराज भागवत-परम्परामें इनके भजन-शिक्षा गुरु हैं। जगन्नाथ दास बाबाजी महाराज श्रीबलदेव विद्याभूषणकी परम्परामें प्रसिद्ध मधुसूदन दास बाबाजी महाराजके शिष्य हैं। श्रीविपिनविहारी गोस्वामीसे वैष्णवसार्वभौम श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजका तत्त्वज्ञान-भजनशिक्षा आदि विषयोंमें श्रेष्ठत्व बतानेकी आवश्यकता ही नहीं है। श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके जीवनमें भी श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजके आनुगत्यकी छाप है, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर—पाञ्चरात्रिक गुरुपरम्पराके विचारसे इनके दीक्षा गुरु श्रीगौरकिशोरदास बाबाजी महाराज हैं। श्रील बाबाजी महाराज पाञ्चरात्रिक परम्परामें श्रीजाह्नवा ठाकुरानीकी शाखामें अवस्थित हैं। श्रील बाबाजी महाराजने वैष्णव सार्वभौम श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजके शिष्य श्रीभागवत दास बाबाजी महाराजसे वेष ग्रहण किया। अतः भागवत-परम्परामें श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी महाराज श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजकी शाखामें हुए। इस प्रकार श्रील सरस्वती ठाकुर पाञ्चरात्रिक परम्परामें श्रीजाह्नवा ठाकुरानीकी परम्परामें तथा भागवत परम्परामें श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराजसे जुड़े हुए हैं।

दूसरी ओर इनके जीवनचरित्रपर प्रकाश डालनेसे यह सिद्ध होता है कि इन्होंने श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके आचार, विचार, भजनप्रणाली एवं उनकी आकांक्षापूर्तिको ही अपने जीवनका उद्देश्य बनाया। अतः भागवत-परम्परामें श्रीभक्तिविनोद ठाकुर इनके गुरु हुए, जिनके गुरु (भागवत-परम्परामें) श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी महाराज थे। अतः श्रीगौड़ीय मठोंके संस्थापक आचार्य श्रील सरस्वती ठाकुरकी गुरु-परम्परापर अँगुली उठानेका तनिक भी अवकाश नहीं मिलता है।

पाञ्चरात्रिक-परम्परा एवं भागवत-परम्पराके विषयमें और भी कतिपय विचारणीय तथ्य हैं—

(१) यदि पाञ्चरात्रिक दीक्षा गुरु स्वरूपतः (अपने सिद्ध स्वरूपमें) शिष्यसे अपेक्षाकृत निम्न रसमें अवस्थित हो, तो वे गुरु अपने उस शिष्यको किस प्रकार उन्नत रसकी भजन शिक्षा देंगे? अतः इस स्थितिमें उन्नत भजन शिक्षाके लिए शिष्यको अन्यत्र वैसे भजनशील वैष्णवकी शरणमें जाना पड़ेगा, जो उसे वैसी उच्च भजन शिक्षा दे सकते हैं। उदाहरणस्वरूप श्रीहृदयचैतन्य स्वरूपतः कृष्णलीलामें सख्यरसके परिकर थे, किन्तु उनके शिष्य श्रीश्यामानन्द प्रभु (दुःखी कृष्णदास) मधुररसके परिकर थे। अतएव श्रीहृदयचैतन्यने स्वयं ही उन्हें श्रीजीव गोस्वामीके समीप मधुर-रसोचित-भजनशिक्षाके लिए भेजा था।

(२) यदि पाञ्चरात्रिक परम्परामें गुरु और शिष्य एक ही रसमें हों, किन्तु गुरु उतने उन्नत अधिकारमें

न हों, तो शिष्यको उच्चतर भजन शिक्षाके लिए अन्य उत्तम भागवतकी शरणमें जाना पड़ेगा, जो कि भागवत-परम्परामें उनके गुरु कहे जाएँगे।

अतः इन दो विचारोंसे हम देखते हैं कि पाञ्चरात्रिक प्रणालीकी अपनी कुछ त्रुटियाँ हैं, किन्तु भागवत-परम्परा इन सबसे मुक्त सर्वथा निर्दोष है।

(३) समस्त गौड़ीय सम्प्रदाय अपनेको श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुगत मानता है और श्रीमन्महाप्रभुको जगद्गुरुके रूपमें मानता है। किन्तु उनके इस आनुगत्यका तथा महाप्रभुको गुरु माननेका आधार क्या है? श्रीमन्महाप्रभु पाञ्चरात्रिक परम्परामें किसीके भी गुरु नहीं हैं, यद्यपि वे स्वयं पाञ्चरात्रिक परम्परामें श्रीईश्वरपुरीके शिष्य हैं। श्रीमन्महाप्रभुने किसीको दीक्षामन्त्र दिया हो, ऐसा कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। तथापि यदि गौड़ीय वैष्णव समाज श्रीचैतन्य महाप्रभुके आनुगत्य और शिष्यत्वको स्वीकार करता है, तो उसका एक ही आधार है और वह है—भागवत-परम्परा।

(४) प्रत्येक गौड़ीय वैष्णव अपनेको रूपानुग कहनेमें गर्वका बोध करता है। परन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि श्रीरूप गोस्वामीने कितने लोगोंको पाञ्चरात्रिक विधिसे अपना शिष्य बनाया? एकमात्र जीव गोस्वामी ही उनके दीक्षा शिष्य हैं। तथापि गौड़ीय वैष्णव समाज किस आधारपर श्रीरूप गोस्वामीको अपना गुरु स्वीकार करता है। स्वयं श्रीरूप गोस्वामी भी श्रीचैतन्य महाप्रभुके दीक्षित शिष्य नहीं हैं। अतः रूपानुगत्व और रूपानुगत्व द्वारा चैतन्यानुगत्व एक साथ कैसे सम्भव है? स्वयं श्रीसनातन गोस्वामी, जो श्रीरूप गोस्वामीके भी शिक्षा गुरु हैं अपनेको रूपानुग कहनेमें कोई दुविधा बोध नहीं करते। इन सबका एक ही आधार है—भागवत-परम्परा। भागवत-परम्पराके आधारपर ही श्रीरूप गोस्वामी श्रीचैतन्य महाप्रभुके शिष्य हैं, और गौड़ीय वैष्णव समाज श्रीरूप गोस्वामीको अपना गुरु मानता है।

इन तथ्योंसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि भागवत-परम्परा पाञ्चरात्रिक-परम्पराको क्रीड़ीभूतकर सर्वदा देदीप्यमान है। जो इन तथ्योंकी अनदेखी कर श्रीबलदेव विद्याभूषण, श्रीभक्तिविनोद ठाकुर, श्रीसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरके रूपानुगत्व और गुरुप्रणालीपर कटाक्ष करते हैं, वे निश्चय ही श्रीचैतन्य महाप्रभुके घोर विरोधी और कलिके गुप्तचर हैं।

अतएव परमाराध्यतम श्रील गुरुदेवने बलदेव विद्याभूषणकी गुरुप्रणाली तथा भागवत एवं पाञ्चरात्रिक परम्पराके विषयमें जो विचार लिखे हैं, वे युक्तिसंगत और शास्त्रसिद्धान्त सम्मत हैं।

गीताकी वाणी

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीश्रीमद्भक्ति भूदेव श्रौती महाराज

'गै'—धातुके उत्तर 'क्त' प्रत्यय योग करनेसे (स्त्रीलिङ्गमें आप्) 'गीता' शब्द बनता है। गीताका अर्थ है—गान या कीर्त्तन। जप और ध्यानकी अपेक्षा गीत या कीर्त्तनका वैशिष्ट्य यह है कि इसे बहुत लोग श्रवण करनेका सुयोग प्राप्त करते हैं, इससे बहुतोंका उपकार होता है, दूसरी तरफ जप और ध्यानसे केवल अपना ही उपकार होता है, यदि साधक बगुला भगत न हो। ध्यानमें केवल स्वार्थपरता होती है, किन्तु कीर्त्तनमें स्वार्थपरता और निःस्वार्थपरताका अपूर्व सम्मेलन रहता है। वक्ता—श्रेष्ठ व्यक्ति—गुरु या आचार्य गान करते हैं और श्रद्धालु शुश्रूषु विनीत श्रोता—शिष्यवृन्द उसे

श्रवण करते हैं। इसीलिए गीताको उपनिषद् कहते हैं। गुरुदेवके मुखसे कीर्त्तन सुनकर, उस विषयमें मनोयोग देनेसे उसी श्रवणके प्रभावसे शिष्य कृष्णके चरणकमलोंसे युक्त हो जाता है। कीर्त्तनके बिना कृष्णके साथ जीवोंके योग होनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है। भगवान् कपिलदेवजी कहते हैं—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य–संविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति।।

(श्रीमद्भा॰ ३।२५।२५)

अर्थात् साधुओंके सत्संगके द्वारा अर्थात् दुःसंग और कपटता—आत्म–वंचनाकी इच्छाका परित्याग कर श्रद्धाके साथ भगवान्के पराक्रम–विषयक कथाओंका श्रवण करनेसे वह हृदय और कानोंको अतिशय प्रिय लगता है, अर्थात् अन्यान्य सभी इतर कथाओंको दूरकर भगवत्–कथायें ही श्रद्धालु जीवके हृदय पर अधिकार कर लेती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही भगवानके चरणोंमें श्रद्धा, रति और भक्तिका क्रमशः विकाश होता है।

गीताका माहात्म्य यद्यपि भगवान्के श्रीमुखकी वाणी नहीं है फिर भी हम कोई काम करनेके पहले उससे क्या फल मिलेगा, उसका हिसाब–किताब कर लेते हैं। जैसे—उस कामको करनेसे उनका समय वृथा तो नहीं गया। इसीलिए गीताके साथ तन्त्रोंमें कहे गये माहात्म्यको जोड़ दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि एक अध्याय, दो अध्याय अथवा एक आध श्लोक पढ़नेपर भी कुछ न कुछ फल अवश्य मिलेगा ही। जैसा भी हो फलकी आकांक्षा रखकर भी गीताका पाठ करते रहनेसे भाग्यवान् पुरुषोंके मंगल होनेकी सम्भावना रहती है। गीताका पाठ करनेसे समय बरबाद नहीं होगा। श्रीमद्भागवतका कथन है—

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ।
तस्यर्त्ते यत् क्षणो नीत उत्तमः श्लोकवार्त्तया।।

(श्रीमद्भागवत २।३।१७)

—जिसका समय भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंके गान अथवा श्रवणमें व्यतीत हो रहा है, उसके अतिरिक्त सभी मनुष्योंकी आयु व्यर्थ जा रही है। ये भगवान् सूर्य प्रतिदिन अपने उदय और अस्तसे उनकी आयु छीनते जा रहे हैं।

गीता, महाभारतके भीष्म पर्वके अन्तर्गत २५ वें अध्यायसे आरम्भ हुई है। महाभारतके प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ कहते हैं—

भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थश्च कृत्स्नशः।
गीतायामास्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता।।

(महाभारत भीष्मपर्व २५ अध्याय, १ ले श्लोक की टीका)

महाभारतमें समस्त वेदोंका अर्थ दिया गया है और गीतामें सम्पूर्ण महाभारतका तात्पर्य निहित है। इसीलिए गीताको सर्वशास्त्रमयी कहते हैं। श्रीमन्मध्वाचार्यने भी गीताके प्रथम अध्यायके अन्तमें कहा है—'सर्वभारतार्थसंग्रहां वसुदेवार्जुनसंवादरूपां भारतपारिजातमधुभूतां गीतामुपनिवबन्धः अर्थात् गीता सम्पूर्ण महाभारतके अर्थोका संग्रह है तथा वह महाभारतरूपी पारिजात वृक्षका मधु है।

एक श्रेणीके लोग ऐसे हैं, जिनकी धारणा है—अर्जुनको युद्धके लिए प्रोत्साहित करनेके लिए ही गीताका उपदेश दिया गया है, अतएव गीताका उद्देश्य युद्धमें प्रेरणा प्रदान करना है। ऐसे स्थूल धारणाके दृष्टिकोणसे गीताको एक राजनैतिक ग्रन्थ मानना स्वाभाविक है। किन्तु वहाँ 'टाट पर पाटकी बखिया' क्यों दी गई है? यदि अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त कराना ही उद्देश्य होता, तब भगवान् कृष्ण तो पहले ही कह देते हैं—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।

(गीता १८।६०)

"हे अर्जुन! जिसे तू मोहके वशमें होकर करना नहीं चाहता, तो भी अपने स्वभावज कर्मसे बँधा

तू विवश हुआ उसे करेगा।" यदि स्वभावज कर्मसे बँधा होनेके कारण विवश होकर अर्जुनको युद्ध करना ही पड़ता, तो फिर अर्जुनके लिए गीताकी राशि-राशि पारमार्थिक उपदेशोंकी आवश्यकता ही क्या पड़ी थी? विशेषतः जबकि भगवान् हृषीकेश अपनी इच्छामात्रसे ही अर्जुनको युद्धकी प्रेरणा देकर युद्ध करानेमें समर्थ थे, तब अर्जुनके प्रति गुह्य, गुह्यतर और गुह्यतम् आदि उपदेशोंके द्वारा श्रीकृष्णने अपना उद्देश्य व्यक्त क्यों किया? सुप्रसिद्ध गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रील जीव गोस्वामी प्रभुने 'कृष्ण सन्दर्भ' में गीताके प्रतिपाद्य विषयका वर्णन करते हुए लिखा है—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् (गीता २।११) इत्यादि ग्रन्थो न युद्धाभिधायकः। यतः कर्त्तुमित्यादि। ततः परमार्थाभिधायक एवायं तत्रापि गुह्यतरं सर्वगुह्यतमं च शृणु इत्याह। ईश्वर इत्यादि। य एकः सर्वान्तर्यामी ईश्वरः स एव सर्वाणि संसार-यंत्रारूढ़ानि भूतानि मायया भ्रमायन् तेषामेव हृद्देशे तिष्ठति सर्वभावेन पुरुष एवेदं सर्वम् इति भावनायाः सर्वेन्द्रिय-प्रवणतया वा परां शान्तिं तदीयां परमां भक्ति शमो मन्निष्ठता-बुद्धेरित्युक्तेः। स्थानं तदीयं धाम, गुह्याद् ब्रह्मज्ञानादपि गुह्यतरं, द्वयोः प्रकर्षे तरप्। अथेदमपि निजैकान्तभक्तवराय तस्मै न पर्याप्तमिति अवध्याय स्वयमेव महाकृपाभरेणोद्घाटित—परम रहस्यः श्रीमभगवानन्यामपि प्रद्युम्न-संकर्षण-वासुदेव परव्योमाधिप लक्षाण-भाजनीय तारतम्य-गम्यां भजनक्रम-भूमिकामतिक्रम्यैव सर्वतोऽप्युपादेयमेव सहसोपदिशति—'सर्वगुह्यतमं भूय' इति। यद्यपि गुह्यतमत्वोक्तेरेव गुह्य-गुह्यतराभ्यामपि प्रकृष्ट-मिदमित्यायाति, तथापि 'सर्व'—शब्द-प्रयोगो गुह्यतममपि परव्योमादर्थवृत्तिकत्वात्। बहूनां प्रकर्षे तमप्-अतएव परमम्। स्वकृत-तादृश-हितोपदेश-श्रवणे हेतुमाहं-इष्टोऽसि मे दृढ़मिति। परमाप्तस्य ममैतादृशं वाक्यं त्वयावश्यं श्रोतव्यमिति भाव इत्यर्थः। स्वस्य च तादृश-रहस्य-प्रकाशने हेतुमाह—तत इति। ततस्तादृशेष्टत्वादेव हेतोः। तदेवमौत्सुक्यमुच्छलय्य किं तदित्यपेक्षायां। स प्रणयाश्रु-कृताञ्जलिमेतत् प्रत्याह—मन्मना इति। मयि तन्मित्रतया साक्षादस्मिन् स्थिते श्रीकृष्णे मनो यस्य तथाविधो भव। एवं मद्भक्तो मदेक-तात्पर्यको भवेत्यादि। सर्वत्र मच्छब्दावृत्त्या मद्भजनस्यैव नाना प्रकारतया आवृत्तिः, कर्तव्या न त्वीश्वर—तत्त्वमात्र-भजनस्येति बोध्यते। साधनानुरूपमेव फलमाह—मामेवैष्यसीति। अवेनैवकारेणाप्यात्मनः सर्वश्रेष्ठत्वं सूचितम्। सत्यं त इत्यनेनात्रार्थे तुभ्यमेव शपेऽहमिति प्रणयविशेषो दर्शितः। पुनरपि अतिकृपया सर्वगुह्यतममित्यादि वाक्यार्थानां पुष्ट्यर्थमाह—प्रतिजाने इति।

(श्रीकृष्णसन्दर्भः—८२ अनुच्छेद)

अर्थात्—जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिए, उनके लिए तू शोक कर रहा है तथा पंडितोंकी सी बातें भी बना रहा है"। [२।११]—इत्यादि श्लोकसे आरम्भ किया हुआ गीता ग्रन्थ अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करानेके लिए नहीं कहा गया था। क्योंकि "मोहके वशमें होकर तू जिसे करना नहीं चाहता, स्वभावज कर्मसे बँधा हुआ तू उसे विवश होकर अवश्य ही करेगा।" [१८।६०]—गीताकी इस वाणीसे यह दिखलाया गया है कि अर्जुनको युद्धमें प्रवृत्त करानेके लिए इतने उपदेश बेकार हैं। अन्तर्यामी पुरुषके द्वारा प्रेरित होकर ही उनके लिए युद्ध करना अनिवार्य था। अतः गीता युद्ध-सूचक ग्रन्थ नहीं है, बल्कि परमार्थ सूचक ग्रन्थ है। उसमें भी फिर गुह्यतम श्रवण कर"—यह वचन इस बातकी सूचना देता है कि अर्जुनको ये वाणियाँ विशेष मनोयोगके साथ सुननेके लिए कहा गया है क्योंकि इन श्लोकोमें श्रीकृष्णका मुख्य वक्तव्य-विषय प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार वे श्रीमद्भगवद् गीताके अठारह अध्यायके उक्त श्लोकोंका गुरुत्व प्रकाश कर व्याख्या करते हैं—जो एक हैं, अथच सभी प्राणियोंके अन्तर्यामी

ईश्वर हैं, वे ही संसार रूपी यंत्रारूढ़ समस्त प्राणियोंको माया द्वारा घुमानेके लिए उनके हृदय-देशमें स्थित हैं।

"सर्व प्रकारसे यह पुरुष ही सभी रूपमें विहार कर रहा है"—ऐसी भावना कर अपनी इन्द्रियों द्वारा कृष्णभक्तिके अनुकूल कार्योंको स्वीकार करते हुए उनकी शरण ग्रहण कर। ऐसा करनेसे तू परमशान्ति-परमा भक्ति लाभ कर सकता है। शान्ति शब्दका अर्थ भक्तिसे है। ग्यारहवें स्कन्धमें श्रीभगवान् उद्धवको कहते हैं—"साधककी बुद्धि जब मुझमें निश्चलता प्राप्त होती है—स्थिरता लाभ करती है तो उसे शम कहते हैं, वही भक्तिका स्वरूप है। स्थान—ईश्वरका धाम है। ब्रह्मज्ञान—गुह्य है, ईश्वरज्ञान—ब्रह्मज्ञानकी अपेक्षा गुह्यतम है। इसके बाद ईश्वरकी आराधना भी अपने एकान्त और प्रिय भक्त अर्जुनके लिये पर्याप्त नहीं है—ऐसा सोचकर स्वयं प्रद्युम्न, संकर्षण, वासुदेव, और परव्योमपति नारायणका भजन उपदेश करना उचित होनेपर भी, उसको भी अतिक्रम कर—परम रहस्ययुक्त उपदेश करने लगे—'हे अर्जुन! तू हमारा अतिशय प्रिय है, इसलिए मैं तुझको अपना सर्वश्रेष्ठतम् वाणी सुना रहा हूँ, तू इसे सुन, इत्यादि। यद्यपि 'गुह्यतम' शब्दका प्रयोग करनेसे गुह्य और गुह्यतरकी अपेक्षा अधिक रहस्यपूर्ण समझा जाता है, तथापि उसके पहले 'सर्व' शब्दका प्रयोगकर गुह्यतमसे भी जो नारायणके भजनका प्रतिपादन शब्द है—अपने (श्रीकृष्ण) भजनकी श्रेष्ठताका प्रतिपादक किया है। शब्दकी वृत्ति जितनी दूर जा सके, उसे स्वीकार करना कर्त्तव्य है। इसीलिए 'सर्व' शब्दका प्रयोगकर अपने भजनको समस्त गुह्य भजनोंकी अपेक्षा भी रहस्ययुक्त निर्देश किये हैं। श्रीकृष्ण-भजनकी सर्वोत्तमता स्थापन करनेके लिए सर्व गुह्य-शब्दके आगे 'तम'—प्रत्ययका प्रयोग किये हैं। अर्जुनको अपने मुखसे निकले हुए इस उपदेशको श्रवण करनेका कारण बतलाते हैं—"मैं दृढ़तापूर्वक बोल रहा हूँ। तू हमारा अतिशय प्रिय है, अतएव परम विश्वासके योग्य हमारे वचनोंको सुनना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है।" और भगवान् स्वयं वैसे परम रहस्यको अर्जुनके सामने प्रकाश क्यों कर रहे हैं, इसका कारण निर्देश करते हुए कहते हैं—"ततः इति।" तू हमारा इतना अधिक प्रिय है कि तेरे निकट मेरा कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता है। "श्रीकृष्णके प्रीतिसे ओत-प्रोत बचनोंको सुनकर अर्जुनकी उत्सुकता छलक पड़ी। भगवान्के उस गुह्यतम बाणीको श्रवण करनेके लिए उनकी आँखोंसे प्रेमाश्रुकी धारा उमड़ पड़ी और वे गद्गद् हो हाथ जोड़कर खड़े हो गये। कृष्णने उपयुक्त अवसर देखकर कहा—'मन्मना भव' इत्यादि। तुम्हारे सखाके रूपमें तुम्हारे सामने विराजमान मुझमें (श्रीकृष्णमें) मन वाला हो। मद्भक्त—मेरा भक्त हो अर्थात् हमारी प्रीतिके लिए भजन कर, अपने सुखके लिए नहीं। 'मन्मना', 'मद्भक्त' 'मद्याजी' और मां नमस्कुरु'—इनमें सभी जगहोंपर मत्-शब्दका पुनः पुनः प्रयोगद्वारा नानाप्रकारसे मेरे भजनका बार-बार अनुष्ठान करना ही तेरा कर्त्तव्य है। ईश्वर-तत्त्वका भजन करना दूसरे लोगोंके लिए कर्त्तव्य होनेपर भी, मेरा सखा होनेके नाते तुम्हारे लिए कर्त्तव्य नहीं है। तू एकमात्र मेरा ही भजन कर। साधनाके अनुसार फलका वर्णन करते हैं—तू मुझे ही प्राप्त होगा।' मामेव—यहाँ 'एव' द्वारा श्रीकृष्णकी श्रेष्ठता सूचित होती है। अर्थात्—दूसरोंकी बातें क्या कहूँ, तू साक्षात् मुझको ही प्राप्त होगा।

'सत्यं ते' वचनसे उक्त साधनोंके द्वारा श्रीकृष्ण प्राप्ति अवश्यमेव होती है—इसके लिए भगवान्के द्वारा शपथ ग्रहण करना सूचित होता है अर्थात्—मैं प्रतिज्ञाकर कह रहा हूँ कि 'मन्मना' आदि श्लोकमें कहे गये साधनोंके द्वारा तू मुझे अवश्य ही प्राप्त होगा। यहाँ अर्जुनके प्रति भगवान् कृष्णका एक

गहरा प्रणय प्रकाशित हुआ है। सभी क्षेत्रोंमें ऐसा देखा जाता है कि प्रतिज्ञाकी दृढ़ता प्रकाश करनेके लिए अपने सबसे अधिक प्रियजनोंकी शपथ ग्रहणकी जाती है। पुनः एकबार और अतिशय दयासे भर कर 'सर्वगुह्यतम' इत्यादि वचनोंकी पुष्टिके लिए कहते हैं—मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ।

एक दूसरे सम्प्रदायके लोगोंका कहना यह है कि गीतामें धृतराष्ट्र, संजय, श्रीकृष्ण, अर्जुन या युद्ध आदि सभी मिथ्या हैं। गीताकी घटना वास्तविक सत्य नहीं है। अन्धा मन ही—धृतराष्ट्र है, तथा विवेक-बुद्धि ही संजय है। बुद्धि मनको उपदेश देती है। यहाँ गीताके वक्ता या नायकोंको मिथ्या माननेसे गीताके वचनोंको सत्य स्वीकार किया जाय इसके लिए सद्युक्ति या प्रमाण ही क्या बच जाता है—उन वचनोंको सत्य मानना भी कठिन हो जाता है। विशेषतः जिन्होंने कुरुक्षेत्रका विराट मैदान देखा है, वे सुगमतासे अनुमान कर सकते हैं कि आज भी कुरुक्षेत्रका विशाल मैदान कौरव और पाण्डवोंके बीच युद्धका साक्षी देते हुए गृहशून्य और जनशून्य रूपमें वर्त्तमान है। गीताका चतुर्थ अध्याय पाठ करनेसे ऐसी ऐतिहासिक या काल्पनिक धारणायें दूर हो जातीं हैं।

बहुतसे लोग गीता और चण्डीको एकही पर्यायमें गणना करते हैं। क्योंकि दोनोंमें ७०० श्लोक हैं एवं दोनों ही व्यासदेव द्वारा रचित हैं। किन्तु गीताके प्रत्येक अध्यायोंकी पुष्पिकामें जिस तरह "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्ज्जुन संवादे" का उल्लेख किया गया है, चण्डीमें वैसा नहीं है। अर्थात् गीताको उपनिषद् कहा गया है, वह ब्रह्मविद्या है। किन्तु चण्डी उसके ठीक विपरीत भोगपर ग्रन्थ है। सुरथ राजा राज्य-च्युत होनेपर मन-ही-मन अत्यंत दुखी होकर वन-वनमें भटक रहे थे कि मेधस मुनिसे उनकी भेंट हुई और उस मुनिके उपदेशसे अपने छीने हुए राज्यको पुनः प्राप्त करनेके लिए उपायसे अवगत हुए। और समाधि नामक कोई वैश्य उसके स्त्री और पुत्रों द्वारा घरसे बाहर खदेड़ दिये जानेपर मेधस मुनिके उपदेशसे महामायाका स्वरूप ज्ञात हुए थे। चण्डीमें महामायाका पराक्रम बहुत ही अधिक परिमाणमें वर्णन किया गया है उसका मूलमंत्र—कामनाओंकी पूर्ति है। रूपं देहि, जयं देहि, यशो देहि, द्विषो जहि, इत्यादि महामायाके प्रति प्रार्थनाओंकी बातें ही उसमें अधिक है। महामाया भगवत् शक्ति हैं, उन्होंने भगवान्की इच्छासे असुरोंका विनाश कर देवताओंको निर्भय किया था। देवीका यह कथन है—

सर्वबाधाविनिर्मुक्तो धनधान्य सुतान्वितः।
मनुष्यो मत्प्रसादेन भविष्यति न संशयः।।

(चण्डी—१२।१५)

अर्थात् मेरे अनुग्रहसे मनुष्य सब तरहकी बाधाओंसे मुक्त होकर धन-धान्य और पुत्रादिसे पूर्ण होगा इसमें संदेह नहीं है।

गीतामें विषयके प्रति कामनाको मन्द-बुद्धिका कार्य कहा गया है। महामाया या इनके अधीन देवताओंके निकट फलकामनाका स्वरूप गीतामें स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियमास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।

(गीता ७।२०)

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्प मेधसाम्।

(गीता ७।२३)

गीता और चण्डीमें भेद यह है कि—चण्डी मार्कण्डेय पुराणके अन्तर्गत है। अतः वह राजसिक पुराण है। और गीता उपनिषद—ब्रह्मविद्या है। राजस और तामस पुराण भगवान् व्यासदेव द्वारा रचित होनेपर भी इनकी रचना भक्तिबर्हिमुख व्यक्तियोंकी केवल वंचना करनेके (ठगनेके) लिए की गई है।

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुण लक्षणम्।।

(मनुसंहिता—१२।३४)

भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान—इन तीनों कालोंमें विद्यमान सत्तादि तीनों गुणोंके कार्योको संक्षेपमें इस प्रकार जानना चाहिए, जैसे—

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठयमेषां यथोत्तरम्।।

(मनुसंहिता १२।३८)

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः।।

(मनुसंहिता १२।४०)

तमोगुणका लक्षण 'कामसेवा' है, रजोगुणका—'अर्थसेवा' तथा सत्त्वगुणका—'धर्मसेवा'। सत्त्व प्रकृतिके लोग देवत्वको प्राप्त होते हैं, रजोगुण प्रकृति वाले व्यक्ति मनुष्यत्व लाभ करते हैं। तथा तामस प्रकृति वाले तिर्यक्—पशु–पक्षीकी योनियोंको प्राप्त होते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी गुणोंके सम्बन्धमें ठीक ऐसी ही उक्तियाँ मिलती हैं:—

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते।।
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्म्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।
सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।

(गीता १४।१५–१७)

अर्थात् रजोगुण प्रकृतिका व्यक्ति मरने पर कर्मासक्तोंमें जन्म लेता है और तमोगुण युक्त पुरुष मरकर मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है।

सात्त्विक कर्मका फल सत्त्वगुणी और निर्मल होता है, रजोगुणका फल दुःख और तमोगुणका फल अज्ञान होता है—ऐसा कहा गया।

सत्त्वगुणसे ज्ञान, राजोगुणसे लोभ और तमोगुणसे अज्ञान, प्रमाद और मोह अत्पन्न होते हैं। अतएव गुणोंके विचारके अनुसार सात्त्विक पुराण श्रेष्ठ हैं। अतः राजस पुराणोंकी सेवा न कर अर्थात् उनके प्रति श्रद्धालु न होकर सात्त्विक पुराण श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण आदिमें श्रद्धायुक्त होना ही कर्त्तव्य है। चण्डी और गीतामें प्रवृत्ति और निवृत्ति मूलक भेद वर्त्तमान हैं। चण्डी प्रवृत्ति–मूलक ग्रन्थ है—और गीता निवृत्ति–मूलक।

गीताका प्रत्येक अध्याय एक योग है। संपूर्ण गीता एक अखण्ड योगशास्त्र है। इस प्रसङ्गमें एक महाजनका कथन है—'योग एक ही होता है—दो नहीं। अनेक सोपानोंसे युक्त किसी मार्गका नाम योग है। उस मार्गको अवलम्बन कर जीव ब्रह्मपथ पर आरूढ़ होते हैं। निष्काम कर्मयोग इन सोपानोंमें प्रथम सोपान है। उसमें ज्ञान और वैराग्य मिलनेसे द्वितीय सोपान रूप ज्ञान योगका निर्माण होता है। उसमें फिर ईश्वर चिन्तारूप ध्यानका योग करनेसे अष्टांग योगरूप तृतीय सोपान होता है। उसमें भगवत् प्रीतिका संयोग होनेसे भक्ति योगरूप चतुर्थ सोपान बन जाता है। इन समस्त क्रमों या सोपानोंको मिलाकर वृहत् सोपान होता है। उसीका नाम योग है। उस योगकी स्पष्ट रूपसे व्याख्या करनेके लिए उपरोक्त खण्ड योगोंका उल्लेख करना होता है। जो लोग नित्य कल्याण चाहते हैं उनके लिए योगका अवलम्बन करना अनिवार्य और अनिवार्य है। किन्तु प्रत्येक क्रम अर्थात् सोपानपर स्थित् होकर उसमें पहले निष्ठा लाभकर अन्तमें ऊपरवाले सोपानपर उठनेके लिए नीचले सोपान या क्रमवाली निष्ठाको छोड़ना होता है। जो लोग किसी खास एक सोपान (क्रम) में ही आबद्ध रह जाते हैं उनका योग सम्पूर्ण नहीं होता।"

—(श्रील ठाकुर भक्तिविनोद कृत गीताके बलदेव भाष्यके विद्वद्रंजन भाष्यानुवाद ६।७६)

अगले अङ्कसे क्रमशः प्रत्येक अध्यायोंका संक्षिप्त विचार प्रकाशित होगा। भूमिकाके उपसंहारमें वक्तव्य यह है कि गीताके प्रथम कुछ अध्यायोंको

पढ़कर बन्द कर देनेसे सम्पूर्ण गीताका तात्पर्य बोध नहीं हो सकता है। इसलिए आचार्यके निकट प्रणिपात (प्रणाम), परिप्रश्न अर्थात् तत्त्वकी जिज्ञासा और सेवाकी भावना लेकर सहिष्णुताके साथ सावधानी-पूर्वक गीताका उपदेश श्रवण करना कर्त्तव्य है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो असहिष्णु श्रोताको विरोचनकी दशा प्राप्त होगी। अर्थात्, एक बार इन्द्र और विरोचन—दोनों ब्रह्माके निकट ब्रह्म-विद्याका उपदेश प्राप्त करनेके लिए गये। विरोचन ब्रह्माके पहले वचनको सुनते ही असहिष्णु होकर घर लौट आये और गुरुदेवके द्वारा उपदेश दिये गये श्रुतियोंके उल्टा अर्थका प्रचार असुर समाजमें करने लगे अर्थात् देह ही आत्मा है, इसके प्रचारक बन गये। गीता पारमार्थिक तत्त्वोंके लिए शिशुपाठ है। अतः धीरता और मनोनिवेश पूर्वक इसके तत्त्वोंको समझने की चेष्टा करनी चाहिये।

श्री व्रज मण्डल परिक्रमा—९८

श्रीश्रीगुरु, गौराङ्ग, गन्धर्विका, गिरीधारी एवं राधाविनोदविहारीजीकी असीम अनुकम्पासे प्रतिवर्षकी भांति इस वर्ष भी कार्तिक (व्रजमण्डल) परिक्रमा श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजजीके आनुगत्यमें निर्विघ्न रूपमें समाप्त हुई। इस वर्ष परिक्रमामें देश-विदेशसे लगभग ५०० यात्रिगण सम्मिलित हुए जिनमें प्रायः ३०० विदेशी भक्त थे।

५ अक्टूबर, श्रीशारदीय पूर्णिमाके दिन भक्तोंने वृन्दावनमें केशी घाटपर संकल्प ग्रहण किया। उस दिन श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराजजीकी अध्यक्षतामें नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव महाराजजीका विरहोत्सव श्रीरूपसनातन गौड़ीय मठमें मनाया गया। इस उपलक्ष्यमें श्रीश्रीमद्भक्तिविज्ञान भारती महाराज, श्रीश्रीमद्भक्तित्रसर्वस्वगोविन्द महाराज आदि अनेक उच्च कोटिके वैष्णवगण सम्मिलित हुए, जिन्होंने उनके अतिमृत्य जीवनचरित्र, गुरुनिष्ठा आदिके विषयमें भाषण प्रदान किया। सन्ध्या कालमें भी विभिन्न वक्ताओंने उनके चरणोंमें अपने भावपूर्ण वक्तृताओं द्वारा पुष्पाञ्जली प्रदान की। अंतमें श्रील महाराजजीने सारगर्भित भाषण प्रदान किया।

इसके अतिरिक्त प्रतिदिन प्रातःकाल मंगला आरतिके पश्चात् श्रीश्रीनंदनंदनाष्टकम्, श्रीराधाकृपाकटाक्षस्तसेत्र, एवं श्रीश्रीदामोदरष्टकका सुस्वरसे कीर्तन होता था। तत्पश्चात् श्रील महाराजजी श्रील सनातन गोस्वामीकी टीकाके आधार पर सत्यव्रत मुनि रचित श्रीश्रीदामोदराष्टकका सिद्धान्त एवं रसपूर्ण व्याख्या करके भक्तोंको भाव विभोर कर देते थे।

इसी प्रकार संध्याके समय श्रील महाराजजी श्रीश्रीशिक्षाष्टकका पाठ करते थे।

श्रील महाराजजीके अतिरिक्त श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त पर्यटक महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त विष्णु महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त आचार्य महाराज, श्रीमद्भक्तिवेदान्त वैष्णव महाराज आदि भी कार्तिकव्रत महिमा एवं वे स्थान जहाँ प्रतिदिन परिक्रमा जाती, के सम्बन्धमें अपने-अपने विचार प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार भक्तोंने ६ दिन वृन्दावनमें रहते हुए वहाँकी समस्त लीलास्थलियोंका दर्शन एवं श्रील महाराजजीके श्री मुखसे वहाँकी महिमाका श्रवण किया। तत्पशचात् मथुरामें आकर ५ दिन तक मन्दिरों एवं लीला स्थलियोंका दर्शन किया एवं माहत्मय श्रवण किया।

मथुरासे परिक्रमा पार्टी गोवर्द्धन पहुँची। गोवर्द्धनमें ५ दिन रहते हुए भक्तोंने उत्साहपूर्वक कीर्तन करते हुए गिरीराज-परिक्रमा एवं राधाकुण्ड-परिक्रमा की तथा अनके वहाँके विभिन्न लीला-स्थलियोंका दर्शन

किया। दानघाटीपर अभूतपूर्व अन्नकूट महोत्सवका आयोजन किया गया। श्रील महाराजजीने स्वयं श्रीगिरीराजजीका अभिषेक किया, इस अवसरपर वहाँके प्रतिष्ठित एवं सम्मानित व्यक्ति उपस्थित हुए थे। श्रील महाराजजीने श्री गिरीराजजीकी महिमा एवं तत्त्वपर प्रकाश डालकर भक्तोंको मुग्ध कर दिया।

इसी क्रममें परिक्रमा पार्टी काम्यवनकी विभिन्न लीला–स्थलियोंका दर्शन करते हुए बरसाना पहुँची। बरसानामें आठ दिन रहते हुए गहवरवन, ऊँचागाँव, प्रेमसरोवर, संकेत, नंदगाँव, टेरकदम्ब, पावनसरोवर, कोकिलावन, जावट, बैठन, कोसी आदि स्थानोंका दर्शन किया एवं उनका म2हात्मय श्रवण किया। यहाँपर विशेष रूपसे श्रीराधा तत्त्व एवं कृष्ण तत्त्वके विषयमें आलोचना हुई। श्रील महाराजजीने इन दोनों तत्त्वोंपर अत्यन्त सिद्धान्तपूर्ण प्रवचनों द्वारा उनकी महिमा वर्णित की। इसके अतिरिक्त श्रीलभक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराजजी तथा अन्य–अन्य त्रिदिण्ड पादगणोंने इन तत्त्वोंपर प्रकाश डाला।

बरसानासे रामघाट, चीरघाट, विहारवन, गरुड़ गोविन्द आदि होते हुए परिक्रमा पार्टी पुनः ३० अक्टूबरको वृन्दावन पहुँची। ५ दिन वृन्दावन रहते हुए अवशिष्ट स्थानोंका दर्शन करते हुए ४ नवम्बर पूर्णिमाके दिन वैष्णवहोम द्वारा उर्जा (कार्तिक) व्रत समाप्त हुआ।

परिक्रमाके बीच–बीचमें विदेशी भक्त श्रीलहरिदास ठाकुर, श्रीलरघुनाथ दास गोस्वामी आदि श्रीमन्महाप्रभुके परिकरोंके जीवनचरित्रोंका अभिनय कर सबको भाव विभोर कर देते थे।

इस वर्ष ८ नवम्बरको दुर्वाषा ऋषि गौड़ीय आश्रममें विग्रह प्रतिष्ठाका आयोजन निर्माण कार्यमें विलम्बके कारण स्थगित कर दिया गया। परन्तु इसी ५ नवम्बरको वहाँ एक कमरेमें ही श्रीश्रीराधा विनोद विहारीजी, श्रीमन्महाप्रभु एवं श्रीयमुनाजीके विग्रहोंकी प्रतिष्ठा की गई। इस अवसरपर विशाल उत्सवका आयोजन हुआ जिसमें हजारों लोगोंने महाप्रसाद ग्रहण किया।

५ नवम्बरको संध्याके समय ज्योतिष पीठाधीश शंकराचार्य श्रीस्वरूपानंद स्वामीकी प्रथम व्रजमण्डल परिक्रमा आरम्भ हुई। जिसमें श्रील महाराजजीको भी इस यात्राके शुभारम्भमें सकल्प उद्देश्यसे व्रजविभूतिके रूपमें आमंत्रित किया गया। श्रील महाराजजीके स्वागतके लिए भव्य रथकी व्यवस्था की गई, जो नगरके प्रमुख मार्गों द्वारा विश्राम घाट पहुँचा। श्रील महाराजजीके रथके आगे मठके लगभग १०० देशी–विदेशी भक्त एवं स्थानीय भक्त 'हरे कृष्ण' महामंत्रका कीर्तन एवं नृत्य करते हुए चल रहे थे, तो ऐसे लगता था मानो ये यात्रा शंकराचार्यकी न होकर गौड़ीय मठ की हो।

अगले दिन स्थानीय समाचारपत्रोंने श्रील महाराजके चित्र एवं यात्राका विशद विवरण दिया।

SCHEDULE FOR MAHARAJA'S EASTERN TOUR, WINTER 1998-99

SINGAPORE,	30 November—2 December
MALAYSIA,	2 December—9 December
PHILIPPINES,	9 December—17 December
BALI,	17 December—22 December
PERTH,	22 December—27 December
MURWILLUMBAH + BRISBANE,	27 December, 1998—7 January, 1999
FIJI,	7 January—28 January
MELBOURNE,	28 January—2 February
SINGAPORE,	2 February—4 February

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ–जयतः

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे

वैकुण्ठ–वार्त्तावह

बृहत्–मृदङ्ग

श्रीभागवत–पत्रिका

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं, रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्, श्रीचैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ।।

एक भागवत बड़ भागवत शास्त्र । आर एक भागवत भक्तिरसपात्र।।
दुई भागवत द्वारा दिया भक्तिरस । ताहाँर हृदये तार प्रेमे हय वश।।

श्रीगौराब्द ५१२

वर्ष ४२ } विक्रम संवत् २०५५–५६ फाल्गुन मास, सन् १९९९, १ फरवरी — २ मार्च { संख्या १२

श्रीश्रीशचीसूनवष्टकम्

[श्रीमद्–रघुनाथदास–गोस्वामि–विरचितम्]

हरिर्दृष्ट्वा गोष्ठे मुकुर–गतमात्मानसतुलं स्वमाधुर्ये राधाप्रियतरसखी वाप्तुमभितः।
अहो गौड़े जातः प्रभुरपरगौरेक–तनुभाक् शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।।१।।

अनुवाद—

जिस हरि (कृष्ण) ने दर्पणमें अपने अतुलनीय सुन्दर अङ्गोको निरख कर प्रियतमा सखी श्रीमती राधिकाकी तरह सब तरहसे अपने माधुर्यको स्वयं अनुभव करनेके लिये गौड़ देशमें जन्म लिया था, अहो! (क्या ही आश्चर्यकी बात है,) जिस प्रभुने श्रीमती राधिकाकी गौर–कान्तिको स्वयं अपने शरीरकी सुन्दर गौर–कान्तिके रूपमें ग्रहण किया था, वे शचीनन्दन श्रीगौरहरि क्या पुनः मेरे नयन–पथ पर मिल सकेंगे?।।१।।

पुरीदेवस्यान्तः प्रणय मधुना स्नानमधुरो मुहुर्गोविन्दोद्यद्विशद–परिचर्यार्च्चितपदः।
स्वरूपस्य प्राणाव्वुद–कमल–निराजितमुखः शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।।२।।
दधानः कौपीनं तदुपरि वहिर्वस्त्रमरुणं प्रकाण्डो हेमाद्रि द्युतिभिरभितः सेवितततनुः।
मुदा गायन्नुच्चैर्निजमधुर–नामावलिमसौ शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।।३।।
अनावेद्यां पूर्वैरपि मुनिगणैर्भक्ति–निपुणैः श्रुतेर्गूढ़ां प्रेमोज्ज्वलरस–फलां भक्तिलतिकाम्।
कृपालुस्तां गौड़े प्रभुरतिकृपाभिः प्रकटयन् शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।।४।।
निजत्वे गौड़ीयान् जगति परिगृह्य प्रभुरिमान् हरेकृष्णेत्येवं गणन–विधिना कीर्त्तयत भोः।
इतिप्रायां शिक्षां जनक इव तेभ्यः परिदिशन् शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।।५।।
पुरः पश्यन् नीलाचलपतिमुरुप्रेम–निवहैः क्षरन्नेत्राम्भोभिः स्नपित निजदीर्घोज्ज्वल तनुः।
सदा तिष्ठन् देशे प्रणयि–गरुड़स्तंभ–चरमे शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।।६।।
मुदा दन्तैर्दष्टा द्युतिविजित–वन्धुकमधरं करं कृत्वा वामं कटि–निहितमन्यं परिलसन्।
समुत्थाप्य प्रेम्ना गणित पुलको नृत्यकौतुकी शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।।७।।
सरित्तीरारामे विरह–विधुरो गोकुलविधो नंदीमन्यां कुर्वन्नयन–जलधारावितितिभिः।
मुहुर्मुच्छां गच्छन्मृतकमिव विश्वं विरचयन् शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।।८।।
शचीसूनोरस्याष्टकमिदमभीष्टं विरचयत् सदादैन्योद्रेकादतिविशद–बुद्धिः पठति यः।
प्रकामं चैतन्यः प्रभुरतिकृपावेशविवशः पृथु प्रेमाम्भोधौ प्रथितरसदे मज्जयति तम्।।९।।

अनुवाद—

जो श्रीईश्वरपुरी गोस्वामीके अन्तःकरणमें विराजित प्रेम–मधुद्वारा स्नात होकर उनके प्रति प्रीतिसे युक्त हुए थे, जिनके युगल चरणकमल गोविन्द नामक किसी प्रेमी भक्तकी निर्मल परिचर्या द्वारा सेवित होते थे, तथा जिनका श्रीमुखमण्डल श्रीस्वरूप गोस्वामीके असंख्य प्राण–रूपी कमलके पुष्पोंसे निरन्तर नीराजित होता था, वे शचीनन्दन गौरहरि क्या पुनः मेरे नयन–पथ पर मिल सकेंगे?।।२।।

परमब्रह्म परमेश्वर होकर भी जो भक्तोंको शिक्षा प्रदान करनेके लिये स्वयं कौपीन और उसके ऊपर अरुण–रंगका वहिर्वास धारण करते थे, जिनका शरीर अत्यन्त प्रकाण्ड और सुमेरु पर्वतकी कान्ति द्वारा पूर्णरूपेण सेवित था अर्थात् जिनके तपाये हुए सोनेके समान शरीरकी कान्तिको देख कर सुमेरु पर्वत अपनी सुन्दरताका अभिमान छोड़ कर अपनी कान्तिसे (कान्तियुक्त अङ्गसे) जिनके अङ्गकी कान्तिकी सेवा की थी और जो संन्यासीका वेश धारण कर जोर–जोरसे अपने नाम–समूहका आनन्दमें विभोर होकर कीर्त्तन करते हुए भक्त–भावमें भ्रमण किये थे, वे शचीनन्दन गौरहरि क्या पुनः दर्शन देंगे?।।३।।

भक्तिमें अतिशय निपुण होने पर भी पूर्व–पूर्व मुनिजन जिनके सम्बन्धमें यथार्थ ज्ञान लाभ नहीं कर सके थे, श्रुतियोंने जिन्हें अमूल्य रत्नकी तरह छिपा कर रखा था, जो असीम कृपा द्वारा गौड़देशमें भक्तिलताका—जिसका फल उज्ज्वल प्रेम–रस है—विस्तार कर परम कृपालु (सिद्ध) हुए थे, वे शचीनन्दन गौरहरि क्या पुनः दर्शन देंगे?।।४।।

हे मन! जिन्होंने मेरे स्मरण–पथमें सदा विराजमान् गौड़ीयजनोंको संसारमें आत्मीय मान कर उनके द्वारा 'हरे कृष्ण'—इस हरिनामका संख्यापूर्वक कीर्त्तन करवाया था और जिन्होंने गौड़ देशीय जन–समुदायको पिताकी तरह प्रिय शिक्षा प्रदान किया था, वे शचीनन्दन गौरहरि क्या पुनः दर्शन देंगे?।।५।।

जो प्रणयी गरुड़ स्तंभके पीछे सदा खड़े रह कर सामने (सिंहासन पर विराजमान) नीलाचलपति

श्रीश्रीजगन्नाथदेवका दर्शन कर महाप्रेम-समूह द्वारा अपनी आँखोंसे बहती हुई अश्रुधारासे अपने परम सुन्दर और दीर्घ कलेवरको नहलाया करते थे, वे शचीनन्दन गौरहरि क्या पुनः दृष्टि गोचर होंगे?।।६।।

जिन अधरोंकी कान्ति बन्धूक-पुष्पकी लालिमाको भी मात करती थी; अपने उन लाल-लाल अधरोंको दाँतोंसे पकड़ कर और बाँयें हाथको कमर पर रखकर जो दूसरे दाहिने हाथको उठाकर भिन्न-भिन्न भङ्गियोंसे घूमाते हुए अतिशय आनन्दके साथ नृत्य-कौतुकमें मग्न हो जाया करते थे तथा जो माथुर-विरहिणी श्रीमती राधिकाके भावोंसे विभावित होकर असंख्य रोमांच धारण करते थे, वे शचीनन्दन गौरहरि क्या पुनः दृष्टिगोचर होंगे?।।७।।

जिन्होंने नदीके तटवर्ती उपवनमें गोकुलचन्द्र—श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल होकर अपनी अविरल निकलती हुई अश्रुधाराओंसे एक दूसरी सरिताका निर्माण किया था, तथा बार-बार मूर्च्छित होकर वहाँ उपस्थित जन-समूहको मृतके समान अचेतन बना दिया था, वे शचीनन्दन गौरहरि क्या पुनः दर्शन देंगे?।।८।।

जो व्यक्ति शुद्ध अन्तःकरणसे अतिशय दीनतापूर्वक अपने अभीष्टप्रद श्रीशचीनन्दनके इस अष्टकका पाठ करते हैं, उनको शचीनन्दन कृपा करके श्रीकृष्ण सम्बन्धी रसास्वादनरूप अगाध प्रेम-समुद्रमें निमज्जित कर देते हैं।।९।।

❑

पिता, आचार्य और गुरु

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपाद।

शिष्य—'पिता', 'आचार्य' और 'गुरु' शब्दसे हमलोग क्या समझें?

पिता

आचार्य—'जिनसे पांचभौतिक देह लाभ किया जाता है, जो पांचभौतिक-देहका पालन-पोषण करते हैं, रक्षा करते हैं तथा उसके कल्याणकी कामना करते हैं, वे पिता कहलाते हैं। नीति-शास्त्रके मर्मज्ञ चाणक्यने कहा है—

''अन्नदाता भयत्राता यस्य कन्या विवाहिता।
जनयिता चोपनेता पंचते पितरः स्मृताः।।''

अर्थात् अन्नदाता, भयको दूर करनेवाला, श्वसुर, जन्मदाता जनक और उपनयन संस्कार देनेवाला—इन पांचोंको 'पिता' की संज्ञा दी गयी है। ब्रह्मवैतर्त्त-पुराणमें सात प्रकारके पिताका उल्लेख है—

''कन्यादातान्नदाता ज्ञानदाताऽभयप्रदः।
जन्मदो मंत्रदो ज्येष्ठभ्रात्रा च पितरः स्मृताः।।''

अर्थात् श्वसुर, भोजनदाता, शिक्षक, अभय देने वाला, जन्मदाता, मंत्रदाता और बड़ा भाई—ये पिता कहलाते हैं। वास्तवमें जो हमारा पालन करते हैं तथा जिनको हम अपना पालन करनेवाला मानकर वास करते हैं, वे पिता हैं।

गरुण-पुराणमें पितृ-स्तोत्रमें पितरोंके विचारमें देखा जाता है कि पितृगण इकतीस प्रकारसे समस्त जगत्में व्याप्त है।

आचार्य कौन हैं?

जो गायत्री मंत्र (व्याहृति) का उपदेश करते हैं, मौञ्जी-बन्धन-संस्कार प्रदान करते हैं और वेदोंका अध्ययन कराते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। भार्गवीय मनुसंहिताके द्वितीय अध्यायके ४० वे श्लोकमें कहा गया है—

''उपनियतु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते।।''

अर्थात् जो शिष्यको वेदमाता गायत्रीका उपदेश

कर कल्प—निगूढ़ तत्त्वोंके सहित वेदका अध्ययन कराते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।

शिक्षाके अभावमें चित् जातीय जीव केवल स्थूल विषयोंमें अभिनिविष्ट होकर चेतनाका यथार्थ उपयोग न कर सकनेके कारण शोक समुद्रमें निमग्न होगा। इस शोक सागरसे उद्धार पानेके लिये वेदके पठन–पाठनकी व्यवस्था है। मनुष्य और मनुष्येतर जीवोंमें अंतर यह है कि मनुष्य परलोक–विषयका अनुशीलन कर सकता है, परन्तु मनुष्यसे इतर प्राणी चेतनताका वैसा सद् व्यवहार नहीं कर सकते। केवल आहार, निद्रा, भय और मैथुनरूप इन्द्रिय–सुखके लिये चेष्टा करना पाशव–चेष्टा है तथा ऐसे सुख–सम्बन्धी ज्ञानका नाम पाशव ज्ञान है। मनुष्य जिज्ञासु होकर जब तक आचार्यके निकट गमन नहीं करता, तब तक उसके ज्ञानके साथ उपरोक्त पाशव–ज्ञानका बहुत कुछ सौसादृश्य रहता है। शोक और क्रोध आदि विकारोंके अधीन होने पर मनुष्य पशुके स्तरमें अवस्थित हो पड़ता है। पशु–स्तरको पार कर आगे बढ़नेके लिये आचार्यके निकट जाना आवश्यक है। जिन लोगोंमें आचार्यके निकट जानेकी रुचिका अभाव है, अथवा शूद्राभिमानके कारण वेद अध्ययनके लिये अयोग्य हैं वे चिरकाल ही अशिक्षित शूद्र हैं। शोक ही उनकी प्रधान वृत्ति होती है।

पिताका आचार्यत्व

अधिकांश क्षेत्रोंमें पिता ही आचार्यका कार्य करते हैं। परन्तु यदि पिता असमर्थ हुए, तब दूसरे आचार्यके निकट भी वेदकी विभिन्न शाखाओंके अध्ययनकी विधि है। पिता या आचार्य उपनयनके पहले उचित संस्कारों द्वारा प्रापञ्चिक देहधारी जीवको पापोंसे मुक्त करते हैं। याज्ञवल्क्य ऋषिने कहा है—"एवमेनः शमं याति वीज–गर्भ समुद्भवम्" अर्थात् दस प्रकारके संस्कारोंसे शुक्र–शोणित द्वारा उत्पन्न देहका पाप रूप मल दूर हो जाता है।

बद्ध दशामें जीवात्माकी दो उपाधियाँ होती हैं। ये दोनों उपाधियाँ आत्मवस्तु नहीं होने पर भी आत्मवृत्तिके साथ संश्लिष्ट होनेके योग्य होती हैं। स्थूल उपाधिका नाम बाहरी शरीर अर्थात् पांचभौतिक शरीर है और दूसरी सूक्ष्म उपाधिका नाम मानस या लिंग शरीर है। जीवात्मा जड़ जगत्के साथ सम्बन्ध स्थापन कर अपनेको जड़ विषयोंका भोक्ता अभिमान करता है। किन्तु जड़ीय अभिमानसे मुक्त विशुद्ध जीवात्मा हरि–सेवामें अवस्थित होकर भगवान्का भोग्य है। अतः जिस समय अणुचित् जीव अपने विशुद्ध स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है, उस समय वह भगवान्को भोक्ता और अपनेको भोग्य दर्शन करता है। उस समय उसको अज्ञान नहीं होता। केवल पाञ्चभौतिक जड़पिण्डमें आत्मबुद्धि प्रबल रहनेसे बद्धजीव पशुके समान अपनेको शोकमग्न शूद्र अभिमान करता है। इसीलिये वह नाना प्रकारके पापोंमें प्रवृत्त होता है। ऐसे पापीको पापसे दूर रहनेमें बहुत ही कष्ट प्रतीत होता है तथा इस प्रकार दुःख भोग करते–करते उत्तरोत्तर अधिकतर दुःखमें पतित होता है।

यदि पिता वेदज्ञ हुए तो पुत्रके कल्याणके लिये उसे दस संस्कार प्रदान करते हैं, जिससे वह पाञ्च भौतिक देहके अनिवार्य पापोंसे मुक्त हो सके। आचार्यकी दयासे बद्ध जीव बाह्य–ज्ञानसे उन्नत परोक्षज्ञान प्राप्त करता है। बद्धजीवके स्थूल देहके जनक और रक्षकके रूपमें पिता–माता प्रत्यक्ष ज्ञानसे और सूक्ष्म देहके पालक और पालिकाके रूपमें आचार्य और वेदमाता परोक्ष–ज्ञानसे संतानको संवर्द्धित होते देखना चाहते हैं।

आचार्यका उपदेश प्राप्त कर क्रमशः वेद शास्त्रोंमें पारदर्शिता लाभ कर जीव निर्भेद ब्रह्मके अनुसंधानमें प्रवृत्त होता है अथवा तत्त्व–ज्ञान प्राप्त कर मायावादकी अकर्मण्यता उपलब्धि करता है। इसे जीवात्माकी अपरोक्षानुभूति कहा जाता है।

श्रीगुरुतत्त्व

पूर्वोक्त स्थूल और सूक्ष्म उपाधियोंसे मुक्त होने पर जीवात्मा जिस समय पूर्ण–विलासमय

भगवान्‌की सेवाको जीवात्माकी नित्यवृत्ति जान लेता है, उस समय वह किसी अभिज्ञ आचार्यके निकट गमन करता है, जो उसे प्रकृतिसे अतीत ज्ञान प्रदान करते हैं। ये अप्राकृत ज्ञान प्रदान करनेवाले भगवत्पर वस्तु ही "श्रीगुरुदेव" हैं। श्रीगुरुदेव नित्यवस्तु हैं, उनके सेवक जीवात्मा भी नित्य वस्तु हैं। गुरुदेवके उपास्य हैं—सच्चिदानन्द भगवान् और उनके सेवक शुद्ध जीवात्माके उपास्य हैं—भगवान् और श्रीगुरुदेव। गुरुदेव उपास्य वस्तु होनेपर भी उनकी लीला-विचित्रताका सेवकों (जीवात्माओं) के साथ साम्य है। अप्राकृत अलङ्कारिकोंका कहना है कि 'विषय-जातीय सेव्य वस्तु चित् शक्तिमान भगवान् हैं और आश्रय जातीय शक्तिवर्ग ही विभिन्न रसोंमें विचित्र विग्रह-विशिष्ट 'सेवक भगवान्' हैं। जीवात्माकी शुद्ध और पूर्ण अनुभूतिमें श्रीगुरुत्त्व आश्रय जातीय भगवतत्त्वसे अभिन्न-तत्त्व हैं।

बद्धजीवके तीन जन्म

बद्धजीवके स्थूल देहके जनक, रक्षक और शुभचिन्तक पिता हैं। सूक्ष्म देहके जनक, पालक और कल्याणकामी—आचार्य होते हैं। एवं विशुद्ध तथा नित्य जीवात्माके उद्दीपक भगवदभिन्न आश्रय और नित्यवृत्तिके नित्य-सहायक गुरुदेव होते हैं। स्थूल शरीरका जन्म, सूक्ष्म शरीरका जन्म तथा विशुद्ध आत्माका प्रकाश—इन तीन प्रकारके जन्मोंमें बद्धजीवका अधिकार है। अतः जनकसूत्रमें हम पिता, आचार्य और श्रीगुरुदेव—इन तीनोंको देख पाते हैं। पितृत्वमें कर्मकाण्ड, आचार्यत्वमें ज्ञानकाण्ड और गुरुत्वमें भक्तिकाण्डका अनुष्ठान परिलक्षित होता है। मनु (२।२६०) ने कहा है—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुति-चोदनात्।।

अर्थात् श्रुतियोंमें ऐसा कहा गया है कि द्विजका माताके गर्भसे जन्म ही शौक्र जन्म है। यही पहला जन्म है। बादमें उपनयन होनेपर दूसरा जन्म होता है। अनन्तर यज्ञदीक्षा प्राप्त करने पर उसका तीसरा जन्म होता है। इसलिए जन्म तीन प्रकारका होता है—शौक्र, सावित्र्य, और दैक्ष्य।

❑

साधु—वृत्ति

ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

गृहत्यागी वैष्णवोंका आचरण कैसा होना चाहिए इसके सम्बन्धमें श्रीमन्महाप्रभुने रघुनाथ दासको जो उपदेश दिये हैं, वे प्रत्येक गृहत्यागी वैष्णवके लिये पालनीय हैं—

वैरागी करिबे सदा नाम संकीर्त्तन।
मागिया खाइया करे जीवन रक्षण।।
वैरागी हइया जेवा करे परोपेक्षा।
कार्य सिद्धि नहे, कृष्ण करेन उपेक्षा।।
वैरागी हइया करे जिह्वार लालस।
परमार्थ जाय, आर हय रसेर वश।।
\+ \+ \+ \+
शाक-पत्र-फल-मूले उदर भरण।
जिह्वार लालसे येई इति-उति धाय।
शिश्नोदर-परायण कृष्ण नाहि पाय।।
ग्राम्य कथा ना शुनिबे, ग्राम्य वार्त्ता ना कहिबे।
भाल ना खाईबे, आर भाल ना परिबे।।
अमानी मानद हइया कृष्णनाम सदा लबे।
व्रजे राधाकृष्ण-सेवा मानसे करिबे।।

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

—गृहत्यागी साधुको निरन्तर कृष्णनाम करना चाहिए। भिक्षा-वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह करना चाहिए। उन्हें स्वावलम्बी होना आवश्यक है। बिना स्वावलम्बी हुए कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। परावलम्बियोंकी कृष्ण भी उपेक्षा करते हैं।

जिह्वा–लिप्सासे बचना चाहिये;। क्योंकि इससे साधक स्वादके वश हो जाता है, जिससे भजन नष्ट हो जाता है।

अस्तु, शाक–पात और फल–मूल द्वारा शरीरकी रक्षा करते हुए निरन्तर कृष्ण नाम करना चाहिए। जो लोग ऐसा करनेके बदले जिह्वाके स्वादके लिये इधर–उधर दौड़ते–फिरते है, वे शिश्नोदर–परायण व्यक्ति कृष्णको कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते। गृहत्यागी वैष्णवको न तो ग्राम्य–कथा सुननी चाहिए और न स्वयं कहनी ही चाहिये। उन्हें न तो अच्छा खाना चाहिए और न अच्छा पहनना ही। उन्हें स्वयं अमानी होकर दूसरोंको मान देना और सब समय प्रेम–पूर्वक भगवानका नाम लेना चाहिए।

गृहत्यागी–संयासीको अपने ग्राममें घरवालोंके साथ कभी भी वास नहीं करना चाहिये। विषयोंमें आसक्त पुरुषों और स्त्रियोंका दर्शन करना सर्वथा निषेध है। स्त्रियोंसे भूलकर भी बातचीत अथवा किसी प्रकारका व्यवहार नहीं करना चाहिए। इस विषयमें श्रीमन्महाप्रभुजीका उपदेश है—

प्रभु कहे,—वैरागी करे प्रकृति–संभाषण।
देखिते ना पारों आमि ताहार वदन।।
दुर्वार इन्द्रिय करे विषय ग्रहण।
दारु–प्रकृति हरे मुनिरपि मन।।
क्षुद्र जीव सब मर्कट–वैराग्य करिया।
इन्द्रिय चराञा बुले 'प्रकृति' संभाषिया।।
प्रभु कहे—'मोर वश नहे मोर मन।
प्रकृति–संभाषी वैरागी ना करे स्पर्शन।।

\+ + +

आमि त संन्यासी, आपने विरक्त करि मानि।
दर्शन दरे, प्रकृतिर नाम यदि शुनि।।
तबहि विकार पाय मोर तनु–मन।
प्रकृति–दर्शने स्थिर हय कौन जन?।।

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

तात्पर्य यह कि विरक्त साधुओंको स्त्रियोंके साथ वार्त्तालाप आदि नहीं करना चाहिए। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल होती हैं। वे किसी–न–किसी बहाने विषयोंका सब समय भोग करना चाहती हैं। जब काठ और पत्थर आदिकी बनी हुई स्त्रीका रूप देखकर बड़े–बड़े ऋषि–मुनियोंका चित्त चंचल हो उठता है, फिर सचमुचमें रमणी–संसर्गका क्या प्रभाव होता है— यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। साधन, भजन–रहित अत्यन्त दीन–हीन जीव साधुका बाना पहन कर—मर्कट वैराग्य धारण कर रमणियोंके साथ बातचीत करनेके बहाने अपनी इन्द्रियोंका भोग करनेमें व्यस्त रहते हैं। भला स्त्री–दर्शनसे किसका चित्त–स्थिर रह सकता है?

संन्यासीको विषयी लोगोंके घरपर स्थूल भिक्षा नहीं करनी चाहिए। इससे अन्तःकरण अपवित्र हो जाता है। अशुद्ध अन्तःकरणसे श्रीकृष्णका कदापि भजन नहीं हो सकता है।

त्यागी–वैष्णवको मठ, आखाड़ा आदिका निर्माण करना उचित नहीं है। क्योंकि इससे पुनः गृह–व्यापार होने लगता है। उन्हें साधारण तौरसे गोवर्द्धन शिलादिका पूजन करते–करते कृष्ण चिंतनमें निमग्न रहना ही वांछनीय है।

एक कुंजा जल, आर तुलसी–मंजरी।
सात्विक–सेवा एई, शुद्धभावे करि।।
दुई दिके दूई पत्र, मध्ये कोमल मंजरी।
एई मत अष्ट मञ्जरी दिवे श्रद्धा करि।।

(चै॰ च॰)

भक्तजन किसी विशेष अवस्थामें वैध–संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। सबको ऐसा करना ही पड़ेगा ऐसा कोई नियम नहीं है। ब्राह्मण कुलमें पैदा हुए वैष्णव घर–बार छोड़ते समय अपने आश्रमोचित वैध–संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु संन्यासके उस अंशको ग्रहण नहीं करेंगे, जो भक्तिके प्रतिकूल है।

वैष्णव–संन्यासी मायावादी वेश–भूषा धारण न करेंगे। सर्वदा असत्संगसे बचेंगे। तैल आदि विलासके प्रसाधनोंका व्यवहार न करेंगे। उन्हें स्त्रियोंके नाच–गानसे दूर रहना चाहिए।

स्त्री–संगीत और महाप्रभुजीका आदर्श

बात पुरीकी है। एक दिन महाप्रभुजी यमेश्वर टोटाको जा रहे थे। रास्तेके बगलमें कुछ ही दूर पर एक देशवासी कन्या महाकवि जयदेवके अमर काव्य गीतगोविन्दका एक ललित पद बड़े ही मधुर कंठसे गाती हुई जा रही थी। पदमें श्रीकृष्णके रूपका बड़ा ही सरस और मधुर वर्णन था, तिस पर भी कोकिल–कूजित उसका कंठ स्वर। महाप्रभु उस संगीतको सुनकर प्रेममें विह्वल हो गये। स्त्री या पुरुष कौन गा रहा है—इसे वे एकदम भूल गये। वे अप्राकृत भावावेशमें मत्त होकर अपने कानोंमें सुधा बरसानेवालेको आलिङ्गन करनेके लिये बड़े वेगसे भागे। उन्हें पथ–बेपथका बिलकुल ही ध्यान न रहा। वे एक साँसमें अपने लक्ष्यकी ओर सीधे दौड़े जा रहे थे। काँटीदार झाड़ियोंसे बींधकर सारा शरीर लहू–लुहान हो गया, पैरोंमें काँटे चुभते जा रहे थे, फिर भी वे भागे जा रहे थे। साथमें गोविन्द थे। प्रभु को दौड़ते देखकर वे भी उनके पीछे–पीछे भागे। बड़े कष्टसे देवदासीके पास पहुँचनेके पहले ही उन्होंने महाप्रभुको पकड़ लिया और कहा—'प्रभो! स्त्री गा रही है। आप कहाँ जा रहे हैं?' 'स्त्री' शब्द सुनते ही महाप्रभुको बाह्य–स्मृति हो आयी। वे वहींसे लौट पड़े और बड़े ही करुण स्वरमें अधीरताके साथ कहने लगे—'गोविन्द! तुमने आज मेरी खूब रक्षा की। यदि भूलसे भी स्त्रीका स्पर्श हो गया होता, तो मेरे प्राण अवश्य ही इस शरीरमें नहीं रहते। मैं इस उपकारके लिये तुम्हारा चिर ऋणी रहूँगा।

तात्पर्य यह कि विरक्त–वैष्णवको स्त्री–संसर्गसे सर्वथा दूर रहना चाहिए।

गृहत्यागी वैष्णवका शयन और आहार

अंतलीलाके दिनोंमें श्रीमहाप्रभुजी दिन–रात माथुर विरहमें कातर वियोगिनी श्रीमतीराधिकाजीके भावमें विभोर रहा करते थे। उनका वैराग्य अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। खाने–पीनेकी बिल्कुल ही सुध नहीं रहती। नेत्रोंसे दिन–रात आसुओंकी धाराएँ बहती रहतीं। फूलसे भी कोमल शरीर सूखकर काँटा जैसा हो गया था। उनके उस अतिशय क्षीण शरीरको रुखे–सुखे केलेके पत्तोंपर पड़ा देखकर भक्तोंको अपार दुःख होता। किन्तु उनसे कुछ कहे तो कौन कहे?

जगदानन्दजी महाप्रभुके प्रेमी भक्तोंमेंसे थे। उन्हें महाप्रभुका ऐसा कठोर वैराग्य देख कर बड़ा दुःख होता। अन्ततः एक दिन वे बाजारसे सुन्दर–सा कपड़ा खरीद लाये और उसे गेरुए रंगमें रंगकर उससे एक तोषक और एक तकिया तैयार करवाये। फिर उसमें रूई डालकर उनको गोविन्दके हाथोंमें देकर बोले—'भाई! इन्हें महाप्रभुको बिछा देना।' गोविन्दने डरते–डरते बिछा तो दिया, परन्तु महाप्रभुने ज्यों ही तोषक और तकियेको देखा, गोविन्दसे तुरन्त ही फेंक देनेके लिए कहा। पुनः कुछ रंज होनेपर स्वरूपदामोदरसे कहा—'तुम सब लोग मिलकर मेरा धर्म नष्ट करनेपर तुले हूए हो। जगदानन्द तो यह चाहता है कि मैं संन्यासी होकर भी विषयोंको भोगता रहूँ। आज तोषक–तकिया चाहिए, कल पलंगकी आवश्यकता होगी। परसों एक पैर दबाने और तेल मालिश करनेवाला चाहिए। एक गृहत्यागी संन्यासीको यह शोभा नहीं देता। उसे तो शरीर धारणके लिए कुछ रूखा–सूखा भोजन चाहिए। सोनेके लिए भूमि यथेष्ट है। तुम लोगोंको ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जिससे मेरा संन्यास धर्म नष्ट हो।' ऐसा सुनकर सब लोग मौन हो गये।

किन्तु जगदानन्दको चैन कहाँ? उन्होंने स्वरूप दामोदरसे परामर्शकर दूसरे ही दिन कुछ सुखे हुए केलेके पत्तोंको बटोर लाया और उन्हें नाखूनोंसे चीर–चीर कर बारीक बनाया। फिर उन्हें महाप्रभुजीके बहिर्वासमें भरकर एक पतलीसी तोशक और छोटीसी तकिया तैयार की। बहुत कहने–सुननेपर महाप्रभुने उन्हें व्यवहारमें लाना स्वीकार किया।

इस प्रकार महाप्रभुका प्रत्येक आचार गृहत्यागी वैष्णवोंके लिए आदर्श है। ❑

(क्रमशः)

कलियुगमें श्रीकृष्ण नाम जप साधना

—डा. सत्यपाल गोयल

ग्यारहवीं धारा

भ्रांत धारणावश अधिकांश लोग शिव और हनुमानजीको भोग लगाकर प्रसाद वितरण करते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिसे इस प्रकार भोग अर्पण तथा उसका प्रसादके रूपमें वितरण दोषपूर्ण है, विशेषकर श्रीकृष्ण एवं श्रीरामजीके भक्तोंके लिये उक्त प्रसाद ग्रहण योग्य नहीं है। श्रीशिव एवं हनुमानजी श्रीरामके उपासक होनेके कारण परम वैष्णव हैं। उनको सीधे अर्पण करना शास्त्रविरुद्ध है। "हरिभक्तिविलास" तथा "भक्तिरसामृतसिन्धु" जैसे भक्तिपरक ग्रन्थोंमें ऐसा करनेसे वर्जित किया गया है। श्रीमद्भागवतमें "वैष्णवानां यथा शम्भूः" कहा गया है अर्थात् वे शिवजी परम वैष्णव हैं। पहले भगवानको अर्पित कर पुनः शिव, हनुमान दुर्गा आदिको अर्पित करनेसे वह महाप्रसादकी श्रेणीमें आता है। स्मरण रहे जिन्होंने भी शिवकी सीधे साक्षात् ईश्वर मानकर आराधना की है, वे सभी असुर स्वभाव (वृत्ति) को प्राप्त हुए हैं यथा रावण, कंस, भस्मासुर, सहस्त्रबाहु आदि असुर वृत्तिको प्राप्त हुए। परन्तु ऐसा भी उदाहरण नहीं मिलेगा जिसमें राम या कृष्णके उपासक असुर वृत्ति या योनिको प्राप्त हुआ हो।

लोग विषय कामनाओंकी पूर्ति हेतु भगवान राम या कृष्णको भी जो भोग अर्पित करते हैं वह भी साधक वैष्णवोंके लिये ग्राह्य नहीं है। अन्यथा काम विकार बढ़नेके शत प्रतिशत अवसर हैं। यद्यपि भगवान राम या कृष्ण द्वारा ही उसे ग्रहण किया गया है तथापि अर्पित करने वालेका भाव ही प्रधान होता है। यही नहीं घोर विषयी लोगोंका अन्न भी साधकोंको ग्रहण नहीं करना चाहिए—

यथा

विषयीर अन्न खाइले मलिन हय मन।
मलिन मन हइले नहे कृष्णेर स्मरण।।

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

अर्थात् भोगोंमें लिप्त सांसारिक लोगोंका अन्न ग्रहण करनेसे साधकका मन मलिन हो जाता है जिसके कारण कृष्ण स्मरण नहीं होता है। कहावत है "जैसा खाये, अन्न वैसा बने मन।" अतएव अन्न व प्रसाद ग्रहण करते समय प्रचुर सावधानी बरतने की आवश्यकता है। २४ घंटेमें हम जो भी अन्न जल ग्रहण करते हैं उसके २ प्रतिशतसे ५ प्रतिशत अंशसे सूक्ष्म शरीरका निर्माण होता है शेषका ८० प्रतिशत तक मल मूत्रके रूपमें ग्रहण हो जाता है। शेष १५ से १८ प्रतिशत तक रक्त मांस चर्बी हड्डी आदिके रूपमें परिवर्तित होता रहता है।

यहाँ विषयी लोगोंका तात्पर्य उन लोगोंसे है, जो शास्त्र विरुद्ध आचरण कर रहे हैं एवं भजनशील नहीं हैं। सब समय उनकी इन्द्रियाँ विषय सुखकी ओर दौड़ती रहती हैं। स्थूल शरीरमें पांच कर्मेन्द्रियाँ तथा पांच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं एवं ग्यारहवां मन होता है जो कि सूक्ष्म तत्वों (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं महत्तत्व) में से प्रथम तत्त्व है। इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके पांच विषय होते हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द। सांसारिक लोग अनवरत इन्हीं पांचों विषयोंके अधीन होकर विषय लोलुप बने रहते हैं। उन पांचों विषयोंमें से एक–एक विषयके अधीन क्रमशः पतंगा (रूपके लिये) भवंरा (रसके लिये) मछली (गंधके लिए) हिरण शब्दके लिये तथा हाथी (स्पर्श) सुखके लिये बंधनमें बंध जाते हैं। परन्तु मनुष्य तो एक साथ पांचों विषयोंके अधीन रहता है, उसके बंधनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इन विषयोंमें फंसे लोगोंकी गति क्या होगी, यह भगवान् ही जानते हैं।

अतएव कृष्ण भक्तोंको ऐसे विषयी लोगोंके अन्नका वर्जन करना चाहिए। कुछ समयका अन्न सेवन भी कृष्ण नाम स्मरणसे च्युत कर देता है।

एक बार एक परम अयाचित वृत्तिके संत श्रीगिरिराजजीकी परिक्रमा कर रहे थे। वे तुलसीकी माला पर भावमय होकर जप करते हुए चल रहे थे। हठात् उनका नाम स्मरण थम गया और मनमें विचार आने लगा—कहींसे एक लाख रुपया मिल जाय तो एक मंदिरका निर्माणकर उसमें श्रीविग्रह की सेवा करूंगा। भेटमें जो धन मिलेगा उससे निश्चिन्त होकर भजन करूँगा। अकस्मात् इस चिंतनसे उनका भाव भंग हुआ तो उन्हें लगा इस प्रकारकी कामना-वासना मुझ अयाचित वृत्तिसे रहने वालेके चित्तमें क्यों आयी? उन्होंने देखा! उनसे कुछ कदमकी दूरी पर एक वणिक चल रहा था। उसके अन्दरसे लाभ हानिके जो परमाणु निकल रहे थे, उन्हीं परमाणुओंके स्पर्श योगसे उनका नाम स्मरण छूट कर, मंदिर निर्माण और भेंट पूजासे प्राप्त राशिसे निर्वाह करनेके विचार उत्पन्न हुए। क्षण भरके तात्कालिक संगके प्रभावसे जब इस प्रकारके संकल्प विकल्प उठ सकते हैं तब निरंतर संग और विषयी लोगोंके अन्न भक्षणसे किस प्रकार की मनोदशा होगी—आप स्वयं निर्णय लीजिए। इसीलिये श्रील रूप गोस्वामी पाद साधकोंको सावधान कर रहे हैं कि शुद्ध वैष्णवोंका अपमान न कर उनसे पूर्वकथित छः उपायोंका अवलम्बन कर साधन भजनमें बल प्राप्त करना चाहिए।

श्रील कृष्ण दास कविराज गोस्वामीजीने बड़े ही सहज भावमें वैष्णव महिमाको इस प्रकार व्यक्त किया है—

भक्त पद धूलि आर भक्त पद जल
भक्त भुक्त अवशेष तीन महाबल
एइ तिन सेवा हइते कृष्ण प्रेम हय
पुनः पुनः सर्व शास्त्रे पुकारिया कय
(चै. च. अन्त्य १६।६०)

अर्थात् शुद्धचित्त वैष्णवका भुक्तशेष (महाप्रसाद), चरणामृत तथा चरणोंकी धूलि ये तीनों ही साधकोंको शक्ति प्रदान करते हैं। इन सबका अर्थात् भुक्त शेष, चरणामृत तथा पदधूलिका सेवन करनेसे साधकके हृदयमें कृष्ण प्रेम उत्पन्न होता है—ऐसा सभी शास्त्र बार-बार तुमुल ध्वनिसे कह रहे हैं।

कुछ लोग शंका कर सकते हैं कि भक्त भुक्त अवशेष और शिव तथा हनुमानादिके प्रसादमें क्या अंतर है? वह भी तो भक्त भुक्त अवशेष ही है। यहाँ मैं स्पष्ट कर दूँ कि भक्त भगवान्को अर्पित करनेके पश्चात् ही प्रसाद रूपमें उसे ग्रहण करता है जबकि सामान्यजन शिव हनुमान आदिको स्वतत्र भगवान मानकर भोग अर्पित करते हैं जिसे वे ग्रहण नहीं करते हैं तथा उनके द्वारा इस प्रकार लौटायी गयी भोग सामग्री विष तुल्य होकर आसुरी भावको बढ़ाने वाली होती है। अतएव चैतन्य चरितामृतमें कथित भक्त भुक्त शेष महाप्रसाद है।

"तीन महाबल" का तात्पर्य दैहिक बलसे नहीं है अपितु इससे कृष्ण भजनमें प्रगाढ़ रुचि, भाव, निष्ठा, तल्लीनता, आसक्ति उत्पन्न होती है क्योंकि शुद्ध वैष्णवके सत्त्व गुण प्रधान परमाणु उससे चिपक जाते हैं। फलतः साधक निरंतर भजन सिद्धिकी ओर बढ़ता है। अपने भक्तोंकी सेवा और निष्ठासे प्रसन्न होकर कृष्ण साधकके हृदयमें अपने विमल प्रेमको पैदा कर देते हैं।

सत्त्व गुण परमाणुओंके अनेक उदाहरण शास्त्रों तथा भक्त चरित्रोंमें मिलते हैं। श्री जानकीजीको खोजते-खोजते जब भगवान श्रीराम और लक्ष्मण घोर जंगलसे गुजर रहे थे, उस समय एक नदीके तट पर सिंह और हिरणको एक दूसरेके नजदीक जल पान करते हुए देखकर लक्ष्मणजी विस्मित हो गये। परम शत्रु सिंह और हिरण एक साथ बैठें, यह सामान्य रूपमें कभी देखा नहीं गया। श्रीलक्ष्मणजीने भगवान रामसे इसका रहस्य जानना चाहा। श्रीरामजीने कहा—निश्चित ही समीपमें ही किसी शुद्ध हृदय ऋषिका आश्रम है जिसके सात्त्विक प्रभावके फलस्वरूप इनकी हिंसक वृत्ति समाप्त हो गयी है। देखने पर ज्ञात हुआ कि १०० कदमकी

दूरी पर ही ऋषिवर अगस्त्यजीका आश्रम था। इससे सिद्ध होता है कि भगवत भक्तोंके भुक्त शेष, जल तथा धूलि वस्तुतः कृष्ण प्रेमी साधकोंको शुद्धकर उनमें भजनकी प्रवृत्तिको बढ़ाकर निष्ठावान करते हैं।

इसका एक और महत्त्वपूर्ण कारण है—जैसा करे संग वैसा चढ़े रंग। विषयी लोगोंका संग करनेसे विषयोंको भोगनेकी इच्छाएँ प्रबल होती हैं तथा कृष्ण प्रेमी भक्तोंका संग करनेसे कृष्णमें प्रीति बढ़ती है। जीवनमें विषयोंका सम्पूर्ण रूपसे एकदम त्याग कठिन होता है तभी तो श्रीगीताजीमें भगवानने अपने प्रिय मित्र अर्जुनके माध्यमसे कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

(श्रीमद्भगवद् गीता ६।३५)

अर्थात् हे महाबाहो अर्जुन! निःसन्देह मन चञ्चल तथा कठिनतासे वशमें होने वाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मन अभ्यास और वैराग्यसे वशमें हो जाता है।

अतएव निरंतर कृष्ण नाम जप, साधु संग, उनके पद जल, धूलि और भुक्तशेषके सेवनसे मन कृष्णके प्रति आसक्त हो जाता है तथा भौतिक सुखोंके प्रति निरंतर वैराग्य वृत्ति रखनेसे अनासक्त हो जाता है। संत जन गेरुए रंगके वस्त्र पहनते हैं। इसका तात्पर्य है कि इनका मन संसारके भौतिक आकर्षणोंसे विरक्त होकर भगवान कृष्णके अनुरागमें रंग गया है। गेरुआ (भगवा) रंग अनुरागका प्रतीक है। परन्तु केवल वस्त्रोंको भगवा रंगने मात्रसे, मन विषयोंसे विरक्त होकर कृष्ण प्रेममें रंग गया है, इसका सार्वकालिक या सार्वजनीन प्रमाण नहीं है। आजकल तो भिक्षुओंके द्वारा इस गेरुए रंगका बहुत दुरुपयोग हो रहा है। भगवा वस्त्र पहनकर भी अनेक साधु स्त्री प्रसंगमें रत देखे जाते हैं, वे अपने बाह्य स्वरूप और उस रंगकी प्रतिष्ठाको भी भूल जाते हैं।

अतएव वस्त्रोंके साथ-साथ मन, चित्त और हृदयको भगवा रंगमें रंगकर कृष्णके चरणोंमें अर्पित करना अधिक सार्थक है अन्यथा यह कहावत ही असरदार रहेगी कि गृहिणीका त्याग कर शिष्याएं बना ली। पुत्रोंका त्याग कर शिष्य बना लिये। अब दिन और रात उनके पोषणके लिये ही धन अन्न भवन आदिके विस्तारकी चिंतामें भजन छूट गया। देखनेमें वृत्ति अलग-अलग दीख पड़ती है परन्तु असंतोष और संग्रह-परिग्रहमें समानता रहती है। सम्पूर्ण जीवन ईश्वरकी सेवाके नाम पर शिष्योंकी उदर पूर्तिके साधन जुटानेमें ही व्यतीत हो जाता है। ऐसे संग्रही साधुओंसे भी सावधान रहनेकी परम आवश्यकता है।

परन्तु शुद्ध चित्त कृष्ण प्रेमी भक्तोंके निरंतर संग, उनकी सेवा, तथा उनका पदानुसरण करनेसे साधककी विषय भोगोंकी आसक्तिका उन्मूलन होकर, मन क्रमशः कृष्णोन्मुख हो जाता है। भागवतमें कहा गया है कि "संतः संगस्य भेषजभ्" अर्थात् संसारकी दुर्निवार आसक्तिका उपचार केवल संतोंकी संगति है। यही परम औषधि है। पारस मणि तो लोहेके स्पर्शसे लोहेको स्वर्ण बनाती है किन्तु उसे पारस मणि नहीं बनाती है परन्तु संत अपने सम्पर्कमें आने वाले प्रत्येक संगीको संत बना देते हैं—ऐसा संत जिसकी संसार आसक्ति छिन्न-भिन्न होकर हृदय कृष्ण प्रेममें उतराने लगता है। यदि विश्वास न हो तो एक क्षणका ही सत्संग करके देख लीजिए।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्ण अनुरागी भक्तोंकी सेवाके सम्बंधमें कहा गया है कि—

यत्सेवयाः भगवतः कूटस्थ मधुद्विषः
रति रासो भवेत्तीव्र पादयोर्व्यसनार्दनः

(३।७।१८)

अर्थात् जिन कृष्ण अनुरागी भक्तोंकी चरण सेवा करनेसे श्रीश्यामसुन्दरके चरणोंमें प्रगाढ़ प्रेम पैदा होता है तथा भवबंधन (आसक्ति) से सदैवके लिये मुक्ति मिलती है—ऐसे भगवत् प्रेमी संतोंकी सेवा अल्प सुकृति वाले लोगोंको मिलना अत्यन्त कठिन है।

संतोंके संबन्धमें इससे उत्तम और क्या प्रमाण हो सकता है। संत अपने समयको व्यर्थ नहीं गँवाते हैं, उनका प्रति पल भजनके लिये होता है। उनका शयन और भोजनका समय भी आराधनाका ही एक अंग होता है क्योंकि शयन न करनेसे शरीर अस्वस्थ हो जायेगा और इससे कृष्ण सेवामें विघ्न उत्पन्न होगा। अतएव यत्किंचित शरीरकी भौतिक आवश्यकता यथा भोजन शयन, जल सेवन, स्नान, मल विसर्जन आदि सभी क्रियाएं भजनसे ही जुड़ी हुई हैं। स्थूल रूपसे देखने पर सासांरिक भोगोंमें लिप्त विषयी लोगों और भक्तोंकी क्रियाएं समान दीख पड़ती हैं परन्तु वासनामें अंतर होता है।

आत्मेन्द्रिय प्रीतिवांछा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम।।
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण सुख तात्पर्य हय प्रेम त प्रबल।।

(श्री चै. च. १।४।१४१-४२)

अर्थात् अपनी इन्द्रियोंकी सुख वासनाके लिए जो भी कुछ किया जाता है वे सभी काम (विषयोपभोग) की सीमा (परिभाषा) में आते हैं। यदि कृष्ण प्रीतिके लिये किया जाता है तो वह शुद्ध प्रेम कहलाता है। कामसे तात्पर्य केवल अपनी संभोगकी तुष्टि मात्र है और यदि श्रीकृष्णका सुख ही केवल अपना तात्पर्य हो तो वह प्रबल कृष्ण प्रेम कहलाता है।

अतएव संतोंकी बाह्य क्रियाएं समान होने पर भी वे विषय भोगसे ऊपर होती हैं। भागवतमें उल्लिखित भक्तोंकी चरण सेवा करनेसे श्यामसुन्दरका प्रेम मिलता है परन्तु ऐसे प्रेमी भक्तोंका मिलना कठिन होता है। यदि ऐसे कृष्ण अनुरागी भक्तोंका संग मिले तो इसे कृष्णकी कृपा ही समझनी चाहिए, उन साधकोंको ऐसा अवसर खोना नहीं चाहिए—

विनु हरि कृपा मिले नहीं संता।
अब मोय भयो भरोस हनुमंता।।

(श्रीरामचरितमानस)

अतएव साधकोंको सतर्कताके साथ शुद्ध कृष्ण प्रेमी भक्तोंके मिलने पर उनके साथ प्रीति उत्पन्न करने वाली सभी क्रियाओंको करना चाहिए अन्यथा वैष्णव अपराध होना भी संभव है। श्रीकृष्णके चरणोंमें अपराध हो जाये और वे उसे क्षमा नहीं करें तो इतनी चिंताकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि उस अपराधसे छुटकारा गुरु वैष्णव कृपासे हो जाता है किन्तु किसी वैष्णवके प्रति अपराध हो जाय तो कृष्ण उसे कभी क्षमा नहीं करते हैं।

यद्यपि शुद्ध वैष्णवजन मान प्रतिष्ठाके अभिलाषी नहीं होते हैं तथापि उनके प्रति किया गया अपराध क्षम्य नहीं है।

महाप्रभु चैतन्य देवजीने अपने शिक्षाष्टकमें भजन निष्ठ शुद्ध चित्त वैष्णवोंकी, स्वरूप और वृत्ति की अतीव सुन्दर व्याख्या की है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुणा।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीय सदाहरिः।।

(श्रीशिक्षाष्टक)

अर्थात् कृष्णप्रेमी शुद्ध वैष्णव स्वयंको तृणसे भी अधिक नीच (निम्न) समझता है तथा वह वृक्षकी अपेक्षा भी अधिक सहिष्णु होता है। वह स्वयं अमानी होकर सर्वदा दूसरोंको सम्मान देता है एवं सदैव कृष्णनाम, रूप, गुण, लीला और धामका स्मरण, चिन्तन तथा कीर्तन करता है।

उक्त श्लोकमें महाप्रभुजीने कृष्ण अनुरागी वैष्णवके दैन्यस्वरूपको स्पष्ट किया है। तृणसे भी अधिक नीचसे यहाँ तात्पर्य है कि तृणपर पैर रखनेपर उसका एक शिरा उठ जाता है किन्तु वैष्णव नितांत शांत और दीन होता है। उसके अंदर ईष्या, अहंकार तथा बदलेकी भावना नहीं होती है। क्योंकि यदि वह ईर्ष्या, बदलेकी भावनासे पीड़ित रहेगा तो उसका भजन छूट जायेगा। अतएव वैष्णव साधकोंको सदैव दैन्यको प्रश्रय देना चाहिए। वृक्षोंसे अधिक सहिष्णुसे तात्पर्य है—उसे सदैव उपकारी होना चाहिए। लोग वृक्षोंपर पत्थर मारते हैं तो वृक्ष बदलेमें फल, पुष्प,

पत्तियाँ तथा सूखी लकड़ियाँ देते हैं—वे ऐसा पत्थर मारने पर देते हैं। परन्तु वैष्णवको तो निरन्तर दयावान रहना चाहिए। जो जीव अज्ञानतावश संसारमें गोते लगा रहे हैं व उन्हें भगवानकी ओर लगानेके लिए निस्पृह भावसे निरन्तर लगे रहना चाहिए।

उन्हें अपने मान अपमानका प्रश्न भी अपने हृदयमें नहीं रखना चाहिए। इस प्रकारकी तृष्णा भजनमें बाधक है। मानकी आशा सदैव ऐसी क्रियाओंकी ओर आकर्षित करती है, जो दिखावटी हो, जिससे अधिकसे अधिक लोग उसे भक्त और विद्वान समझकर प्रणाम करें, उसका स्वागत करें, उसे अच्छी अच्छी वस्तुएँ भेंट दें, उसकी यात्रा आदिके लिए घोड़ा, बग्गी, रथ, कार आदिकी व्यवस्था करें, भवन आदिके लिए प्रचुर धन, स्वर्ण आदिकी व्यवस्था करें वैष्णवको सदैव अपने भजन साधनको इस प्रकार छुपाना चाहिए, जैसे व्यापारी अपने लाभ और धनको छुपाता है। उसी प्रकार भजन साधनको मान सम्मानकी भेंट चढ़ा देनेसे गलेमें माला, मस्तिष्कपर तिलक तथा वस्त्रोंपर गेरुआ रंग भर लगा रह जाता है—भजन कपूरकी तरह उड़ जाता है और एक दिन उसे तिरस्कारका बहुविध सामना करना पड़ता है।

साधक वैष्णव दूसरोंसे मान संग्रहका त्याग लोष्ठवत् (मिट्टीके समान) करता है क्योंकि मान सम्मान भजनके क्षेत्रमें अति मीठा किन्तु तीव्र विष है। वैष्णव जन दूसरोंको मान प्रदान करते हैं। इस प्रकार अकिंचन होकर, दैन्यको प्रश्रय देकर निरन्तर श्यामसुन्दर तथा श्रीमती राधिकाके सुमधुर नाम, रूप, गुण, लीला और धामका चिंतन स्मरण तथा कीर्तन करते हैं। संसारके समस्त विषय उनके चित्तको उद्वेलित नहीं करते हैं।

यह कह देना अत्यन्त सरल है कि मान–प्रतिष्ठाकी इच्छा नहीं रखना चाहिए। परन्तु व्यवहारिक जीवनमें मान प्रतिष्ठाकी आशाका त्याग दुष्कर है। यह किसी न किसी रूपमें हृदयमें जीवित रहती है यथा—

प्रतिष्ठाशा धृष्टा श्वपचरमणी मे हृदि नटेत्
कथं साधु प्रेमा स्पृशति शुची रेतन्नु मनः
सदा त्वं सेवस्व प्रभु दयित सामन्तमतुलं
यथा तां निष्काश्य त्वरितमिह तं वेशयति सः

(श्रीमनःशिक्षा ७)

अर्थात् श्रील रघुनाथदास गोस्वामीपाद अपने मनको शिक्षा दे रहे हैं—हे मन! जब तक मेरे हृदयमें प्रतिष्ठाकी आशारूपी चण्डालनी नृत्य कर रही है, तब तक हृदयमें साधु प्रेम किस प्रकार उदित हो सकता है। इसलिए मेरे मन! अब बिना किसी विलम्बके भगवानके अत्यन्त प्रिय भक्तोंका स्मरण एवं उनकी सेवा करो। उनकी सेवाके प्रभावसे प्रतिष्ठाकी आशारूपी चण्डालनी दूर भाग जाएगी तथा उन कृष्णप्रेमी भक्तोंकी कृपासे हृदयमें व्रजप्रेम उत्पन्न हो जायेगा।

कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कृष्णप्रेमी साधकको सभी प्रकारकी तृषणाओंका त्यागकर वैष्णवसेवा करनी चाहिए। परन्तु मुझे भक्त मण्डलीमें सम्मान मिले, मुझे लोग अच्छा शास्त्रज्ञ समझें, ऊँचा भक्त समझें, सभाओंमें पहले मेरे गलेंमें माला डाले, लोग मेरी साधनाकी प्रशंसा करें, संत समाजमें मुझे अग्रस्थान मिले, इस प्रकारकी इच्छाएँ चण्डाल पत्नीकी भाँति मनसे चिपकी रहती हैं।

मैंने अनेक स्थलोंपर देखा है—संकीर्तन, आरती आदिके समय कुछ लोग भाव न होनेपर भी उत्ताल नृत्य करते देखे जाते हैं, आखोंसे आँसू बहाते हैं, साथ ही यह भी देखते रहते हैं कि कोई मुझे देख रहा है अथवा नहीं—यहाँ भावकी प्रधानता नहीं होती है अपितु सम्मान–प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी लालसा अधिक रहती है। प्रतिष्ठाकी इच्छा ही साधकके हृदयमें राग और द्वेषको अंकुरित करती है। प्रशंसा करनेवालोंको अपना तथा तटस्थ रहनेवालोंको भावसे रहित भजनरहित, पाषण्डी आदिकी संज्ञा देकर, ऐसे भाव–दिखाऊँ नट–नटी राग और द्वेषके चंगुलमें

पड़कर अपना सर्वनाश कर बैठते हैं। फल यह निकलता है कि भक्तिभाव तो गिरने लगता है तथा पाषण्ड क्रियाएँ (लोक दिखावा) बढ़ती चली जाती हैं। अतएव श्रील रघुनाथगोस्वामीपाद अपने मनको ताड़ना देनेके साथ-साथ अन्य भक्तिपथिकोंको भी सावधान कर रहे हैं कि कृष्ण नाम साधकको स्वयं तो इस प्रकारके कृत्रिम भावोंसे दूर रहकर प्रतिष्ठाशाका त्याग करना चाहिए ही तथा ऐसे लोक प्रतिष्ठा अर्जन करनेवाले लोगोंसे भी दूर रहना चाहिए। ❑(क्रमशः)

गीताकी वाणी

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

द्वितीय अध्यायके स्थित-प्रज्ञका विचार

सकाम कर्मोंमें आसक्त न होकर निर्गुण भक्तिका आचरण करना ही कर्तव्य है—इसे समझानेके लिए भगवान कहते हैं—निखिल वेद निर्गुण तत्त्वका ही निर्देश करते हैं। प्रारम्भिक अवस्थामें निर्गुण तत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती, इसीलिए वेद आदि शास्त्रोंमें कहीं कहीं सत्त्व, रज और तमोगुणसे युक्त कर्म और ज्ञानका उपदेश दिया गया है। परन्तु निर्गुण भक्ति ही उनका चरम प्रतिपाद्य विषय है। मान और अपमान आदि द्वन्द्वोंसे अतीत और आत्मपरायण होकर योग (सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति) तथा क्षेम (उनकी रक्षा) की भावनाको दूर रखते हुए बुद्धियोगको अंगीकार करनेसे त्रिगुणातीत हुआ जा सकता है। गुणोंके अधीन होकर कर्म करनेसे संसार-बन्धन प्राप्त होता है तथा गुणोंसे अतीत होना ही संसारसे मोक्ष प्राप्त करना है। इसीलिए आकांक्षा और आसक्तिसे शून्य होकर कर्म करनेके लिए ही उपदेश है। कर्मोंके आचरणमें यह बुद्धियोग ही कौशल है। बुद्धिसे युक्त होकर पाप और पुण्यात्मक कर्मोंका आचरण करना ही कर्तव्य है। पण्डित व्यक्ति बुद्धियोगका अवलम्बन कर, कर्मफलोंकी आशाका त्यागकर, जन्मबन्धनसे मुक्त होकर वैकुण्ठ लोकमें गमन करते हैं। पाप और पुण्य दोनों जीवके लिए बन्धनके कारण हैं।

कृष्णविमुख जीव भोगबुद्धिके कारण सुखोंकी आशा लेकर निरन्तर उनके सम्बन्धमें सुनता है, ध्यान करता है और अन्तमें उन्हीं विषयोंमें डूब जाता है।

यदि ऐसे जीवको कभी सत्संग प्राप्त हो तथा वहाँ उसे आत्म-तत्त्वके विषयमें सुननेका सुयोग मिले, तो विषय-सुखके प्रति उसका वैराग्य उत्पन्न हो सकता है। उसी समय उसे अपने यथार्थ कर्तव्यका ज्ञान हो जाता है। सत्संगके द्वारा वह उपलब्धि करता है कि यदि वह अपने मनसे समस्त कामनाओंका त्याग कर दे तथा आत्मदर्शनमें सन्तुष्ट रहे, तभी उसका ज्ञान स्थिर हो सकता है। ऐसी दशामें वह शारीरिक, मानसिक अथवा अन्य किसी प्रकारके क्लेशों द्वारा उद्वेग प्राप्त नहीं होता, सुख प्राप्त होनेपर भी उसमें उसकी स्पृहा नहीं होती और अपने किए हुए कर्मोंमें अनुराग, भय और क्रोधसे मुक्त होकर स्थित-प्रज्ञ कहा जाता है। जो ऐसी अवस्थामें पहुँच जाते हैं, वे जड़-विषयोंमें स्नेह-रहित हो जाते हैं और जड़ीय शुभ और अशुभोंको प्राप्त होकर न तो हर्ष करते हैं, न द्वेष। जब तक यह शरीर है, सुख-दुःख, हानि-लाभ तथा जय-पराजय अनिवार्य हैं, किन्तु स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति उनसे विचलित नहीं होता। उसकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंमें विचरण करनेपर भी स्वाधीन होकर विचरण नहीं करतीं। जैसे कछुआ अपनी इच्छासे अपने अंगोंको कभी बाहर करता है और कभी समेट लेता है, वैसे ही वे भी अपने इन्द्रियोंको अपनी बुद्धिसे चलाते

हैं। बहुतसे रोगी रोग बढ़नेके डरसे विषयोंसे अपनी इन्द्रियोंका संयम रखते हैं, किन्तु उन्हें 'स्थित–प्रज्ञ' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वे अपनी इन्द्रियोंको रसास्वादन करनेसे रोक लेते हैं सही, किन्तु रस ग्रहण करनेकी अभिलाषा तो दूर नहीं होती। 'रोग दूर होनेपर फिर रसका आस्वादन करूँगा'—उनके अन्दर ऐसी अभिलाषा रहती है। किन्तु विषय–रसकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ भगवद् रसका आस्वादन मिलनेपर जड़–रसकी लालसा अपने आप दूर हो जाती है। शुष्क ज्ञानी शुष्क वैराग्यके द्वारा (जड़ उपरति द्वारा) अपने चित्तको राग–रहित करनेकी चेष्टा करता है, किन्तु अत्यन्त बलवान इन्द्रिया बलपूर्वक उनके मनको विषयोंकी ओर खींच लेती हैं। परन्तु उन्हीं इन्द्रियोंको परमात्माकी सेवामें लगा दिया जाय तो वे कभी भी विषयगामिनी नहीं हो सकती। इसीका नाम 'युक्त' अवस्था है।

भगवत्सेवामें नियुक्त नहीं होनेसे युक्त अवस्था नहीं होती। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेवने युक्त वैराग्यकी शिक्षा दी है। भगवत्सेवाके अनुकूल कर्मोंका ग्रहण, प्रतिकूल कर्मोंका त्याग, भगवानको अपना पालनकर्त्ता मानकर वरण, वे अवश्य रक्षा करेंगे—ऐसा विश्वास, भगवानके चरणोंमें आत्मनिवेदन तथा दैन्य—ये शरणागत व्यक्तिके लक्षण हैं। इस प्रकार शरणागत होकर जीव यथार्थतः 'युक्त' हो सकता है।

राजर्षि अम्बरीषने अपनी समस्त इन्द्रियोंको भगवानकी सेवामें नियुक्त करनेका महनीय आदर्श दिखलाया है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो
वर्चांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु,
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये।।
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ,
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पाद सौरभे,
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते।।
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पने
शिरो हृषिकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु काम काम्यया,
यथोत्तम श्लोक जनाश्रया रतिः।।

'महाराज अम्बरीषने अपने मनको श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दयुगलमें, वाणीको भगवद्गुणानुवर्णनमें, हाथोंको श्रीहरिके मन्दिरके मार्जन–सेचनमें और कानोंको भगवान अच्युतकी मंगलमयी कथाओंके श्रवणमें, आँखोंको कृष्णकी मूर्ति ओर मन्दिरोंके दर्शनमें, अंगको भगवद्भक्तोंके शरीर स्पर्शमें, नासिकाको कृष्णके पादपद्मोंका सौरभ आघ्राण करनेमें, रसना (जिह्वा) को भगवानको अर्पित हुई तुलसीके आस्वादनमें, पैरोंको भगवानके क्षेत्र आदिकी पैदल यात्रा करनेमें, मस्तकको हृषिकेशके चरण–कमलोंमें झुकाकर प्रणाम करनेमें, कामनाको भगवद्दास्यमें अर्थात् भगवानकी दासता प्राप्त करनेके लिए नियुक्त किया था, विषयोंको भोगनेके उद्देश्यसे नहीं और इसलिए कि उत्तमःश्लोक भगवानके भक्तोंमें प्रीति हो अथवा भगवद्भक्तोंकी तरह भगवत्–प्रेम प्राप्त हो सके।

जो लोग 'युक्त' नहीं होते उनका मन विषयोंसे निवृत्त नहीं होता। ऐसे लोग 'अयुक्त' है। अयुक्त व्यक्ति भगवान सम्बन्धी भावनाओंसे विरत होनेके कारण शान्ति लाभ करनेके अधिकारी नहीं होते हैं। अतः वे सुखी नहीं हो सकते। इन्द्रियोंको विषयोंमें विचरण करानेसे मन भी उसमें रम जानेके लिए विवश होता है, क्योंकि विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंके पीछे जो मन लगाया जाता है, वह उसकी बुद्धिको वैसे ही हर लेता है जैसे जलमें नौकाको प्रतिकुल वायु। जिसकी इन्द्रियाँ विषयोंसे सर्वथा निगृहीत हैं अर्थात् सम्पूर्ण रूपसे वशमें हो चुकी हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है। जैसे अन्यान्य जल (नद–नदियोंके) समुद्रमें प्रवेश करनेपर भी, समुद्र

किसी भी विकारको प्राप्त नहीं होता, वैसे ही जिस पुरुषमें सारे काम-भोग प्रवेश करके भी कोई विकार उत्पन्न नहीं करते, वही स्थित-प्रज्ञ है और वही शान्ति लाभ कर सकता है।

जो साधारण प्राणियोंके लिए रात्रि है, उसमें संयमी जागता है ओर साधारण प्राणी जिस विषयमें जाग्रत होते हैं, वह आत्मदर्शी मुनियोंकी रात्रि है।

जीव दो प्रकारके होते हैं—ज्ञानी और अज्ञानी। अज्ञानीके लिए जो रात्रि है ज्ञानीके लिए वही दिन है तथा अज्ञानीके लिए जो दिन है, वहीं ज्ञानीके लिए रात्रि है। दिन और रातका अन्तर—वस्तुसे सम्बन्धित ज्ञान और अज्ञानको लेकर होता है। चाहे कोई भी क्यों न हो, जिस समय वह वस्तु सम्बन्धी ज्ञान लाभ कर लेता है—वही समय उसके लिए दिनके समान है। और जब तक वस्तु सम्बन्धी ज्ञानको लाभ नहीं करता—वही उसके लिए रातके समान है। सर्वाश्चर्यमय सर्वेश्वरके राज्यमें सब कुछ आश्चर्य है। जो परमार्थ-तत्त्व अज्ञानियोंके लिए रात्रि है, वही ज्ञानियोंके निकट दिन है। अज्ञानी पुरुषोंकी बुद्धि सर्वदा भगवानको छोडकर दूसरी-दूसरी मायिक विषयोंमें आसक्त रहती है। अतएव परमार्थ तत्त्व उनके लिए रातके समान है। फिर इन्द्रियोंको संयत करनेमें तत्पर जीव अज्ञानरूप निद्राको त्याग कर जो स्वप्रकाश चिन्मय जगत्का दर्शन करता है, वही अज्ञानियोंकी रात है।

बुद्धि दो प्रकारकी होती है—आत्मनिष्ठ और विषयनिष्ठ। आत्मनिष्ठ बुद्धि अज्ञानरूप अन्धकारसे आच्छन्न जीवके लिए रात है। जैसे रातमें सोया हुआ व्यक्ति—रातमें क्या क्या हुआ, कुछ नहीं जानता, वैसे ही आत्मज्ञानीके बुद्धिमें जो परमार्थ सम्बन्धी अनुभूति होती है, वह अज्ञानीके निकट अगोचर होती है। किन्तु संयमी स्थित-प्रज्ञ पुरुष उसीमें आत्मज्ञानरूप आनन्द अनुभव करता है। विषयोंकी ओर दौड़नेवाली बुद्धिसे युक्त जीव विषयोंमें आसक्त होकर शोक-मोह प्राप्त होकर सुख-दुःख अनुभव करता है। यही स्थित-प्रज्ञ पुरुषोंके लिए रात है। वे विषयोंका अनुभव नहीं करते, वे तो सांसारिक सुख-दुःख देनेवाले विषयोंसे दूर रहकर भगवत्-सेवा-सुखमें निमग्न रहते हैं।

जिनके हृदयसे समस्त वासनाएँ मूलतः दूर हो गयी हों, वैसा स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति ही परमार्थ स्वरूप धनका अधिकारी होता है। भोगी व्यक्तियोंका उसमें अधिकार नहीं होता। धरणीतलकी असंख्य नद-नदियोंका जल जैसे समुद्रमें बिना किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किए ही समा जाता है, वैसे ही स्थित-प्रज्ञ व्यक्ति कामनाओंके विषयीभूत रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श आदि व्यापारोंकी तरफ दृष्टिपात भी नहीं करते। यद्यपि इस जगतमें रहते समय विषयोंका गमनागमन सम्भव है, तथापि ज्ञानबलसे बली होकर वे उससे तनिक भी विचलित नहीं होते। वे विषयोंको हरि-सेवामें नियुक्तकर अविचिलत चित्तसे हरि-सेवा-सुखमें विभोर रहते हैं। अतएव जो विषय-वासनाओंको भलीभाँति दमन कर स्पृहाहीन होकर विचरण करते हैं, वे ही शान्तिके अधिकारी हैं। ऐसा ज्ञान जीवनके शेष भागमें उत्पन्न होनेपर भी जीव चिरशान्ति प्राप्त करता है। इसे ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। ब्रह्मके विषयमें स्थिरबुद्धिका नाम ही ब्राह्मी-स्थिति है। ब्रह्म-चिन्ताके सिवा अन्यान्य जागतिक विषयकी चिन्ताएँ उनके चित्तपर लेशमात्र भी आक्रमण नहीं कर सकती हैं। जिनकी बुद्धि ब्रह्मके विषयमें स्थिर हो गयी है, उनके ज्ञानको अज्ञानान्धकार कभी भी ढक नहीं सकता। अतः वे कभी मोहान्धकूपमें पतित नहीं होते।

'ब्रह्ममें लय प्राप्त होना'—ब्रह्म-निर्वाणका यथार्थ अर्थ नहीं है। ब्रह्म-आत्माके स्वरूपका प्रकाश है, इसे आठ गुणोंका प्रकाश कहा गया है—

'यह आत्मा अपहतपाप्मा, विजरो, विमृत्युः विशोको, विजिघत्सः अपिपासः, सत्यकामः, सत्य

सङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः।'

अर्थात् अविद्या आदि पापवृत्तिशून्य, जरारहित, मृत्युरहित, शोकशून्य, क्षुधा–पिपासा रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प वाले आत्माका अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है। आत्माका ज्ञान प्राप्त होनेपर जीव मुक्त हो जाता है। इन आठ गुणोंका प्रकाश होनेपर जीव आत्मज्ञ होकर अपने स्व–स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। ❑

पूर्व दिशा सूर्यकी जननी नहीं है

जिससे प्राणीकी उत्पत्ति या जन्म होता है, उसे ही जननी या माता कहा जाता है। जिस समय मनुष्यका जन्म होता है, उसी समयसे उसकी आयुकी गणना शुरु हो जाती है। जब वह इस जगतसे चला जाता है, तो उसे मृत्यु कहते हैं।

सूर्य पूर्व दिशामें उदित और पश्चिम दिशामें अस्त होता है। एक बालक अपनी पुस्तकमें जननी शब्दकी व्याख्या पढ़ रहा था। एक दिन प्रातःकाल इस बालकने अपने पिताके साथ नदीके तीर पर भ्रमण करते हुए देखा कि पूर्व दिशामें सूर्य उदित हुआ है। बालक अपने पितासे पूछने लगा—"पिताजी मैंने साहित्यमें गुरुकुलमें पढ़ा था कि जिससे जिसका जन्म होता है, वही उसकी माँ है। पूर्व दिशासे सूर्यकी उत्पत्ति हुई है, इसलिए पूर्व दिशा सूर्यकी जननी है क्या?

प्रश्न सुनकर पिताजी आनन्दित हुए और पुत्रसे बोले—"हरिदास! तुमने अच्छा प्रश्न किया कि जो वस्तु जहाँसे उत्पन्न होती है, वह उसकी माँ है। जिस प्रकार तुमने अपनी माताके गर्भसे जन्म ग्रहण किया। किन्तु पूर्व दिशा सूर्यकी जननी नहीं हैं क्योंकि हम इन आँखोंसे देखते है कि सूर्य पूर्व दिशासे जन्म ग्रहण करता है। वास्तवमें ऐसा नहीं है। यह बात जब तुम बड़े होओगे तब समझोगे। आज १९९९ ई. पहली जनवरी प्रातः ६.४५ मिनट पर भी सूर्यका जन्म नहीं हुआ तथा सन्ध्या ५.३० मिनट पर सूर्यकी मृत्यु नहीं होगी। अर्थात् सूर्य अनादिकालसे इसी प्रकार आलोक देता है और देता रहेगा। पृथ्वीकी गतिके कारण ही किसी दिशा विशेषमें सूर्यका उदय और अस्त लक्षित होता है।

अनभिज्ञ व्यक्ति सोचते हैं कि हरि–गुरु–वैष्णव भी साधारण जीवोंकी भाँति किसी विशेष जाति अथवा कुल या किसी विशेष तिथिमें जन्म ग्रहण किया करते हैं। वास्तवमें ऐसा नहीं होता। पूर्व दिशामें सूर्यके उदित होने पर भी सूर्यकी माता पूर्व दिशा नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार कोई वैष्णव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, क्षूद्र, अन्त्यज (चाण्डाल, नीच आदि) हिन्दु, अहिन्दु आदि किसी जातिमें जन्म ग्रहण किये हैं यह देखकर उन्हें भी किसी जाति विशेषके अन्तर्गत मानना मूर्खता है। भगवान मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह अथवा मनुष्य योनिमें आविर्भूत हुए। किन्तु उन्हें मत्स्य या कूर्म रूपमें स्थूल दृष्टिसे देखना मूर्खता तथा अपराध है। हिरण्यकशिपुके राज्यसभामें स्तम्भसे नृसिंह भगवानका आविर्भाव हुआ। इसलिए स्तम्भ श्रीनृसिंहदेवकी माता नहीं है। अतएव कभी भी शुद्ध वैष्णवोंको किसी जाति विशेषके अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए अथवा भगवानको भी मनुष्य अथवा कोई प्राणी विशेष नहीं समझना। श्रीचैतन्यदेवके श्रेष्ठ भक्त श्रीहरिदासजीके यवनकुलमें आविर्भूत होनेपर भी उन्हें यवन नहीं मानना चाहिए। श्रील रघुनाथ दास गोस्वामीजी कायस्थ कुलमें आविर्भूत होनेपर भी वे कायस्थ नहीं थे। श्रील सनातन गोस्वामी ब्राह्मणवंशमें

अथवा हिन्दू समाजमें आविर्भूत हुए अतः उन्हें सामाजिक ब्राह्मण या हिन्दू कहना भयानक अपराध हैं। जगतके बड़े-बड़े पण्डित भी इसी प्रकारकी भूल करते हैं।

बालकके पिताने बालकसे और भी कहा—जिस प्रकार सूर्यकी जन्म-मृत्यु नहीं हैं ठीक उसी प्रकार भगवान और भक्तोंकी भी जन्म-मृत्यु नहीं होती। सूर्यकी भाँति भगवान और भक्त दोनोंका आविर्भाव अथवा प्रकट एवं अन्तर्धानको तिरोभाव या अप्रकट लीला कहते हैं।

आज १९९९ सन् प्रथम जनवरी ६.४५ मिनट पर सूर्यका उदय हुआ, ऐसा देखा जानेपर भी उस समय सूर्यका जन्म नहीं हुआ। वैष्णव और भगवानके सम्बन्धमें भी यही समझना चाहिए कि वे किसी विशेष तिथिमें लोगोंके सामने प्रकाशित होते हैं। जो लोग इन सिद्धान्तोंको नहीं जानते हैं वे सोचते हैं कि श्रीचैतन्यदेव एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। वे किसी विशेष तारीखमें आविर्भूत हुए थे। किन्तु अनादि काल पूर्वमें भी वे थे, नित्यकालमें हैं, और अनन्त कालतक वे रहेंगे। भगवान ओर उनके भक्त ऐतिहासिक मनुष्य नहीं। किन्तु वे कृपापूर्वक किसी ऐतिहासिक कालमें आविर्भूत होकर इस इतिहासको धन्य करते हैं। इन बातोंको तुम अपने हृदयमें संजोकर रखना और इनपर विश्वास भी रखना। जब तुम भगवानकी कृपा प्राप्त करोगे, उस समय इस परम सत्यकी साक्षात् उपलब्धि कर सकोगे। ❑

क्षमा करें, मैं नास्तिक हूँ

[श्रीमान् सी. ब्राडलाक साहबके साथ श्रीयुत अभयचरण भक्ति-वेदान्तजी (श्रीभागवत-पत्रिकाके सहकारी सम्पादक-संघके संघपति तथा 'बैक-टू-गौडहेड' अंग्रेजी पत्रिकाके सम्पादक) का कथोपकथन]

'मैं नास्तिक हूँ और मुझे भगवानमें कतई विश्वास नहीं है, यदि आप मुझे क्षमा करें, तो मैं नास्तिक्यवादकी ओरसे आपसे कुछ बातचीत करूँ।' ब्राडने गम्भीर होकर कहा।

'बड़ी खुशीसे। परन्तु ऐसा नहीं कि आप केवल तर्क-वितर्क करें। मेरी विनम्र प्रार्थना है, इस कथोपकथनसे कुछ लाभ उठाया जाय।' मैंने नम्रतासे उत्तर दिया।

'धन्यवाद'—ब्राडने सिलसिला आरम्भ किया। 'आजका मनुष्य-समाज नास्तिक तो जरुर है, परन्तु उससे मनुष्य-समाजको बड़ा लाभ है। विशेषतः इसका प्रभाव भारतपर अधिक पड़ा है। इसीसे भारतमें आज चौमुखी उन्नति हो रही है और आगे और भी अधिक होगी। मेरा ख्याल है, भारतवासियोंकी तरह शायद ही किसी देशके वाशिन्दे भगवद्विश्वासी हों। इसी अन्ध-विश्वासने भारतकी बड़ी दुर्दशा की थी। उसीने भारतको पराधीन बनाया। इसीने सोनेके भारतको मिट्टीमें मिला दिया। परन्तु जबसे ये स्वाधीन हुआ है और यहाँके बड़े-बड़े लिडरोंने इस अन्धविश्वासके प्रति आन्दोलन करना शुरु किया है, तबसे देखिये न, भारतीय उद्योग-धन्धों और व्यापारमें तथा जनताके रहन-सहनके स्तरमें कितनी उन्नति हुई है।'

अभयचरण—'आपके दृष्टिकोणसे स्वाधीनता मिलनेके बादसे भारतकी तरक्की हुई होगी, परन्तु मेरा ख्याल तो कुछ और ही है। हाँ, नास्तिकताकी उन्नति अवश्य हुई है—इसमें सन्देह नहीं। और जहाँ तक जनताके रहन-सहनके स्तर तथा सुख-समृद्धिका प्रश्न है, मैं कहूँगा, स्वराज्य मिलनेके दस वर्ष पहले भारतीयोंको जो सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं, आज

स्वराज्य मिलनेके दस वर्ष बाद वे सुख–सुविधाएँ लोगोंको नसीब नहीं हैं। भौतिक उन्नति और तथाकथित स्वाधीनता स्थायी सुख–शान्तिके कारण नहीं है। आपके पाश्चात्य देशोंमें तो उद्योग–धन्धे बहुत दिनोंसे चालू हैं। अतः आप वहाँकी ही परिस्थितिका कुछ वर्णन करें।'

ब्राड—'पाश्चात्य देशोंमें ही क्यों, विश्वके प्रत्येक देशमें जहाँकी जनता ईसाई–धर्म या दूसरे–दूसरे धर्मोंके प्रति अपना विश्वास छोड़ने जा रही है, आर्थिक प्रगति जोरोंसे बढ़ रही है। मैं तो जोर देकर कहूँगा—धर्म–विश्वास जितना ही दूर होगा, विश्वमें उतनी ही जल्दी सुख और सम्पत्तिकी वृद्धि होगी। और जबतक यह अन्धविश्वास (भगवान् और धर्मके प्रति) जारी रहेगा, तब तक वैज्ञानिक और भौतिक विकाश नहीं हो सकता है। भगवाद् विश्वास दूर होनेसे विज्ञानकी उन्नति निश्चित है तथा विज्ञानकी उन्नतिके साथ–साथ मनुष्यकी सुख–सम्पत्ति बढ़ेगी ही। मेरा ख्याल तो यह है कि यदि धर्म–जगतसे अन्धविश्वासको दूर कर दिया जाय, तो उस पहलूमें भी कुछ वैज्ञानिक गवेषणा हो सकती है।'

अभयचरण—आपका यह कहना कि आप नास्तिक हैं एवं भगवानमें आपका कतई विश्वास नहीं हैं, बिलकुल गलत है। आप जिस विज्ञानकी बात कह रहे हैं, मैं भी उसी विज्ञानकी बात कह रहा हूँ। भगवत्–ज्ञान एक बड़ा ही रहस्यपूर्ण और पूर्ण–विज्ञान है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि भगवत् ज्ञान बड़ा ही रहस्यमय और सब प्रकारके विज्ञानोंसे युक्त है। उसके अनेक प्रकारके विभाग हैं। आपका भौतिक विज्ञान उसी भगवत् ज्ञानका एक विभाग मात्र है। भौतिक विज्ञान, भगवत् ज्ञान तक पहुँचनेका प्राथमिक सोपान मात्र है, भौतिक विज्ञानकी उन्नतिका तात्पर्य क्रमशः भगवानकी ओर आगे बढ़ना है। भगवद्गीतामें ज्ञानके सम्बन्धमें कहा गया है कि तत्त्वज्ञानकी उपलब्धि ही यथार्थ ज्ञान है और इसके अतिरिक्त सब कुछ अज्ञान है। दुनियाकी छोटी–से–छोटी वस्तुको ही ले लीजिए। आप उस वस्तुके विषयमें ज्ञान अर्जन करना चाहते है। आप उसके प्रत्येक पहलूपर गौरसे विचार करें, उसके प्रत्येक अंगका विश्लेषण करें, आपको उस वस्तु सम्बन्धी ज्ञानकी कोई सीमा नहीं दीख पड़ेगी। मेरे हाथकी फाउन्टेनपेनको ही लीजिए। यदि आप इसके सम्बन्धमें पूर्ण ज्ञान लाभ करना चाहते हैं, तो आपको वर्षों लग जायेंगे, फिर भी पूर्ण ज्ञान शायद ही हो। कलम बनानेकी बात मनुष्यके दिमागमें क्यों आई? कलमका सबसे पहले किसने आविष्कार किया? उसका परिचय क्या है? किन–किन चीजोंसे यह बनी है? वे चीजें कहाँ पायी जाती हैं? किन–किन देशोंमें इसके कारखाने हैं, उन एक–एक कारखानेका इतिहास क्या है? आदि अनेक प्रश्न आपके सामने खड़े हो जायेंगे, जिसके सम्बन्धमें आप हजारों पुस्तकें लिख सकेंगे। परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो यह सब ज्ञान नहीं—कोरा अज्ञान है। यथार्थ ज्ञान और यथार्थ विज्ञानकी तरक्की तभी सम्भव है, जब मानुषी समाजका दृष्टिकोण भौतिक विज्ञानसे हटकर तत्त्व वस्तुकी ओर स्थिर होगा। तत्त्व–वस्तु उस मूल वस्तुको कहते हैं, जो समस्त वस्तुओंका मूलाधार वस्तु है, अर्थात् जिस वस्तुसे सब वस्तुओंका जन्म होता है, जिस वस्तुमें सभी वस्तुएँ स्थित हैं और अन्तमें जिसमें सब कुछ लय हो जाता है। अतः विज्ञानकी प्रगति उधर ही होना स्वाभाविक है।

आजकल रूसमें विज्ञानकी बहुत कुछ उन्नति हो रही है। रूसी–वैज्ञानिकोंने जो स्पुटनिक–बालचन्द्र आविष्कार किया है, उससे हमारा भगवद्विश्वास और भी दृढ़ हो रहा है। यदि एक छोटेसे खिलौने जैसे चन्द्रका आविष्कार करने तथा विशाल आकाश मार्गमें घुमानेके लिए इतनी बड़ी विराट वैज्ञानिक

प्रक्रियाकी आवश्यकता है, तब आप ही अनुमान करे कि जो व्यक्ति अनन्त शून्यमें असली सूर्य, चन्द्र और तारे आदि अगणित ग्रह-नक्षत्रोंकी सृष्टि करके उनका नियमके अनुसार अपूर्व कुशलतासे संचालन कर रहा है, वह कितना बड़ा वैज्ञानिक है। यदि आप रूसी वैज्ञानिकोंको एक तुच्छ स्पुटनिक आविष्कारके लिए बधाई देते हैं, तो इस पूर्ण वैज्ञानिकको बधाई देनेमें आपको आपत्ति क्यों है? भगवानको मान्यता देना और कुछ नहीं, उनकी अघटन-घटन-पटीयसी शक्तिके कार्योंको देखकर वह मुझसे कितने बड़े हैं, बस इताना ही स्वीकार कर लेना है। यदि आप भगवानको स्वीकार लेंगे, तो आपका भौतिक और पारमार्थिक ज्ञान-विज्ञान धीरे-धीरे सरल ओर सहज रूपसे उन्नत होता जायेगा।'

ब्राड—'यदि कोई मुझे वैज्ञानिक ढंगसे भगवानका ज्ञान समझा दे और वैज्ञानिक रीतिसे यह समझा दे कि भगवान हैं, तो शायद मैं भी अपना विचार पलट दूँ।'

अभयचरण—यदि आप वैज्ञानिक ढ़ंगसे भगवानका ज्ञान समझना चाहते हैं, तो आपको भगवत्-तत्त्व-सम्बन्धी वैज्ञानिकोंके पास जाना पड़ेगा। किसी भी विज्ञानके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनेके लिए उस विषयके विशेषज्ञोंके निकट शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य है। चिकित्सा विज्ञानके लिये चिकित्सा सम्बन्धी विशेषज्ञके पास, इंजिनियरिंग विज्ञानके लिए इंजिनियरिंग-सम्बन्धी विशेषज्ञके निकट शिक्षा ग्रहण करना जिस प्रकार अनिवार्य है, उसी प्रकार भगवद् विज्ञानका रहस्य जानने लिये भगवद् तत्त्वविदोंके निकट तत्त्वज्ञानकी शिक्षा लेनी आवश्यक है। सन्देहवाद और नास्तिक्यवाद जो आजकल इतनी शीघ्रतासे फैलता जा रहा है, इसका प्रधान कारण भगवद् वैज्ञानिकोंका अभाव है, भगवत्-ज्ञानके विषयमें विफल मनोरथ होनेके कारण ही नास्तिक्यवादका प्रचार-प्रसार अधिक बढ़ रहा है।

सन् १९१४ के महायुद्धमें जर्मनीमें बहुतसे लोग नास्तिक हो गए। उस महायुद्धमें जर्मनीका एक भी घर ऐसा अछूता न बचा था, जिस घरका एक या दो व्यक्ति युद्धमें शामिल न हुआ हो। प्रत्येक सैनिकके घरवालोंने गिरजाघरों या मन्दिरोंमें जाकर भगवानसे प्रार्थना की कि मेरा बेटा अथवा पति या भाई युद्धसे वापस लौट आवे। परन्तु बात कुछ और हुई। अधिकांश लोग युद्धक्षेत्रसे नहीं लौटे। युद्ध समाप्त हो गया, फिर भी वे लौटे नहीं। घरवाले रोते-पीटते रह गये पर उन्हें शान्ति न मिली। उन लोगोंने मन-ही-मन ठीक किया कि परमेश्वर है ही नहीं। यदि परमेश्वर होता तो वह उनकी प्रार्थनाएँ अवश्य सुनता। अतः अधिकांश लोग नास्तिक हो गये।

ऐसे लोग अक्सर भूल जाते हैं कि भगवान परम स्वतन्त्र हैं। वे किसीके नौकर या खानसामा नहीं। उनके विचारसे भगवान एक प्रकारसे हुकुम तामिल करनेवाला अर्दली है, जिसे जब जी चाहे, अपने प्रकारसे मनके मुताबिक काम करवा सकते हैं और वह उसी प्रकार उनके मनके मुताबिक हुकुम तामील करनेके लिए बाध्य है। इस प्रकारका भगवत्-ज्ञान तो और कुछ है।

भगवत्-ज्ञानके सम्बन्धमें युक्ति, तर्क और जड़ विज्ञानकी प्रतिष्ठा नहीं है। हाँ, ये कुछ दूर तक उसके साथ दौड़नेका प्रयत्न अवश्य करते हैं, पर हार कर पीछे लौट आते हैं। तर्क-वितर्कसे भगवत्-ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्व-पूर्वके महाजनोंने जिस मार्गसे चलकर भगवनाको समझा है—उनका साक्षात्कार किया है, उसी मार्गपर चलकर

हम लोग भी उसे प्राप्त कर सकते हैं। अन्यथा विफल मनोरथ होकर हमें भी एक दिन नास्तिक बनना पड़ेगा। सन्देहवाद या नास्तिक्यवादसे आजतक मानव जातिका न तो कोई उपकार हुआ है और न कभी होनेको है। आपको समझना चाहिए कि बिना कारणके कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। अतः इस सुन्दर और विशाल जगत्‌की रचनामें, उसकी स्थितिमें और उसके ध्वंसमें अवश्य ही कोई कारण है, वही है हमारे भगवान्‌! वैज्ञानिक मोड़ उन्हींकी तरफ होना चाहिए।

यदि मनुष्य समाज इस मूल–कारणका अनुसन्धान करनेका प्रयत्न करता, तो वह अवश्य ही नास्तिक्यवादके गड्ढेमें नहीं गिरता। मनुष्यको किसी विषयमें संदेह होना स्वाभाविक है। परन्तु संदेह होनेका तात्पर्य यह नहीं कि हम ऐसा सिद्धान्त कर लें कि भगवान है ही नहीं। बल्कि संदेह पैदा होते ही सत्यानुसन्धानी व्यक्तिको चाहिए कि वह भगवत् साक्षात्कार किऐ हुए तत्त्वज्ञानीके निकट जाकर प्रणिपात आदि द्वारा उनकी सेवाकर उनसे ज्ञानके सम्बन्धमें जिज्ञासा करे। ऐसा होनपर वे तत्त्वज्ञानका उपदेश कर नास्तिक होनेसे बचा लेंगे।

ब्राड—'जो भगवानका हममें प्रकृतिसे अतीत किसी कारण या तत्त्वके प्रति विश्वास ला देता है, मैं तो उसीको धर्म–विश्वास अथवा भगवद् विश्वासका आधार मानता हूँ। अद्वैतवादमें मेरी आस्था है, क्योंकि जगतमें जो भी दृश्यमान और अदृश्यमान वस्तुएँ हैं तथा जो कुछ पहले हो गया है या होनेवाला है सबका समुदाय ही प्रकृति है। जगतके सभी धर्म क्रमानुसार परिवर्तनशील हैं। जो व्यक्ति जिस समय जिस धर्मको मानता है, उस समय अपनी सांस्कृतिक उन्नतिके साथ–साथ अपनी धर्म–पद्धतिको भी उन्नत करनेमें प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार प्रगतिशील समाजमें धर्म–भावना बदलती रहती है। अतः भगवान सम्बन्धी भावनाएँ भी समयानुसार बदलती रहती हैं। परम्परासे चलते आ रहे धर्म–पथको अकस्मात त्याग देनेको कोई भी तैयार नहीं होता। परन्तु प्रगतिके साथ समय आनेपर वह धर्मके प्रति अन्ध–विश्वासको छोड़ देनेके लिए बाध्य होता है। प्रगतिशील व्यक्तियों द्वारा त्यक्त धर्म लुप्तप्राय हो जाता है। इस प्रकार नश्वर और परिवर्तनशील धर्मभाव अंततक केवल धार्मिक उत्सव, लौकिक व्यवहार तथा मनोरंजनके साधन भरके रूपमें अवशिष्ट रहते हैं। उनमें तात्त्विक अथवा वैज्ञानिक भाव रत्तीभर भी नहीं रहता। पौराणिक आख्यान 'अन्धेर नगरी चौपट राजा', जैसी कहानियोंके रूपमें ही बचे रहते हैं। सच पूछिये तो धार्मिक–तत्त्व लड़कों अथव सरल स्त्रियोंको ही रुचिप्रद होता होगा; बुद्धिमान मनुष्य ऐसे–ऐसे धार्मिक प्रपंचोंमें शामिल होना पसंद नहीं करते।'

अभयचरण—'आप प्रकृतिसे परे कोई अप्राकृत कारण मानते हैं?'

ब्राड—'क्यों नहीं; अवश्य मानता हूँ।'

अभयचरण—'तब आपको उसके साथ–ही–साथ यह भी मानना पड़ेगा कि आपकी प्राकृत इन्द्रियाँ उस अप्राकृत कारण अर्थात् उस विषयमें काम नहीं कर सकती हैं। आप पूछेंगे क्यों? इसका उत्तर यह है कि प्रस्तुत ज्ञान–संग्रह करनेके लिए हमारे पास जो औजार (इन्द्रियाँ) हैं, वे प्राकृत हैं, उनमें भौतिक द्रव्योंका समावेश है। उनके द्वारा अप्राकृत तत्त्व–वस्तुका ज्ञान उपलब्ध करना सम्भव नहीं। प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा व्यक्तिगत चेष्टासे कुछ प्राप्त करनेको आरोह मार्ग अर्थात् Inductive Process कहते हैं। आरोह मार्ग द्वारा केवल प्राकृत ज्ञान ही प्राप्त किया जा सकता है। अप्राकृत ज्ञान तक उसकी पहुँच नहीं है। प्रकृतिसे परेकी वस्तुओंका

ज्ञान एक मात्र अवरोह उपाय द्वारा अर्थात् Deductive Process द्वारा ही सम्भव है। मनुष्यमात्र मरणशील है। मातादीन एक मनुष्य है। अतः मातादीन अवश्य ही मरेगा। यदि कोई कुतर्क करे कि 'मनुष्य मरणशील नहीं है', तो उसको आरोह उपायसे अर्थात् साधारण प्राकृत ज्ञानसे प्रमाणित करना होगा कि ऐसे भी मनुष्य हैं जो मरते नहीं है और उसे उस मनुष्यको प्रमाणस्वरूप दिखलाना पड़ेगा। परन्तु ऐसा कदापि सम्भव नहीं है। परन्तु दुनियाके इतिहासमें अथवा परम्परासे सुनते आ रहे ज्ञानवृद्ध पुरुषोंकी बातोंसे अनायास ही जाना जा सकता है कि 'मनुष्य मात्र मरणशील है।' अतः मातादीन मनुष्य होनेके नाते अवश्य-अवश्य मरेगा—यह बात आपको माननी ही पड़ेगी। इसे 'अवरोह पथ' कहते हैं। अतएव अवरोह पथमें नम्रतापूर्वक जिज्ञासाकी भावनासे परिप्रश्न द्वारा अप्राकृत ज्ञान प्राप्त होता है। यदि कोई अँधेरी रातमें सूर्यको देखना चाहे, तो वह नहीं देख सकता। यह बिलकुल असम्भव बात है। भौतिक विज्ञान भी रातमें सूर्यको उगा नहीं सकता। परन्तु प्रातःकालमें जब सूर्य अपने नियमके अनुसार पूर्व दिशामें उदित होगा, उसी समय उसे देखा जा सकता है। साथ ही सूर्यके प्रकाश द्वारा अपनेको तथा दूसरी-दूसरी वस्तुओंको भी देखा जा सकता है। सूर्य, जैसे बहुत दूर रहते हुए भी अपनी किरणों द्वारा हमें प्रकाश और धूप दान करता है, उसी प्रकार अप्राकृत तत्त्व-वस्तु प्रकृतिसे परे होकर भी कृपा करके अपनी रश्मि भेजकर अर्थात् अप्राकृत ज्ञानसे हमें समृद्ध कर सकती है। ऐसे अप्राकृत ज्ञानमें जिसका अधिकार नहीं है, वह भगवत् ज्ञानरूप तत्त्व-ज्ञानके सम्बन्धमें अवश्य ही सन्देहवादी रहेगा। सन्देहवादी नास्तिकोंका धर्मानुशीलन एक प्रकारकी कपटता है। उससे कुछ भी लाभ नहीं।'

ब्राड—'मैं तो आपसे पहले ही निवेदन कर चुका हुँ कि प्रकृतिके पार भी यदि कोई वस्तु है, तो वह भी प्रकृतिके अन्तर्गत है। आप जिसे अप्राकृत वस्तु कह रहे हैं, क्या वह प्राकृत नहीं है? मैं आपको पुनः याद दिलाना चाहता हूँ कि मै अद्वैतवादी हूँ।'

अभयचरण—'आप अद्वैतवादी हैं, यह मुझे अच्छी तरह याद है। हम लोग अद्वैतवादका समर्थन करते हैं। हम लोग अद्वैतवादी नहीं, परन्तु अद्वयज्ञानवादी अर्थात् अचिन्त्यभेदाभेदवादी हैं। किन्तु आपका प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान ठीक नहीं है। धूम और अग्नि एक साथ रहनेपर भी दोनों एक नहीं हैं। जड़ा प्रकृति अर्थात् अपरा प्रकृति। अपरा प्रकृति धूमके समान अज्ञान-रूपिणी है तथा परा प्रकृति अग्निके समान तेजोमय तथा प्रकाशमय ज्ञानरूपिणी है। प्रज्ज्वलित अग्निमें जैसे धूमका कोई स्थान नहीं होता, उसी प्रकार परा प्रकृतिमें अपरा प्रकृतिका कोई स्थान नहीं हैं अर्थात् दोनों एक नहीं हैं, फिर भी परा प्रकृति ही अपरा प्रकृतिका मूलाधार है। प्रकृतिका पुरुषसे नित्य सम्बन्ध है। पुरुषको बिना समझे हुए आपका प्रकृतिका ज्ञान असम्पूर्ण है। पुरुषका प्रकृतिके साथ क्या सम्बन्ध है? पुरुष कौन है? यह समझना ही ज्ञानका यथार्थ परिचय है। जड़ और चेतन एक वस्तु नहीं हैं। प्रकृति जड़ है, परन्तु पुरुष चेतन है। जड़ चेतनसे स्वतन्त्र नहीं, अर्थात् मूल चेतनके बिना जड़ वस्तुओंका कोई अस्तित्व नहीं स्वीकृत हो सकता है। किन्तु जड़ कभी चेतन नहीं है। इसीका नाम है—शुद्ध अद्वैतवाद अथवा अद्वय-ज्ञानवाद। अद्वयज्ञानी प्रकृति एवं पुरुषको पृथक-पृथक मानकर, प्रकृति और पुरुषका परस्पर आदान-प्रदान कैसे होता है—इसे समझनेका प्रयत्न करते हैं। अद्वैतवाद तथा अद्वयज्ञान

प्रायः एक–सा दीख पड़नेपर भी एक नहीं है। आप लोग अद्वयज्ञानकी विचित्रताको स्वीकार नहीं करते। सन्देहवादको शान्ति नहीं मिलती। आप यदि सन्देहवादीको परित्यागकर शुद्ध –अद्वैत ज्ञान अर्थात् अचिन्त्य द्वैताद्वैत ज्ञानका अनुसन्धान करें तो आप अवश्य आनन्द प्राप्त करेंगे।'

ब्राड—'मेरा ख्याल है, अभी द्वैत–अद्वैतके चक्करमें न पड़कर मनुष्य–समाजकी धार्मिक परिस्थितिके सम्बन्धमें कुछ विवेचन होना आवश्यक है।'

अभयचरण—'साधारणतः धर्म दो प्रकारका है—एक नित्य–धर्म और दूसरा नैमित्तिक धर्म। जो धर्म कभी बदलता नहीं, उसे नित्यधर्म कहते हैं। परन्तु जो धर्म सब समय बदलता रहता है, उसे नैमित्तिक धर्म कहते हैं। आप जिस धर्मके सम्बन्धमें पहले कह आये हैं, वह बदलनेवाला नैमित्तिक धर्म है। हिन्दू धर्म, मुसलमानी धर्म, इसाई धर्म आदि धर्म समूह नैमित्तिक धर्म हैं। नैमित्तिक धर्म देश, काल और पात्रके अनुसार भिन्न–भिन्न होते हैं तथा परिवर्तनशील परिस्थितियोंके साथ बदलते रहते हैं। कल बहुतसे हिन्दू मुसलमान बन गए, बौद्ध बन गए, ईसाई हो गए, फिर मुसलमान हिन्दू बने, ईसाई और बौद्ध हिन्दू हुए और पुनः हिन्दू बौद्ध बने। मैं हिन्दुस्तानमें पैदा होनेके कारण हिन्दू हूँ। इसी प्रकार तुर्की, पारसी तथा ईसाई भाई भी हैं। आज देश विभागके कारण एक हिन्दुस्तानी कहलाता है तो दूसरा पाकिस्तानी कहलाता है। हिन्दुस्तानमें रहनेवाले मुसलमान अब भी हिन्दुस्तानी हैं; और पाकिस्तानमें रहनेवाले हिन्दू भी पाकिस्तानी हैं। परन्तु देशका विभाजन धर्मके आधार पर ही हुआ था। अतः बदलनेवाला नैमित्तिक धर्मका दूसरा नाम जड़–धर्म है तथा नित्य धर्मका दूसरा नाम आत्म–धर्म है। आत्मधर्म सर्वदा एक रहता है। जब हम आत्म–धर्ममें प्रतिष्ठित हो जायेंगे, तब हमारे मिलनमें कोई रुकावट नहीं रह जायेगी। विश्वके समस्त प्राणियोंका आत्मधर्म एक है। इसकी उपलब्धि होनेपर मिलनके मार्गमें कोई विघ्न–बाधा आ ही कैसे सकती है? ❑

त्रियुग–धर्म और कृष्ण–नामका कीर्तन

कलियुगमें कीर्तन–विधि और उसका व्यभिचार

कलिकालमें द्वापर–युग की अर्चना–पूजा नहीं हो सकती; कलिकालमें तो श्रीनामके द्वारा भगवान् की अर्चना होगी, अर्थात् कलिकालमें श्रीनाम कीर्तनके द्वारा विष्णुका अनुशीलन होगा। किन्तु कलियुगमें जिस प्रकार सात्वतगण–याजित द्वापर की अर्चना–प्रणालीका व्यभिचार करके हम पेट–पूजा करनेके लिए 'देवल' हो पड़ते हैं, कलियुगके बढ़ने पर भी उसी प्रकार व्यभिचारमें अवस्थित होकर हम नाम–विक्रयी (नामको बेचनेवाले) हो जाते हैं। हम ग्रन्थ पढ़ते हैं, ग्रन्थ प्रकाशित करते हैं, जिसका उद्देश्य होता है काञ्चन, कामिनी और प्रतिष्ठाका संग्रह करना। हम 'नाम' (?) का उच्चारण करके धन लेते हैं, पेट भरते हैं; हम लोग हरि–कीर्तन करते हैं, पर उसका उद्देश्य कीर्तन नहीं, हरि की सेवा नहीं, इन्द्रियोंकी तृप्ति या भोग ही होता है। हम अगर और काममें अधिक धन पाते हैं, अधिकतर प्रतिष्ठा पाते हैं, तो कीर्तन छोड़कर अन्य कार्य करनेको तैयार हो जाते हैं, यदि कोई कहे कि "भागवत पाठ करके धन न पाओगे" तो हम भागवतका पाठ छोड़ देते हैं। तब हम कहते

हैं—"भागवत कुछ दूध नहीं देता।" यदि कोई कहे कि "कीर्तन करनेसे द्रव्य नहीं पाओगे, मन्त्रसे पैसा नहीं पाओगे, वक्तृता देकर धन नहीं पाओगे" तो हम लोगोंके द्वार पर कीर्तन करना छोड़ देते हैं, मन्त्र देनेका रोजगार छोड़ देते हैं, भाषण देना बंद कर देते हैं। कनक, कामिनी या प्रतिष्ठा नहीं पाने पर हमारा कपट-सेवाका अभिनय बंद हो जाता है। अतएव हम लोगोंका हरिनाम-कीर्तन (?), हमारा भागवत-पाठ (?) या भाषण जो कुछ है, उसका उद्देश्य कलियुगके सहचर कनक, कामिनी, प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति ही हुआ करती है। अतएव ये सब अभिनय कदापि नाम-कीर्तन, भागवत-पाठ या भाषण नहीं हैं। ये सब चेष्टाएँ नामापराध हैं, ये सब चेष्टाएँ रोजगार या वणिक् वृत्तिमात्र हैं। वणिक्-वृत्ति कभी सेवा नहीं है—"न स भृत्यः स वै वणिक्।" ठाकुरजीके दर्शन करके अगर कोई भेंट न चढ़ावे तो मैं ठाकुरजीकी पूजा छोड़ देता हूँ। अपने उदर-भरणके लिए ही तो मैं ठाकुर-पूजा (?), भागवत-पाठ (?), या नाम-कीर्तन करता हूँ?

किन्तु महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके समयमें इस प्रकारके कार्य प्रचलित नहीं थे। महाप्रभु और उनके पार्षदगणने इस तरहका निन्दनीय नीच व्यवसाय नहीं किया। आगे चलकर लोग भागवत-विक्रय, मंत्र-विक्रय या नाम-विक्रय करनेवाले हों, अर्थात् साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन स्वरूप भागवतके द्वारा, साक्षात् नामी कृष्णस्वरूपसे अभिन्न श्रीनामके द्वारा और साक्षात् सच्चिदानन्द भगवत्स्वरूप श्रीभगवन्मूर्तिको खड़ा करके उसके द्वारा स्व इन्द्रिय-तर्पणरूप सेवा करा लें, इस घृणित उद्देश्यसे श्रीगौरसुन्दर, श्रीनित्यानन्द, श्रीअद्वैत महाप्रभु, नामाचार्य ठाकुर श्रीहरिदास अथवा गोस्वामियोंने कभी जगत्में हरिनामका प्रचार या भागवत कथाका कीर्तन नहीं किया और न किसीको ऐसा करने की शिक्षा दी।

ध्यान, यज्ञ, अर्चन और कीर्तनका व्यभिचार

प्रत्येक व्यक्ति विशेषके जीवनमें चार युगोंका कृत्य अर्थात् ध्यान, यज्ञ, परिचर्या और कीर्तन न्यूनाधिक परिमाणमें उदित हुआ करता है। जब जीव आत्मवृतिके अनुशीलन द्वारा विशुद्ध हरि-सेवामें उन्मुख होता है, तभी ये सब कृत्य उसके जीवनमें शुद्धभावसे प्रकाशित होते हैं। किन्तु जब जीव मनोधर्मसे अभिभूत रहता है, तब उस-उस साधन-प्रणालीका भी व्यभिचार दिखाई पड़ता है। मनोधर्मके वशीभूत होकर हम इन्द्रिय-ग्राह्य विषयका ही 'ध्यान' करते हैं, इन्द्रियोंके भोगाग्निमें आहुति देनेको ही हम 'यज्ञकार्य' समझ लेते हैं, श्रीमूर्तिके निकट नैवेद्य देनेके समय मन-ही-मन यही सोचते हैं कि यह सब सामान कब अपने घर ले जाकर स्त्री, पुत्र आदि आत्मीय स्वजनोंको दूँगा और स्वयं भी इसका उपभोग करूँगा, कीर्तन करनेके समय सुर-तान-लय मानके अहंकारमें आबद्ध रहकर सोचते हैं—कैसे मेरा कीर्तन श्रोताओंके चित्तके अनुकूल होगा, उनके कानोंको भला लगेगा इत्यादि। उस समय भगवान् हमारे स्मृतिपथसे दूर चले जाते हैं—हम कृष्णके कानोंको प्रसन्न करनेके बदले साधारण लोगोंके जड़ कानोंको प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं; तब हमारे कीर्तनसे कृष्णेन्द्रिय-तर्पण नहीं होता, आत्मेन्द्रिय-तर्पण ही होता है, अर्थात् कामाग्निमें ही ईंधन डाला जाता है।

कलिकालमें ध्यान, यज्ञ और अर्चनमें विघ्न

कलिकालमें विक्षिप्त चित्तसे ध्यान करना असंभव है। मैं विक्षिप्त या चञ्चल चित्तको प्रत्याहार आदिके द्वारा संयत करके फिर ध्यान करूँगा—ऐसी आशा करना भी निष्फल है। कारण, मनोधर्म-युक्त जीवके व्यवहित ध्यान द्वारा नित्य वास्तव चित्-विग्रह का ध्यान हो ही नहीं सकता। मनोधर्मका अनुष्ठित

ध्यान 'ध्यान' नहीं है। निर्मल आत्मवृतिके द्वारा ही ध्यान संभव है। कलिकालमें यज्ञ–विधि की संभावना भी नहीं है। कारण, यज्ञ करनेमें बहुत सामग्री और बहुत समय चाहिये। कलियुगमें जीवकी परमायु बहुत थोड़ी है। उसे इन्हींके संग्रहमें नष्ट करनेका समय नहीं है। कलिकालमें दुर्बल जीवके लिए अच्छी तरह परिचर्या करना भी संभव नहीं। परिचर्या करना आरंभ करके कुछ देर आसनमें बैठते ही पीठ की हड्डी दर्द करने लगती है। खासकर अनेक स्थलोंमें और अनेक समय काल, स्थान, पात्र और नैवेद्य आदि की शुद्धि अशुद्धिका विचार करना संभव नहीं। परन्तु शौच अशौच आदिका विचार करना परिचर्याके समय विशेष आवश्यक माना गया है। काल अकालका विचार करना भी आवश्यक है।

कृष्ण–कीर्तनमें स्थान–काल–पात्रके विचार की अपेक्षा नहीं

किन्तु हरिनामके कीर्तनमें स्थान–अस्थान, काल–अकाल और पात्र–अपात्रका विचार नहीं है, जैसा कि चैतन्य भागवतमें लिखा है—

खाते सोते जहाँ चाहो नाम लो।
देश–काल नियम नहीं सर्वसिद्धि हो।।
भोजन, शयन, जागरण माहीं।
ध्याओ कृष्ण कहो, भय नाहीं।।

यहाँ तक कि मल–मूत्रादिके त्याग करते समय भी श्रीहरिनाम लिया जा सकता है। बाहरी सब क्रियाएँ तो अभ्याससे स्वयं हुआ करती हैं। हरिनाम लेनेमें कोई बाधा नहीं है। सोते समय, जागते समय हम हरिका नाम ले सकते हैं। ऊँचे या नीचे कुलमें उत्पन्न होकर भी चाहे जिस अवस्थामें हरिका नाम लिया जा सकता है। शूद्र, अन्त्यज, म्लेच्छ, स्त्री, पुरुष, बालक, जवान, बूढ़े, सभी हरिनाम लेनेके अधिकारी हैं। निर्जनमें हरिनाम लिया जाता है, शोर–गुल हुल्लड़में हरिनाम लिया जाता है, अकेले हरिनाम लिया जाता है, बहुत लोगोंके साथ मिलकर हरिनाम लिया जाता है। हेला या श्रद्धासे भी हरिनाम लिया जाता है। ❑

वैष्णव व्रत तालिका

१७ फाल्गुन २ मार्च मंगलवार	होली, पूर्णिमा, श्रीगौर जयन्तीका उपवास, महाभिषेक एवं संकीर्तन महोत्सव, श्रीश्रीराधाकृष्णकी दोलयात्रा, ५१३ गौराब्द प्रारम्भ, अगले दिन ९–५३ से पहले पारण।
२८ फाल्गुन १३ मार्च शनिवार	पापमोचनी एकादशी व्रत, अगले दिन ९–२३ के पश्चाद् ९–४८ से पहले पारण।
२ चैत्र १७ मार्च बुधवार	अमावस्या।
७ चैत्र २२ मार्च सोमवार	श्रीरामानुजाचार्यजीका आविर्भाव।
११ चैत्र २६ मार्च शुक्रवार	श्रीरामनवमी व्रत, अगले दिन ९–४१ से पहले पारण।
१२ चैत्र २७ मार्च शनिवार	कामदा एकादशी व्रत, अगले दिन ८–२८के पश्चाद् ९–४० से पहले पारण।
१६ चैत्र ३१ मार्च बुधवार	पूर्णिमा।